आमुख

"यह पुस्तक रास्ते में पढ़ने लायक है।"—कहते हुए जोहान्सबर्ग स्टेशन पर पोलक ने रस्किन की 'अनटू दिस लास्ट' पुस्तक गांधी के हाथ में रख दी।

और, इस पुस्तक ने जादू कर दिया गांधी पर! इसने उनके जीवन की धारा ही पलट दी। आत्मकथा में लिखा उन्होंने—"इसे हाथ में लेने के बाद मैं छोड़ ही न सका। इसने मुझे जकड़ लिया। ट्रेन शाम को डरबन पहुँची। सारी रात मुझे नींद नहीं आयी। पुस्तक में दिये गये आदर्शों के साँचे में अपने जीवन को ढालने का मैंने निश्चय कर लिया। जिस पुस्तक ने मुझ पर तत्काल असर डाला और मुझमें महत्त्वपूर्ण ठोस परिवर्तन किया, ऐसी तो यही एक पुस्तक है।

"मेरा विश्वास है कि मेरे हृदय के गहनतम प्रदेश में जो भावनाएँ छिपी पड़ी थीं, उनका स्पष्ट प्रतिबिम्ब मैंने रस्किन के इस ग्रन्थरत्न में देखा और इसीलिए उन्होंने मुझे अभिभूत कर जीवन परिवर्तित करने के लिए विवश कर दिया।

"रस्किन ने अपनी इस पुस्तक में मुख्यतः ये तीन बातें बतायी हैं :

१. व्यक्ति का श्रेय समष्टि के श्रेय में ही निहित है।

२. वकील का काम हो, चाहे नाई का; दोनों का मूल्य समान ही है। कारण, प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यवसाय द्वारा अपनी आजीविका चलाने का समान अधिकार है।

३. मजदूर, किसान अथवा कारीगर का जीवन ही सच्चा और सर्वोत्कृष्ट जीवन है।

"पहली बात मैं जानता था, दूसरी बात धुंधले रूप में मेरे सामने थी, पर तीसरी बात का तो मैंने विचार ही नहीं किया था। 'अनटू दिस लास्ट' पुस्तक ने सूर्य के प्रकाश की भाँति मेरे समक्ष यह बात स्पष्ट कर दी कि पहली बात में ही दूसरी और तीसरी बातें भी समायी हुई हैं।"

* * *

हाँ तो, बाइबिल की एक कहानी के आधार पर है रस्किन की इस पुस्तक का नाम 'अनटू दिस लास्ट'। इसका अर्थ होता है—'इस अन्तवाले को भी!'

अंगूर के एक बगीचे के मालिक ने एक दिन सवेरे अपने यहाँ काम करने के लिए कुछ मजदूर रखे। मजदूरी तय हुई—एक पेनी रोज।

दोपहर को वह मजदूरों के अड्डे पर फिर गया। देखा, वहाँ उस समय भी कुछ मजदूर खड़े हैं—काम के अभाव में। उसने उन्हें भी अपने यहाँ काम पर लगा दिया।

तीसरे पहर और शाम को फिर उसे कुछ बेकार मजदूर दिखे। उन्हें भी उसने काम पर लगा दिया।

काम समाप्त होने पर उसने मुनीम से कहा कि "मजदूरो को मजदूरी दे दो। जो लोग सबसे अन्त में आये हैं, उन्हींसे मजदूरी बाँटना शुरू करो।"

मुनीम ने हर मजदूर को एक-एक पेनी दे दी।

सबेरे से आनेवाले मजदूर सोच रहे थे कि शाम को आनेवालो को जब एक-एक पेनी मिल रही है, तो हमें उनसे ज्यादा मिलेगी ही, पर जब उन्हें भी एक ही पेनी मिली तो मालिक से उन्होंने शिकायत की कि "यह क्या कि जिन लोगो ने सिर्फ एक घण्टे काम किया, उन्हें भी एक पेनी और हमें भी एक ही पेनी—जो दिनभर धूप में काम करते रहे!"

मालिक बोला: "भाई मेरे, मैंने तुम्हारे प्रति कोई अन्याय तो किया नहीं। तुमने एक पेनी रोज पर काम करना मंजूर किया था न? तब अपनी मजदूरी लो और घर जाओ। मेरी बात मुझ पर छोड़ो। मैं अन्तवाले को भी उतनी ही मजदूरी दूँगा, जितनी तुम्हें। अपनी चीज अपनी इच्छा के अनुसार खर्च करने का मुझे अधिकार है न? किसीके प्रति मैं अच्छा व्यवहार करता हूँ, तो इसका तुम्हें दुःख क्यों हो रहा है?"†

* * *

सुबहवाले को जितना, शामवाले को भी उतना—यह बात सुनने में अटपटी भले ही लगे, कुछ लोग इस पर—'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा'—की फबती कस सकते हैं, परन्तु इसमें मानवता का, समानता का, अद्वैत का वह तत्त्व समाया हुआ है, जिस पर 'सर्वोदय' का विशाल प्रासाद खड़ा है।

---

† Friend, I do thee no wrong: didst not thou agree with me for a penny? Take that thine is, and go thy way. I will give unto this last even as unto thee. Is it not lawful for me to do what I will with mine own? Is thine eye evil, because I am good?

—St. Matthew 20.

'सर्वोदय' आखिर है क्या ?---सबका उदय, सबका उत्कर्ष, सबका विकास ही तो सर्वोदय है। भारत का तो यह परम पुरातन आदर्श ठहरा :

सर्वेऽपि सुखिन सन्तु सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दु खमाप्नुयात्॥

ऋषियों की यह तपःपूत वाणी भिन्न-भिन्न रूपों में हमारे यहाँ मुखरित होती रही है। जैनाचार्य समंतभद्र कहते हैं :

'सर्वापदामन्तकर निरन्त सर्वोदय तीर्थमिद तवैव।'

पर सबका उदय, सबका कल्याण दाल-भात का कौर नहीं है। कुछ लोगों का उदय हो सकता है, बहुत लोगो का उदय हो सकता है, पर सब लोगों का भी उदय हो सकता है---यह बात लोगो के मस्तिष्क में धँसती ही नहीं ! बड़े-बड़े विद्वान, बड़े-बड़े सिद्धान्तशास्त्री इस स्थान पर पहुँचकर अटक जाते हैं। कहते हैं : "होना तो अवश्य ऐसा चाहिए कि शत प्रतिशत का उदय हो, मानव-मात्र का कल्याण हो, हर व्यक्ति का विकास हो, पर यह व्यवहार्य नहीं है। सर्वोदय आदर्श हो सकता है, व्यवहार में उसका विनियोग सम्भव ही नहीं है।"

और यहीं पर सर्वोदयवादियो का अन्य सिद्धान्तवादियों से विरोध है।

सर्वोदय मानता है कि सबका उदय कोरा स्वप्न, कोरा आदर्श नहीं है, यह आदर्श व्यवहार्य है, यह अमल में लाया जा सकता है। सर्वोदय का आदर्श ऊँचा है, यह ठीक है; परन्तु न तो वह अप्राप्य है और न असाध्य है। वह प्रयत्नसाध्य है।

* * *

सर्वोदय का आदर्श है---अद्वैत और उसकी नीति है---समन्वय। मानवकृत विषमता का वह निराकरण करना चाहता है और प्राकृतिक विषमता को घटाना चाहता है।

सर्वोदय की दृष्टि से जीवन विज्ञान भी है, कला भी। जीवमात्र के लिए, प्राणिमात्र के लिए समादर, प्रत्येक के प्रति सहानुभति ही सर्वोदय का मार्ग है। जीव-मात्र के लिए सहानुभूति का यह अमृत जब जीवन में प्रवाहित होता है, तो सर्वोदय की लता में सुरभिपूर्ण सुमन खिल उठते हैं।

डार्विन मात्स्यन्याय (Survival of the fittest) की बात कहकर रुक गया। उसने प्रकृति का नियम बताया कि बड़ी मछली छोटी मछलियों को खाकर ही जीवित रहती है।

हक्सले एक कदम आगे बढ़ा। वह कहता है कि 'जिओ और जीने दो'---(Live and let live)

पर इतने से ही काम चलनेवाला नही। सर्वोदय कहता है कि तुम दूसरों को जिलाने के लिए जिओ। तुम मुझे जिलाने के लिए जिओ, मैं तुम्हें जिलाने के लिए जिऊँ। तभी, और केवल तभी सबका जीवन सम्पन्न होगा, सबका उदय होगा, सर्वोदय होगा।

दूसरो को अपना बनाने के लिए प्रेम का विस्तार करना होगा, अहिंसा का विकास करना होगा और आज के सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन करना होगा। सर्वोदय समाज-निरपेक्ष, शाश्वत और व्यापक मूल्यो की स्थापना करना चाहता है और बाधक मूल्यो का निराकरण। यह कार्य न तो विज्ञान द्वारा सम्भव है और न सत्ता द्वारा।

सर्वोदय ऐसे वर्ग-विहीन, जाति-विहीन और शोषण-विहीन समाज की स्थापना करना चाहता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और समूह को अपने सर्वाङ्गीण विकास के साधन और अवसर मिलेंगे। अहिंसा और सत्य द्वारा ही यह क्रान्ति सम्भव है। सर्वोदय इसीका प्रतिपादन करता है।

* * *

आज तीन प्रकार की सत्ताएँ चल रही हैं—शस्त्र-सत्ता, धन-सत्ता और राज्य-सता। परन्तु जागतिक स्थिति ऐसी हो गयी है कि इन तीनो सत्ताओ पर से लोगों का विश्वास उठता जा रहा है। आज सभी लोग किसी अन्य मानवीय शक्ति की खोज में हैं और वह मानवीय शक्ति सर्वोदय के माध्यम से ही विकासित हो सकती है।

सर्वोदय की पृष्ठभूमि आध्यात्मिक है। विज्ञान में ऐसी बात नहीं। विज्ञान अपने आविष्कारो से जनता को अनेक सुविधाएँ प्रदान कर सकता है। वह भौतिक सुखो की व्यवस्था कर सकता है, बटन दबाकर हवा दे सकता है, प्रकाश दे सकता है, रेडियो का संगीत सुना सकता है, पर उसमें यह क्षमता नहीं कि वह मानव का नैतिक स्तर ऊपर उठा दे। विज्ञान वेश्या-वृत्ति का निराकरण कर सकता है, उसके निराकरण के साधन प्रस्तुत कर सकता है, पर हर स्त्री को हर पुरुष की बहन बना देने की क्षमता उसमें नहीं। विज्ञान जीवन का बाहरी नकशा बदल सकता है, पर भीतरी नकशा बदलना उसके वश की बात नहीं।

* * *

शस्त्र-सत्ता द्वारा, पुलिस के बैटन, फौज की बन्दूक, एटम बम और हाइड्रोजन बम द्वारा जनता को आतंकित किया जा सकता है, उसे निर्भय नहीं बनाया जा सकता। डंडे दिखाकर लोगो को जेल में डाला जा सकता है, उन्हें मुक्त नहीं किया जा सकता।

शस्त्र-शक्ति द्वारा, हिंसा द्वारा हिंसा को दबाने की चेष्टा की जा सकती है, पर उससे अहिंसा की प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती।

* * *

चोरी करने पर सजा और जुर्माने की व्यवस्था कानून के द्वारा की जा सकती है, हत्या करने पर फांसी का दण्ड दिया जा सकता है, पर कानून के द्वारा किसीको इस बात के लिए विवश नहीं किया जा सकता कि सामने भूखा व्यक्ति बैठा देखो, तो रन्तिदेव की तरह अपनी थाली उठाकर उसे दे दो और स्वयं भूखे रहने में प्रसन्नता का अनुभव करो।

* * *

धन की सत्ता आज सारे विश्व में व्याप्त है। आज पैसे पर ईमान बिक रहा है, पैसे पर अस्मत लुट रही है, पैसे पर न्याय अपने नाम को हंसा रहा है। विश्व का कौनसा अनर्थ है, जो आज पैसे के बल पर और पैसे के लिए नहीं किया जाता। अन्याय और शोषण, हिंसा और भ्रष्टाचार, चोरी और डकैती—सबकी जड़ में पैसा है।

कंचन की इस माया में पड़कर मनुष्य अपना कर्तव्य भूल गया है, अपना दायित्व भूल गया है, अपना लक्ष्य भूल गया है। पैसे के कारण श्रम की प्रतिष्ठा मानव-जीवन से जाती रही है। मनुष्य येन-केन प्रकारेण सोने की हवेली खड़ी करने को आकुल है। पर वह यह बात भूल गया है कि सोने की लंका भस्म होकर ही रहती है। रावण का गगन-चुम्बी प्रासाद मिट्टी में ही मिलकर रहता है। अन्याय, शोषण, बेईमानी द्वारा इकट्ठी की गयी सम्पत्ति द्वारा भौतिक सुख भले ही बटोर लिये जायें, उनसे आत्मिक सुख की उपलब्धि हो नहीं सकती। पैसा विश्व के अन्य सुख भले ही जुटा दे, परन्तु उससे आत्मा की प्रसन्नता प्राप्त नहीं की जा सकती। यही कारण है कि ईसा को कहना पड़ा कि 'सूई के छेद के भीतर से ऊँट का निकल जाना भले ही सम्भव हो,परन्तु पैसेवाले का स्वर्ग के राज्य में प्रवेश सम्भव नहीं !'

* * *

राज्य-सत्ता पुलिस और सेना के सहारे—शस्त्र-सत्ता के सहारे जीती है, कानून की छत्रछाया में बढ़ती है, धन-सत्ता के भरोसे पलती -पनपती है और विज्ञान के जरिये विकसित होती है। परन्तु इतने साधनों से सज्जित रहने पर भी वह शत प्रतिशत जनता को सुखी करने में अपने को असमर्थ पाती है। वह एक ओर अल्पसंख्यकों के प्रति अन्याय न होने देने का दावा करती है, दूसरी ओर बहुसख्यकों के हितों की रक्षा का ढिंढोरा पीटती है। पर अल्पसंख्यक भी उसकी शिकायत करते हैं,

बहुसंख्यक भी । कारण, उसका आदर्श रहता है—'अधिक-से-अधिक लोगों का अधिक-से-अधिक सुख ।' उसने यह मान लिया है कि सबको तो हम अधिकतम सुख दे नहीं सकते, इसलिए अधिकतम लोगो को यदि हम अधिकतम सुख दे लें, तो हमारा कर्तव्य पूरा हो गया ! हमारी आज की राजनीति इन्हीं आदर्शों पर चल रही है। पर इससे मानव-जाति का कल्याण सम्भव नहीं ।

* * *

सर्वोदय ऐसी राजनीति का कायल नहीं । वह लोकनीति का पक्षपाती है । राजनीति में जहाँ शासन मुख्य है, वहाँ लोकनीति में अनुशासन । राजनीति में जहाँ सत्ता मुख्य है, वहाँ लोकनीति में स्वतन्त्रता । राजनीति में जहाँ नियंत्रण मुख्य है, वहाँ लोकनीति में संयम । राजनीति में जहाँ सत्ता की स्पर्धा, अधिकारो की स्पर्धा मुख्य है, वहाँ लोकनीति में कर्तव्यो का आचरण । सर्वोदय का क्रम यही है कि हम शासन से अनुशासन की ओर, सत्ता से स्वतन्त्रता की ओर, नियंत्रण से संयम की ओर और अधिकारो की स्पर्धा से कर्तव्यों के आचरण की ओर बढ़ें ।

* * *

राज्यशासन का प्रत्येक शास्त्री ऐसी आकांक्षा रखता है कि एक दिन ऐसा आये, जिस दिन राज्य की समाप्ति हो जाय । तब तक के लिए राज्य-संस्था एक अनिवार्य दोष (Necessary evil) है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि राज्य-संस्था सदा अनिवार्य बनी ही रहेगी। यह राज्य-संस्था है ही इसलिए कि धीरे-धीरे वह ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दे, जब भय का निराकरण होते-होते यह स्थिति आ जाय कि शासन की आवश्यकता ही न रह जाय। आज नागरिको में परस्पर विश्वास नहीं है, लोग एक-दूसरे से डरते हैं, तभी तो शासन की आवश्यकता पड़ती है। लोगो के मानस से यह डर निकल जाय, सब एक-दूसरे पर विश्वास करने लगें, तो शासन की आवश्यकता ही क्या रहेगी ?

राज्य के पीछे जो सत्ता रहती है, वह लोगों की सत्ता, लोक-सत्ता होती है। पर हमने इस तथ्य को भुलाकर राजा को विष्णु मानकर उसके हाथ में 'अनियत्रित राज्य-सत्ता' (Absolute Monarchy) सौंप दी। हाव्स ने इसका विस्तृत विवेचन किया है। लॉक इससे एक कदम आगे बढ़ा। उसने 'नियत्रित राज्य-सत्ता' (Limited Monarchy) की बात कही। पर रूसो 'लोक-सत्ता' (Democracy) तक आ गया। यहीं से राज्य-सत्ता के निराकरण और लोक-सत्ता की स्थापना का श्रीगणेश होता है। राज्य-शास्त्र के इन तीन सिद्धान्तशास्त्रियो ने राज्यशास्त्र का विशेष रूप से विकास किया है।

* * *

इनके बाद आया गरीबो का मसीहा मार्क्स। उसने गरीवों के लोकतंत्र (Democracy for the poor men) की बात कही। मार्क्स ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism), ऐतिहासिक भौतिकवाद और नियतिवाद (Materialistic interpretation of History) पर जोर दिया और एक वर्ग के सघटन (Organization of one Class) की बात सिखायी। उसने क्रान्ति के लिए तीन बातों की आवश्यकता बतायी: १. क्रान्ति वैज्ञानिक हो, २. क्रान्ति अन्तर्राष्ट्रीय हो और ३. क्रान्ति में वर्ग-संघर्ष हो।

मार्क्स ने सारे मानवीय तत्त्वों का संग्रह किया, परन्तु उसका विज्ञान उसके भौतिकवाद के सिद्धान्तों के कारण पूंजीवाद की प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हुआ। अत' वह उस प्रतिक्रिया के साथ पूंजीवाद के स्वरूप को भी अंशतः लेकर आया।

मार्क्स के पहले किसी भी पीर-पैगम्बर या धर्म-प्रवर्तक ने यह नहीं कहा था कि गरीबी और अमीरी का निराकरण हो सकता है, होना चाहिए और होकर रहेगा। दान और गरीवों के प्रति सहानुभूति की बात तो सभी धर्मों में कही गयी, पर गरीबी और अमीरी के निराकरण की बात मार्क्स से पहले किसीने नही कही। उसने स्पष्ट शब्दों में इस बात की घोषणा की कि 'अमीरी और गरीबी भगवान् की बनायी हुई नहीं है। किसी भी धर्म में उसका विधान नहीं है और यदि कोई धर्म इस भेद को मंजूर करता है, तो वह धर्म गरीव के लिए अफीम की गोली है।'

कार्ल मार्क्स ने इस बात पर जोर दिया कि हमें ऐसे समाज का निर्माण करना चाहिए, जिसमें न तो कोई गरीब रहेगा, न कोई अमीर। उसमें न तो दाता की गुंजाइश रहेगी, न भिखारी की। उसने पीड़ित मानवता को यह आशाभरा संदेश दिया कि जिस विकास-क्रम के अनुसार गरीबी और अमीरी आ गयी, उसी विकास-क्रम के अनुसार, सृष्टि के नियमों के अनुसार, ऐतिहासिक घटना-क्रम के अनुसार उनका निराकरण भी होनेवाला है और सो भी गरीबो के पुरुषार्थ से होनेवाला है।

गरीबी और अमीरी के निराकरण के लिए मार्क्स ने पुराने अर्थशास्त्रियो को Vulgar Economists (अशिष्ट अर्थशास्त्री) बताते हुए एक नया क्रान्तिकारी अर्थशास्त्र प्रस्तुत किया।

एडम स्मिथ और रिकार्डो का सिद्धान्त था—श्रम ही मूल्य है।

मिल और मार्शल ने सिद्धान्त बनाया—'जिसके विनिमय में कुछ मिले, वह सम्पत्ति है'—(Wealth is anything that has an exchange Value) रूसो और टॉल्स्टॉय ने इसका खूब मजाक उड़ाया। कहा: "हवा के बदले में कुछ नहीं मिलता, तो हवा का कोई मूल्य नहीं!"

मार्क्स ने इनसे एक कदम आगे बढ़कर अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Surplus Value) दिया। उसने कहा कि श्रम का जितना मूल्य होता है, वह मुझे मिलता ही नहीं। मुझे जिन्दा रखने के लिए जितना जरूरी है, सिर्फ उतना ही तो मुझे मिलता है। बाकी का तो मालिक ही हड़प जाता है। श्रम का यह बचा हुआ मूल्य ही शोषण (Exploitation) है। और इसका नतीजा यह होता है कि सौ में नब्बे आदमियो को काम ही काम रहता है और दस आदमियो को आराम ही आराम ! दस आदमी विश्रामजीवी बन जाते हैं और नब्बे आदमी श्रमजीवी। हराम की कमाई का निराकरण होना ही चाहिए।

* * *

पूंजीवादी अर्थशास्त्र की मान्यता है—मेहनत मजदूर की, सम्पत्ति मालिक की।

पूंजीवाद का जन्म होता है—सौदे से, विकास होता है—सट्टे से और वह चरम सीमा पर पहुँचता है—जुए से।

पूंजीवाद के तीन दोष हैं :

सौदा, सट्टा और जुआ।

इससे तीन बुराइयाँ पैदा होती हैं :

संग्रह, भीख और चोरी।

* * *

पूंजीवाद के दोषो का निराकरण करने के लिए आया—समाजवाद। समाजवादी अर्थशास्त्र की मान्यता है—मेहनत जिसकी, सम्पत्ति उसकी। मार्क्स यहीं तक नहीं रुका। उसने एक और सूत्र दिया—मेहनत हरएक की, सम्पत्ति सबकी। इसकी बदौलत Welfare State (कल्याणकारी राज्य) और State Capitalism (शासकीय पूंजीवाद) का जन्म हुआ। व्यक्ति की साहूकारी मिटी, समाज की साहूकारी शुरू हुई।

* * *

समाजवाद के आगे का एक सूत्र और है। और वह यह कि जितनी ताकत उतना काम, जितनी जरूरत उतना दाम। 'परिश्रम तो मैं उतना करूँ, जितनी मुझमें क्षमता है, पर उस परिश्रम का प्रतिमूल्य, उसका मुआवजा मैं उतना ही लूं, जितनी मेरी आवश्यकता है।'

यह सूत्र है तो बहुत अच्छा, पर इसके कारण अन्तर्विरोध पैदा होता है। 'मेहनत जिसकी, सम्पत्ति उसकी' और 'जितनी ताकत उतना काम, जितनी जरूरत उतना दाम'—इन दोनो सूत्रों में मेल ही नहीं बैठता।

'जब मुझे मेरी आवश्यकता के अनुसार ही पैसा मिलना है, तो मैं उतना ही काम करूँगा, जितने में मेरी जरूरत पूरी हो जाय; फिर मैं अपनी शक्ति और क्षमता का पूरा उपयोग क्यों करूँ ?' यह विषम समस्या उत्पन्न हुई। काम के अनुसार दाम देने से प्रतिद्वन्द्विता आ खड़ी हुई। रूस और चीन में इस सम्बन्ध में प्रयोग हुए और लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रतिद्वन्द्विता से तो स्थिति और अधिक विषम हो जायगी। इसलिए प्रतिस्पर्धा तो न चले, परिस्पर्धा चल सकती है। दूसरे की टाँग खींच-कर, उसे गिराकर स्वयं आगे बढ़ने की प्रतिस्पर्धा रोकी जाय, उसके स्थान पर ऐसी समाजवादी परिस्पर्धा चले कि जो सर्वोत्कृष्ट हो, उसकी बराबरी करने की अन्य सब लोग चेष्टा करें। इसका नाम है Socialistic Emulation (समाजवादी परिस्पर्धा)। किन्तु इसमें भी कोई अच्छा परिणाम नहीं निकला। पहले जहाँ दाम के लिए काम करने की गुलामी (Wage Slavery) थी, वहाँ अब आ गया काम के मुताबिक दाम (Wages according to work) !

रूस और चीन की गाड़ी यहाँ आकर अटक जाती है। प्रयोग हो रहे हैं, परन्तु समाजवादी प्रेरणा (Socialistic incentive) की समस्या विषम रूप से सामने आकर खड़ी है।

* * *

आज सेना का सांस्कृतिक मूल्य समाप्त हो गया है। मार्क्स ने सेना और शस्त्र के निराकरण की प्रक्रिया का पहला कदम यह बताया कि 'सेना मत रखो, शस्त्र मत रखो, सबको शस्त्र बाँट दो। नागरिक को ही सैनिक बना दो। सैनिक और नागरिक के बीच का अन्तर मिटा दो। उत्पादक और अनुत्पादक के बीच कोई भी भेद मत रखो।' आज विश्व के महान्-से-महान् राजनीतिज्ञ कह रहे हैं कि शस्त्रीकरण की होड़ से विश्व सर्वनाश की ही ओर जा रहा है। इसलिए अब निःशस्त्रीकरण होना चाहिए। आज के युग की यह माँग है कि निःशस्त्रीकरण के सिवा अब मानवीय मूल्यों की स्थापना हो नहीं सकती। आइसनहावर के शब्दों में Disarmament has become a necessity of life (निःशस्त्रीकरण जीवन की एक आवश्यकता बन गयी है।)

पहले वीर-वृत्ति के विकास के लिए और निर्बलों के संरक्षण के लिए शस्त्र का प्रयोग होता था। आज शस्त्र में से उसके ये दोनों सांस्कृतिक मूल्य नष्ट हो चुके हैं। हवाई जहाज के बम फेंक देने में कौनसी वीर-वृत्ति रह गयी है ? आज संरक्षण के स्थान पर आक्रमण के लिए शस्त्रों का प्रयोग होता है। इसलिए शस्त्र का सांस्कृतिक मूल्य पूर्णतः समाप्त हो गया है।

* * *

शस्त्र की जो हालत है, वही हालत यंत्र की भी है। यंत्र का भी सांस्कृतिक मूल्य समाप्त हो गया है। यंत्र की विशेषता यह है कि वह सब चीजें एक-सी बनाता है। बटन एक-से, जूते एक-से, पोशाक एक-सी। 'गधा-मजूरी' रोकने को यंत्र आया, पर आज उसके चलते व्यक्तित्व का गला घुट रहा है। मानवीय मूल्यों का ह्रास हो रहा है। बटन दबाने का अर्थशास्त्र (Push Button Economy) विकसित हो रहा है और मानवीय कला समाप्त होती चल रही है। यंत्र जहाँ तक अभाव की पूर्ति करता है, वहाँ तक तो उसकी उपयोगिता मानी जा सकती है, पर वह केन्द्रीकरण को जन्म दे रहा है, कला की अभिवृद्धि में रोड़े अटका रहा है और उत्पादन में से मानवीय स्पर्श (Human touch in Production) को समाप्त करता जा रहा है। व्यक्तित्व का विकास तो दूर रहा, उसके कारण मनुष्य का व्यक्तित्व ही समाप्त होता जा रहा है। व्यक्तित्व का यह विलीनीकरण (De-individualisation) यंत्र का सबसे भयंकर अभिशाप है। इसका निराकरण होना ही चाहिए।

* * *

पूंजीवादी उत्पादन का एकमात्र लक्ष्य होता है पैसा। यह उत्पादन मुनाफे के लिए, विनिमय के लिए ही होता है। मैंने जो रकम लगायी, वह कुछ मुनाफे के साथ मुझे वापस मिले, यही उसका उद्देश्य है। यह है मुनाफे के लिए उत्पादन—(Production for Profit)। बाजार की पकौड़ियाँ भले ही खाने लायक न हो, पर यदि उनका पैसा वसूल हो जाय, तो उनका उत्पादन सफल माना जाता है।

छात्रावास में जितने लड़के रहते हैं, उतने लड़को के हिसाब से ही रोटियाँ बनायी जाती हैं, यह उपभोग के लिए उत्पादन (Production for Consumption) है, पर इसमें इस बात के लिए गुंजाइश नहीं कि किसीके दाँत यदि गिर गये हैं, तो क्या हो ?

यान्त्रिक उत्पादन में तीन प्रेरणाएँ थीं : व्यापारवाद (Commercialism), साम्राज्यवाद (Imperialism) और उपनिवेशवाद (Colonialism)।

पर आज की जागतिक स्थिति ऐसी है कि ये तीनो प्रेरणाएँ समाप्ति पर हैं। आज बाजारो का अर्थशास्त्र समाप्त हो रहा है, साम्राज्यवाद मिट रहा है और उपनिवेशवाद अन्तिम साँसें ले रहा है।

* * *

आज गति का तत्त्व (Dynamics) बाजार से उठकर वैचारिक क्षेत्र में आ गया है। विश्व में आज दो मोर्चे हैं—एक कम्युनिस्टो का मोर्चा, दूसरा उनका विरोधी।

लोकशाही कम्युनिज्म का विरोध करते-करते पूंजीवाद के शिविर में जा पहुँची है। वह तलवार की दासी और वैभव की अधिकारिणी बन गयी है। उसकी प्रगति-कुंठित हो रही है। जनता को अच्छा भोजन, वस्त्र और मकान देना ही कल्याण कारी राज्य का अन्तिम लक्ष्य बन गया है। लोकशाही बहुमत के आधार पर चलती है, इसलिए सत्ता की प्रतिस्पर्धा उसका मूलमन्त्र बन बैठी है। इस सत्ता के लिए, अधिकार के लिए बडी-बडी लम्बी गोटियाँ फेंकी जाती है, चुनावो के लिए बड़ी दूर से पेशबन्दियाँ की जाती है, दुनियाभर के प्रपञ्च रचे जाते हैं, लोकप्रियता का नीलाम होता है और पार्टी के अनुशासन के नाम पर लोगो की जबान पर ताला डाल दिया जाता है।

आज की लोकशाही में तीन भयंकर दोष हैं: अधिकार का दुरुपयोग (Abuse of power), गुंडाशाही का भय (Chaos) और भ्रष्टाचार (Corruption)।

इन दोषो का निराकरण किये बिना सच्ची लोकनीति का विकास हो नहीं सकता। भारत की लोकशाही में इनके अलावा 'सम्प्रदायवाद' और 'जातिवाद' नामक दो दोष और भी हैं। देश के और समाज के कल्याण के लिए इन सभी दोषो का उन्मूलन परम आवश्यक है।

☆ ☆ ☆

प्रश्न है कि जहाँ लोकशाही असफल हो रही है, शस्त्र-सत्ता, धन-सत्ता असफल हो रही है, यंत्र और विज्ञान घुटने टेक रहा है, वहाँ मानवता के त्राण का कोई उपाय है क्या?

सर्वोदय इसीका उपाय है।

मानव जिन प्रक्रियाओ का, जिन पद्धतियो का प्रयोग कर चुका है, उनके आगे का कदम है—सर्वोदय।

सृष्टि जिस रूप में हमारे सामने है, उसे समझने की चेष्टा दार्शनिक ने की। वैज्ञानिक ने प्रकृति के नियमों का साक्षात्कार किया, शोध की। परन्तु विश्व को परिवर्तित करने का कार्य न तो दार्शनिक ने किया और न वैज्ञानिक ने। अर्थशास्त्री ने भी वह कार्य नहीं किया। वह किया राज्यनेता ने—जो न तो दार्शनिक ही था, न वैज्ञानिक। जो लोग दर्शनमूढ थे, विज्ञानमूढ थे, उन्होंने ही समाज और सृष्टि को बदलने का काम अपने हाथ में लिया। परिणाम? परिणाम यही है कि आज दार्शनिक अलग है, वैज्ञानिक अलग है, नागरिक अलग है। परन्तु ऐसा विभाजनभेद गलत है, कृत्रिम है, अवैज्ञानिक है, अप्राकृतिक है। इस द्वैत में से अद्वैत का, इस भेद में से अभेद का निर्माण हो नहीं सकता। और जब तक अद्वैत और अभेद की

स्थापना नहीं होती, समग्रता की दृष्टि से मानव के व्यक्तित्व के विकास की चेष्टा नहीं की जाती, तब तक न तो ये भेद मिटनेवाले हैं और न सच्ची लोक-सत्ता का ही निर्माण होनेवाला है ।

*　　　　*　　　　*

भेद की भाव-भूमि पर राज्यशास्त्र और अर्थशास्त्र का जो विकास हुआ है, उसके दोष आज हमारी आँखों के समक्ष मौजूद हैं । मार्क्स, लेनिन, माओ आदि क्रान्तिकारियो ने जो क्रान्तियाँ कीं, उनके कारण कई महत्त्वपूर्ण बातें हुईं । जैसे—रूस, चीन आदि में सामन्तशाही और पूंजीवाद की समाप्ति, उत्पादन के साधनो का समाजीकरण, किसानो और मजदूरो की स्थिति में आश्चर्यजनक परिवर्तन तथा अपने-अपने देश के पद में अभूतपूर्व उन्नति आदि । अन्य राष्ट्रों की आजादी की लड़ाई को भी इन क्रान्तियों से बड़ा बल मिला है ।

परन्तु इतना सब होने पर भी, इन क्रान्तियो का प्रभाव केवल भौतिक धरातल तक ही रहा है । इनके कारण मानव की भौतिक स्थिति में उल्लेखनीय प्रगति हुई है । माना कि जनता की आर्थिक स्थिति में प्रशंसनीय सुधार हुआ है, परन्तु क्या भौतिक उन्नति ही मानव का सर्वोच्च लक्ष्य है ? उत्तम भोजन, उत्तम वस्त्र, उत्तम मकान और उत्तम रीति से अन्य भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति ही क्या मानव का चरम उद्देश्य है ?

सर्वोदय कहता है—नहीं । केवल भौतिक उन्नति ही पर्याप्त नहीं है । वह क्रान्ति ही क्या, जिसमें मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति न हो ? वह क्रान्ति ही क्या, जिसमें मानवता का नैतिक स्तर ऊपर न उठे ?

सर्वोदय कहता है—'जो तोकूं काँटा बुवै, ताहि बोउ तू फूल !' पत्थर का जवाब पत्थर से देने में, अत्याचार का प्रतिकार अत्याचार से करने में, खून के बदले खून बहाने में कौन-सी क्रान्ति है ? क्राति तो है दुश्मन को गले लगाने में, क्रान्ति तो है अत्याचारी को क्षमा करने में, क्रान्ति तो है गिरे हुए को ऊपर उठाने में ।

और इस क्रान्ति का साधन है—हृदय-परिवर्तन, जीवन-शुद्धि, साधन-शुद्धि और प्रेम का अधिकतम विस्तार ।

*　　　　*　　　　*

सर्वोदय जिस क्रान्ति का प्रतिपादन करता है, उसके लिए जीवन के मूल्यो में परिवर्तन करना होगा । उसके लिए हमें द्वैत से अद्वैत की ओर, भेद से अभेद की ओर बढ़ना पड़ेगा । 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' की अनुभूति करनी होगी । बाहरी भेदो से दृष्टि

हटाकर भीतरी एकत्व की ओर मुड़ना पड़ेगा। प्राणिमात्र में, जगत् के कण-कण में एक ही सत्ता के दर्शन करने होंगे।

'सोऽहम्' और 'तत्त्वमसि' के हमारे आदर्शों में सर्वोदय की ही भावना तो भरी पड़ी है। उपनिषद् कहता है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

—कठोपनिषद् २।२।९, १०

और जब हम इस प्रकार 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्' मानने लगेंगे, तो हमारी दृष्टि ही बदल जायगी। फिर न तो किसीसे द्वेष करने का प्रसंग उठेगा, न किसीसे मत्सर। किसीको सताने, किसीका शोषण करने, किसीके प्रति अन्याय करने का प्रश्न ही नहीं उठेगा। 'जो तू है, वही मैं हूँ!' यह भाव आते ही सारे भेदभाव दूर खड़े झख मारेंगे। घर में, परिवार में हम जैसे प्रेम से रहते हैं, हँसते-हँसते जैसे दूसरों के लिए कष्ट उठाते हैं, हर व्यक्ति की सुख-सुविधा का जैसे ध्यान रखते हैं, वैसे ही हम सारे विश्व का, मानवमात्र का, प्राणिमात्र का ध्यान रखेंगे। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना हमारी रग-रग में भिद जायगी।

* * *

सर्वोदय मानवीय विभूति के विज्ञान में विश्वास करता है। मानव भी उसके लिए विभूति है, सृष्टि भी, देश-काल भी। वह मानता है—फलनिरपेक्ष कर्तव्य हमारा धर्म है। उसकी मान्यता है—मेहनत इन्सान की, दौलत भगवान् की। मेहनत करना हमारा कर्तव्य है, फल समाज का। 'समाजाय इदं न मम' और 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' उसका आदर्श है। वह पड़ोसी के लिए जीने की, पड़ोसी के लिए उत्पादन करने की और पड़ोसी का सुख-दुःख बाँटने की कला सिखाता है। वह यह मानता है कि हर बुरे आदमी में अच्छाई होती है। वह हर व्यक्ति के दैवी तत्त्वों के विकास में विश्वास करता है। उसकी मान्यता है कि पाप से घृणा करनी चाहिए, पापी से नहीं। उसकी दृष्टि में कोई छोटा नहीं, कोई बड़ा नहीं; कोई ऊँचा नहीं, कोई नीचा नहीं। सबका सर्वाङ्गीण विकास उसका लक्ष्य है और प्राणिमात्र से तादात्म्य उसका साधन।

* * *

सर्वोदय में से सत्य और अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और अस्वाद, सर्वधर्म-समन्वय और श्रम की प्रतिष्ठा, अभय और स्वदेशी आदि व्रत स्वतःस्फूर्त होते हैं। अभी तक इन व्रतो का स्थान व्यक्तिगत मूल्यो के रूप में ही था। बापू ने सार्वजनिक जीवन और व्यक्तिगत जीवन की साधनाओ को एक में मिलाकर इन व्रतो को सामाजिक मूल्यो का रूप दिया। ज्यो-ज्यो हम इन व्रतो को सामाजिक मूल्य बनाते जायेंगे, त्यो-त्यो सर्वोदय का विकास होता जायगा।

* * *

बापू ने सर्वोदय के इस दर्शन को जन्म दिया। विनोबा आज इसे विकसित कर रहे हैं। भूदान, सम्पत्तिदान, साधनदान, बुद्धिदान आदि की प्रक्रियाएँ हृदय-परिवर्तन की ही तो प्रक्रियाएँ हैं। ग्रामदान के रूप में मालकियत के विसर्जन के इस देशव्यापी आन्दोलन को सारा विश्व आज चकित होकर देख रहा है। विनोबा दिन-दिन इस दिशा में आगे बढते चल रहे हैं। उनका सत्याग्रह सौम्य से सौम्यतर होता चल रहा है। देश के कोने-कोने में सर्वोदय की यह पावन धारा प्रवाहित हो रही है।

* * *

आचार्य दादा धर्माधिकारी सर्वोदय-शास्त्र के विद्वान् व्याख्याता हैं। उनकी विनोदभरी 'हितं मनोहारि' शैली सभीको मन्त्रमुग्ध कर लेती है। 'सर्वोदय-दर्शन' की पंक्ति-पंक्ति में इसकी झांकी मिलती है। सर्वोदय का कोई भी मुद्दा इसमें छूटा नहीं। सर्वोदय की इस ज्ञान-गंगा में जो अवगाहन करेगा, वह कृतकृत्य हुए बिना न रहेगा।

सर्वोदय की ऐसी सरल, हृदयस्पर्शी और मनोमोहक व्याख्या अभी तक उपलब्ध न थी। साथ ही, दादा को बैठकर इसे लिखने का अवकाश कहाँ ? यह तो सर्वश्री नारायण देसाई, प्रबोध चौकसी, धीरेनभाई, राममूर्तिजी, रामकृष्ण शर्मा और दूधनाथ चतुर्वेदी की कृपा माननी चाहिए, जो उन्होने दादा के मुख से इतने अमृत की वर्षा करवा ली।

मुझे इस नवनीत के आस्वादन का सुअवसर मिला, यह मेरा सौभाग्य !

काशी
२५-४-'५७

अनुक्रम

परिशिष्ट :

●

सर्वोदय के दो नियम

....एक सादी बात हम समझ लेंगे, तो सबका हित सधेगा। हरएक दूसरे की फिक्र रखे, साथ ही अपनी फिक्र ऐसी न रखे कि जिससे दूसरे को तकलीफ हो। इसीको सर्वोदय कहते हैं।

सर्वोदय का यह एक बहुत ही सरल और स्पष्ट अर्थ है और उसीसे यह प्रेरणा मिलती है कि हमें दूसरे की कमाई का नही खाना चाहिए, अपना भार दूसरे पर नही डालना चाहिए। हमें अपनी कमाई का तो खाना चाहिए, लेकिन यदि हम दूसरे का धन किसी तरह से ले ले, तो उसे अपनी कमाई नहीं कहा जा सकता। कमाई का अर्थ है: प्रत्यक्ष पैदाइश।

ये दो नियम हम अपना ले तो सर्वोदय-समाज का प्रचार दुनिया मे हो सकेगा।

गांधी-युग

यह युग गाधी का युग है। इसलिए आज का सारा वातावरण, सारी पृथ्वी, एक तरह से, उनकी सत्ता से भरी हुई है। हम लोग आज जितनी समस्याएँ अपने सामने उपस्थित देखते हैं, वे सारी-की-सारी समस्याएँ गाधीजी के इस दुनिया में आने के वाद की समस्याएँ हैं। इसलिए पहले जो रूप लेकर समस्याएँ हमारे सामने आती थीं, उनसे विलकुल अलग रूप लेकर आज वे सामने आती हैं। चाहे वे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ हो, चाहे राष्ट्रीय हो, राजनैतिक हो या आर्थिक। समस्याओ का रूप गाधीजी के वाद विलकुल वदल गया है।

विचार अपौरुषेय है

आज का युग गाधी का युग है। फिर भी जब मैं कोई विचार आप लोगो के सामने पेश करूँगा, तो आप उस विचार को 'गाधी-विचार' और 'गाधीतर विचार', इस दृष्टि से न देखिये। विचार, विचार है। वह अपौरुषेय होता है। विचार न गाधी का है, न मार्क्स का। विचार न समाजवादी होता है, न सर्वोदयवादी। विचार केवल विचार होता है। जिस प्रकार शव्द आकाश का गुण है, उसी प्रकार विचार मनुष्य का विशेष लक्षण है। विचार मानव-व्यापी होता है। इसलिए जो भी शुद्ध विचार है, उसे आप अपौरुषेय मानें, फिर उसको किसीने भी अभिव्यक्त क्यो न किया हो। हमारे यहाँ इसकी एक मर्यादा है। लोगो ने उसके भिन्न-भिन्न प्रकार के अर्थ लगाये, परन्तु वैसा उसका अर्थ नही है। वेदो के वारे में ऐसी एक धारणा हो गयी है कि वेद ईश्वर-प्रणीत हैं। क्या उसने स्वय इन वेदो को लोगो के सामने गाया या वतलाया या पढा ? वुद्धिवादियो के मुकुट-मणि भगवान् शकराचार्य ने अपने गीता के पन्द्रहवें अध्याय में "वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहम्' (१५ १५) याने 'वेदान्तकृत् मैं हूँ' श्लोक का भाष्य करते हुए लिखा कि वेदान्तकृत् का अर्थ है कि वेदो का प्रथम प्रवक्ता मैं हूँ। ज्ञान को मैंने अभिव्यक्त किया। मैं उसका निर्माता नही हूँ। एक वहुत वडी वस्तु यह है कि ज्ञान का कोई निर्माता नही होता।

ज्ञान वस्तु-तत्र होता है। किसीकी वुद्धि मे वह अभिव्यक्त होता है और किसीकी वाणी से वह प्रकट होता है।

सर्वोदय में सबसे बडी आवश्यकता बौद्धिक अनाग्रह की है। विचार को हम आकाशव्यापी मानें। दुनिया में आज जो समस्या है, वह वैचारिक समस्या है।

रमण महर्षि, श्रीअरविन्द और कृष्णमूर्ति जैसे आधुनिक आध्यात्मिक महापुरुषो ने यही मत व्यक्त किया है कि इस युग की जो समस्या है, वह न तो उतनी आर्थिक या राजनैतिक है, जितनी कि वैचारिक है। जहाँ महान् विचारो की एकवाक्यता होती है, वह अक्सर सद्विचार होता है। यो तो सम्मति ही अक्सर सद्विचारो की, यथार्थ विचार की द्योतक हुआ करती है। जब सब लोगो की राय एक हो जाती है, तब वह उनमे से किसी एक का ही विचार नही रहता, वह भगवान् का विचार हो जाता है।

'वाद' की नहीं, 'विचार' की समस्या

तुलसीदासजी की रामायण मे एक जगह कहा है कि सुमति और कुमति सबके हृदय में, सबके 'उर' मे होती है। सुमति की परख 'सम्मति' है और कुमति की परख 'विमति' है। जहाँ पर मेरा मत 'मेरा' होता है और आपका मत 'आपका' होता है, वहाँ 'मत' प्रधान नही होता, 'मेरा' और 'तेरा' प्रधान हो जाता है। विशेषण प्रधान होता है, विशेष्य गौण हो जाता है। 'मेरा मत' मे 'मेरा' पर जोर है। 'तेरा मत" में 'तेरा' पर जोर है। 'मेरा' और 'तेरा' दोनो जहाँ समाप्त हो जाते है और जहाँ मत ही रह जाता है, वहाँ समन्वय होता है। उसे 'सम्मति' कहते हैं। **'जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना।'**

'सम्पत्ति' मे भी यही अर्थ है कि जहाँ पर सारी चीजें सम्यक् रूप से सबको उपलब्ध होती हैं, वही 'सम्पत्ति' है। सम्पत्ति का मतलब यह नही है कि हमको तो खूब मिल जाय, पर दूसरे को कुछ न मिले। सम्पत्ति का अर्थ यह है कि सबको सारी चीजे सम्यक् रूप से प्राप्त होती हैं। क्योंकि ऐसा न हो तो वहाँ विपत्ति आती है। जहाँ अलग-अलग प्रकार की उपलब्धि है, विप्रतिपत्ति है, विरोध है, वहाँ दुख होता है, सकट होता है। जहाँ सम्पत्ति होती है, वहाँ सम्मति होती है। यह वह समस्या नही है, जिसे आप आर्थिक या साम्पत्तिक कहते हैं। आज की दुनिया की सबसे बडी समस्या, प्रधान समस्या, है विचार की समस्या, जिसे लोगो ने 'वाद' की समस्या कहा है।

विचार में जब आग्रह आ जाता है, तब वह 'सम्प्रदाय' मे परिणत हो जाता है और सम्प्रदाय में जब आवेश और उन्माद आ जाता है, तब वह 'वाद' में परिणत हो जाता है।

आपने कभी-कभी सुना होगा कि 'विचारो का सघर्ष हो रहा है।' अब यह 'विचारों का संघर्ष' एक विरोधाभास है। विचार भी हो और सघर्ष भी हो, यह हो नही सकता।

विचारो मे जब दगल होने लगता है, तो सारे विचार 'वाद' में परिणत हो जाते हैं।

आग्रह नहीं, निष्ठा आवश्यक

यह विचार-शिविर है। अत हमारे मन में कोई आग्रह न हो, निष्ठा भले ही हो। निष्ठा अलग वस्तु है, आग्रह अलग। निष्ठा में विचारो का दगल नही होता। विचारों का दगल जहाँ होता है, विचारो का सघर्ष जहाँ होता है, वहाँ एक विचार दूसरे विचार के मुकावले में खडा हो जाता है और फिर वहाँ एक विचार की जय और दूसरे विचार की पराजय, का उद्देश्य होता है। उसमें से तत्त्व-निर्णय या सत्य तक पहुँचने की किसीकी इच्छा नही रह जाती। मेरा विचार अगर मेरा है और आपके विचार के मुकावले में खडा है, तो किसका विचार जीता, यही हमारे सामने सवाल होता है।

उसमें से दूसरी बुराई यह पैदा होती है कि हम दूसरे का जवाव सोचने में ही सारा समय विता देते हैं। आपका सवाल है, मेरा जवाव है। सवाल भी खडा है, जवाब भी खडा है। जवाव सोचने में दोनो का सारा समय वीत गया, तो समस्या की तरफ ध्यान देने के लिए फुर्सत ही किसीको नही है। जीवन किनारे रह गया, समस्याएँ किनारे रह गयी। आपका सवाल और मेरा जवाव, इसीमें सारा समय बीत गया। भगवद्गीता मे ऐसे लोगो को 'वेदवादरताः' (२ ४२) कहा है। ये सब वेदवादी हैं, ये वेदान्ती नही हैं। इनको सिद्धान्त से कोई मतलब नही होता।

इसलिए आप कहीं निरुत्तर हो जायँ, तो नम्रतापूर्वक यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि हमारे पास उत्तर तो नही है, लेकिन हमारी बुद्धि का समाधान भी नही हुआ है। बौद्धिक समाधान विलकुल अलग चीज है और दलील से दूसरे की दलील काटकर उसको निरुत्तर कर देना विलकुल अलग चीज है। निरुत्तर करना तो एक तरह का दगल है। उस दगल में जिसके पास पेंच की जितनी ज्यादा शक्ति होगी, जो अधिक तर्क-कुशल होगा, वह दूसरे को निरुत्तर कर सकता है।

हम विचार तो अवश्य करें, लेकिन इस दृष्टि से करें कि दूसरो के सामने जो प्रश्न उपस्थित होते हैं, उनको पहले अपने प्रश्न मान लें। 'ये प्रश्न मेरे प्रश्न हैं, अब मुझे अपनी बुद्धि को समाधान देना है, तो किस प्रकार से मैं इन प्रश्नो का विचार करूँ, इसमें दूसरो से किस प्रकार सहायता लूँ'—इस तरह से विचार करें।

आज की दुनिया की समस्या विचार की समस्या है और विचार को अगर दुनिया में प्रस्थापित करना है, तो सम्प्रदाय और वाद का निराकरण करना होगा। इसका आरम्भ प्रथम पुरुष से करना होगा। 'प्रथम पुरुष' को हिन्दी मे 'उत्तम पुरुष' कहते

हूँ। भगवद्गीता मे कहा है—'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' (१५ : १७) यही उत्तम पुरुष है। जब 'प्रथम पुरुष' नम्र होकर अपने से आरम्भ करता है, तो वही 'उत्तम पुरुष' हो जाता है। हम विचार का आरम्भ, याने बौद्धिक अनाग्रह और बौद्धिक निष्ठा का आरम्भ, अपने से करे। दुनिया में आज जितने प्रमुख वाद हमारे सामने खडे हैं, उन वादो का हमें खण्डन नही करना है, उनका समन्वय करना है।

वैचारिक भूमिका में भी अहिंसा

गाधीजी ने हमें जो विचार दिया, उसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि उनकी वैचारिक भूमिका में भी अहिंसा है। दूसरो के विचारो का निराकरण करना है, दूसरे के विचारो को दुनिया में परास्त करना है और अपने विचार की प्रस्थापना करनी है, इस भूमिका को उन्होंने कभी भी स्वीकार नही किया।

गाधी-सेवा-सघ के सावली (मध्यप्रदेश) के सम्मेलन में जब यह विचार आया कि गाधीजी के विचारो का प्रचार करने के लिए, 'गाधी-वाद' का प्रचार करने के लिए, कोई योजना बनायी जाय, तब गाधीजी ने एक बात हम लोगो से कही, जो अन्त तक हम लोगो के कान में गूंजती रहेगी। उन्होंने कहा कि **"गाधीवाद जैसी कोई चीज कम-से-कम मेरे दिमाग में तो नहीं है। किसी नये वाद की या सम्प्रदाय की स्थापना करने के लिए मैं दुनिया में नहीं आया हूँ। मैंने ऐसा कोई उपद्रव नहीं किया है।"** यह एक ऐसी बात उन्होंने कह दी, जिसे दुनिया के सारे बुद्धिवादियो को बहुत नम्रतापूर्वक अपना लेना चाहिए।

बुद्धिमान् लोग, प्रोफेसर, वकील, डॉक्टर, अखबारनवीस, सस्कृत के पण्डित आदि अक्सर कहते हैं कि आप अगर अपनी बात बुद्धि से, विचार से हमको समझा देंगे, तो हम मानेंगे, दूसरी तरह से नही मानेंगे। एक बुद्धिमान्, विचारशील मित्र ने तो यहाँ तक कह डाला था कि "आपका गाधी वैचारिक-क्षेत्र में untrained intellect है, याने वह 'दीक्षित' नही है, आधुनिक विद्यासम्पन्न नही है, उसकी प्रज्ञा अशास्त्रीय है। हमे आप बुद्धि से गाधी की बात समझा सकेंगे, तो मानेंगे।"

मैंने कहा, "तब या तो आप मुझे समझा देंगे या मैं आपको समझा दूंगा। और फिर जो समझ जायगा, वह दूसरो को समझायेगा।"

कहने लगे, "नही, यह नही। दुनिया मे आम जनता समझाने से माननेवाली नही है।"

मैंने कहा, "आपने तो बुद्धि का आधार यही छोड दिया। आपका तो बुद्धि में विश्वास ही नही है।"

वे मुझसे कहने लगे, "आप हजार कीजिये, ये सत्ताधारी और सम्पत्तिधारी समझाने से माननेवाले नही।"

मैंने पूछा, "तब क्या करना होगा ?"

कहने लगे, "इनको तो डडे से दुरुस्त करना होगा।"

"तब तो" मैंने कहा, "आरम्भ अपने से ही करना चाहिए। फिर आप क्यो कहते हैं कि आपको समझाना चाहिए ? आप अपने लिए तो कहते हैं कि मुझे समझाना चाहिए और दूसरो के लिए कहते हैं कि इनको समझाने से काम नही चलेगा, उनके तो सिर ही फोडने पड़ेंगे।"

बुद्धि-निष्ठा के लक्षण

बुद्धि-निष्ठा का प्रथम लक्षण यह है कि मनुष्य को अपनी बुद्धि में जितना भरोसा हो, उतना ही दूसरे की बुद्धि मे भी होना चाहिए। नही तो हम उसे बुद्धिनिष्ठ कैसे माने ? जो केवल अपनी बुद्धि में भरोसा रखता है और दूसरे की बुद्धि में भरोसा नही रखता, उसमें बुद्धि का भरोसा ही नही है। वह बुद्धिवादी है, बुद्धिनिष्ठ नही है, बुद्धियोगी नही है। 'ददामि बुद्धियोगं तम्' (गीता १० : १०) 'मैं बुद्धियोग देता हूँ', भगवद्‌गीता ने कहा; 'बुद्धिवाद देता हूँ' नही कहा।

बुद्धि-निष्ठा का और एक लक्षण।

एक स्टेशन पर एक दफा ऐसा मौका आया कि एक मित्र की मोटर हमें ट्रेन पर चढानी पडी। नदी में बहुत बाढ थी। स्टेशन-अधिकारी के पास एक दोस्त को भेजा। वह लौटकर कहने लगा कि "वह तो 'वैगन' देता ही नही है। इतनी जल्दी 'वैगन' मिल नही सकती कि हमारी मोटर यहाँ से वहाँ पहुँच जाय और वहाँ हमें तुरन्त मिल जाय। मैंने बहुत समझाया कि हमे अभी जाना है, नदी में बाढ है।"

दूसरे मित्र बोल उठे, "सौ रुपये का नोट क्यो नही दिखा दिया ? फौरन मान लेता।"

"सौ रुपये के नोट मे कैसे मान लेता ?" मैंने पूछा, "अभी उसके पास 'वैगन' ही नही है, तो वह सौ रुपये के नोट में से कहाँ से आ जाती ?"

उसने कहा, "ऐसा माई का लाल दुनिया में अब तक पैदा ही नही हुआ है, जो सौ रुपये का नोट लेकर भी न माने !"

यह व्यक्ति धनवान् था। धनवान् का धन में इतना विश्वास !

एक अन्य व्यक्ति कहने लगा, "मुझे क्यो नही ले गये ? जरा आँख दिखाता और डडा दिखाता, तो फौरन आपको 'वैगन' मिल जाती !"

जिसके पास डण्डा है, उसका डण्डे में इतना विश्वास ! और जिसके पास वुद्धि है, चाहे कॉलेज का प्रोफेसर हो, चाहे दूसरा कोई वुद्धिवादी हो, उसका दो ही वातो में विश्वास है। कभी कहता है, 'वगैर पैसे के काम नही होगा।' कभी कहता है, 'वगैर तलवार के काम नही होगा और वुद्धि से तो कभी होगा ही नही।'

हमारा भरोसा अगर वुद्धि के सिवा अन्य सारी सत्ताओ पर हो, तो हम विचार कैसे करेंगे ? विचार के लिए सवसे आवश्यक वात यह है कि हमारा विश्वास अपनी वुद्धि में हो और मनुष्यमात्र की वुद्धि मे हो। मनुष्य का लक्षण यदि हमने वुद्धि मान लिया है, तो हमको यह भी मान लेना होगा कि मनुष्य की सारी शक्ति उसकी वुद्धि मे है।

विज्ञान की सफलता का युग

आज युग तो विज्ञान का है, लेकिन सत्ता विज्ञान की नही है। विज्ञान के युग मे वुद्धि की भी सत्ता नही है और विज्ञान की भी सत्ता नही है। इस समस्या का समाधान, गाधीजी की प्रक्रिया (टेक्निक) के सिवा और दूसरा कोई हो ही नहीं सकता। छान्दोग्य उपनिषद् मे वाक्य है, 'बलं वाव विज्ञानाद् भूयः'—वल विज्ञान से वडा है और सैकडो विज्ञानवानो को 'एकः बलवान् आकंपयते'—कँपा सकता है। आईन्स्टीन को यही अनुभव हुआ। ससार के दूसरे वैज्ञानिको को भी यह अनभुव हुआ। आखिर में उन लोगो ने लिख दिया—हमने अपने वैज्ञानिको को भी पुलिस की निगरानी मे रख दिया है। सत्ता पुलिस की है, विज्ञान की नही है। सत्ता शस्त्र की है, विज्ञान की नही है। और साथ-साथ दुनिया के सारे राज्य-नेता इस परिणाम पर भी पहुँचे हैं कि शस्त्र की सत्ता का युग समाप्त हो रहा है। नतीजा यह है कि विज्ञान तो सार्वभौम हो गया, लेकिन मनुष्य की सस्कृति उसके साथ कदम नही मिला पा रही है। एक प्रमुख ईसाई धर्मगुरु ने लिखा है कि —यह विज्ञान की विफलता का युग है। पर असल मे तो यह विज्ञान की सफलता का युग है और सस्कृति की विफलता का युग है। हमारी सस्कृतियाँ, हमारी सभ्यताएँ (मै वहुवचन मे प्रयोग कर रहा हूँ) विज्ञान के साथ कदम नही मिला सकी है।

'एकाकी न रमते'

यह हमारी प्रधान समस्या है। इस समस्या को उपनिषद् ने दो वाक्यो मे सकेत के रूप में रखा है।

बृहदारण्यक-उपनिषद् मे वर्णन आता है कि आत्मा पहले अकेला था। 'एकाकी न रमते।' अकेलेपन में उसकी तबीयत ही नही लगती थी।

जेल में हमें जब डराना-धमकाना होता था, तो सुपरिंटेंडेंट कहता था, एकान्त कोठरी मे तनहाई मे भेज दूंगा—"तुमको अकेला रखेंगे, जहाँ किसीसे नही मिल सकोगे।" बडा डर लगता था कि अकेले रहेंगे, तो क्या होगा ? याने अपने ही साथ रहेंगे, तो क्या होगा ? आदमी को सबसे बडा डर यह है कि मैं अपने साथ रहूँगा, तो कैसे जीऊँगा। सगति की इच्छा उसकी एक बहुत बड़ी 'आकाक्षा' है।

एकाकी न रमते। अकेले तबीयत नही लगती, दूसरे की जरूरत है। जब तक दूसरा न हो, तब तक हमें चैन नही है। इसे मनुष्य की सामाजिकता कहते हैं। उपनिषदो ने अपनी भाषा में लिखा, समाजशास्त्री अपनी भाषा में लिखते हैं। लेकिन यह स्वभाव है कि मनुष्य को अकेले अच्छा नही लगता, उसे दूसरे की जरूरत होती है। दूसरे के सान्निध्य की और दूसरे की सगति की आकाक्षा मे से मनुष्य का चारित्र्य, मनुष्य की सभ्यता और मनुष्य की सामाजिकता का आरम्भ होता है।

कायरता के हाथ में हथियार

दूसरा वाक्य भी बृहदारण्यक-उपनिषद् का ही है। वाक्य इसी तरह शुरू हुआ कि आत्मा पहले अकेला था। अब उसको क्या डर है ? "मैं अकेला ही तो हूँ न ? कोई दूसरा तो यहाँ नही है ?" क्यो ? द्वितीयाद् वै भयं भवति। दूसरा हो तो डर लगता है। लडके मे कहा कि अँधेरे में अकेले जाओ। तो वह कहता है, "अकेले नही जाऊँगा।" "क्यो ?" तो कहता है, "कोई वहाँ होगा।" उसे डर यह है कि वहाँ कोई दूसरा होगा। पहले तो तबीयत नहीं लगती थी कि कोई दूसरा नही है, अकेला हूँ। अब वह डरता है कि कहीं दूसरा कोई न हो। दो तरह की प्रवृत्तियाँ उसमे हैं। पहली आकाक्षा थी कि दूसरा हो। दूसरी यह है कि कही दूसरा कोई होगा, तो क्या होगा ? आज की अन्तर्राष्ट्रीय समस्या दूसरे स्वरूप की है। इसका वर्णन हमारे यहाँ के दार्शनिक, राष्ट्र उपाध्यक्ष डॉ० राधाकृष्णन् ने किया है। उन्होंने कहा है कि आज का जमाना हथियारबन्द कायरता का है। कायरता के हाथ में हथियार है, भीरुता नखशिखान्त हथियारो से लदी हुई है।

अहिंसा के हाथ में गदा

एक जगह राधाकृष्ण की भाँति सत्य की और अहिंसा की मूर्तियाँ हैं। अहिंसा के हाथ में गदा है। अहिंसा के हाथ मे गदा क्यो है ? इसलिए कि शस्त्रो का उपयोग

शान्ति के लिए होना चाहिए, इसका यह प्रतीक है। शान्ति यदि शस्त्रो की शरण में जायगी, तो क्या शान्ति, शान्ति रह जायगी ? तब तो सत्ता शस्त्र की होगी, शान्ति की नही। शान्ति को भी यदि शस्त्र की शरण लेनी पडे, अहिंसा को भी यदि गदा की शरण लेनी पडे, तब तो फिर जिसकी गदा बडी होगी, उसकी अहिंसा भी श्रेष्ठ होगी। अहिंसा तो कही रही ही नही। यह गदा-युद्ध ही हो जायगा। उसमे अहिंसा के लिए कही स्थान नही रहेगा, गदा ही गदा रह जायगी।

जीवन की सम्पन्नता और विपन्नता

दूसरी चीज है—**द्वितीयाद् वै भयं भवति।** दोनो जगह अलग-अलग व्यक्ति हो, यह जरूरी नही है। आज मैं कह रहा हूँ कि नारायण देसाई नही है, इसलिए तबीयत नही लगती। कल नारायण देसाई से मेरा झगडा हो जाता है, तो नारायण देसाई है, इसलिए डर लगता है। नारायण देसाई तो वही है, लेकिन उसकी तरफ से मेरा जो रुख था, वह बदल गया है।

उपनिषद् के ऋषि ने यह सकेत किया है कि परायेपन की भावना जहाँ होती है, वहाँ डर पैदा होता है। जहाँ परायेपन की भावना न हो, जहाँ दूसरा अपना हो जाता है, वहाँ जीवन द्विगुणित हो जाता है, सम्पन्न हो जाता है और जहाँ दूसरा अपना न हो, दूसरा दूसरा हो, परायेपन की, दूजेपन की भावना जहाँ हो, वहाँ वह दूसरा हमारे लिए दु खद हो जाता है और जीवन विपन्न हो जाता है।

सम्पत्ति और विपत्ति का मैंने एक लक्षण प्रारम्भ में बताया था। यहाँ मैंने इसकी व्याख्या आपके सामने रख दी है कि जहाँ मनुष्य मे परायेपन की भावना कम होती है या बिलकुल नही होती, वहाँ जीवन सम्पन्न होता है। जहाँ परायेपन की भावना अधिक होती है या तीव्र होती है, वहाँ पर जीवन विपन्न हो जाता है।

हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया

निष्कर्ष क्या निकला ? परिस्थिति मे से, सस्थाओ में से, समाज-रचनाओ में से और मनुष्य की अपनी प्रवृत्ति में से हमे परायेपन की भावना का निराकरण करना है। इसलिए गाधीजी ने इस प्रक्रिया को बहुत अन्वर्थक और यथार्थ नाम दिया कि हमारी प्रक्रिया हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया है। लोगो ने बहुत मखौल किया कि हृदय-परिवर्तन क्या है ? कुछ लोगो ने कहा कि हृदय ही नही है, तो परिवर्तन कहाँ है ? वैज्ञानिको ने यहाँ तक लिखा है कि "डार्विन ने हमारे जीवन मे से मन को निर्वासित कर दिया और अब ये नये डार्विनवाले जीवन को ही निर्वासित कर रहे हैं।" यानी दुनिया मे सब

कुछ रहेगा, सिर्फ जीवन के लिए यहाँ जगह नही है। हृदय और मन को किसी भौतिक शास्त्र में जगह नही मिल रही थी और मानस-शास्त्रियो को तो कोई शास्त्री ही मानने के लिए तैयार नही था। आज भी ऐसे बहुत लोग नही हैं, जो मानस-शास्त्री को एक साबित शास्त्री मानने के लिए तैयार हैं। कहते हैं कि आखिर अपने मन का ही तो शास्त्री है। प्रयोगशाला में जो विज्ञान है, उससे बाहर विज्ञान कही है ही नहीं, ऐसा जिन लोगो ने मान लिया, उन लोगो ने गाधी पर यह अभियोग लगाया कि यह मनुष्य 'अवैज्ञानिक' बात कहता है। क्योकि मनुष्य के हृदय से अधिक अवैज्ञानिक और क्या हो सकता है ? सबसे ज्यादा अवैज्ञानिक मनुष्य का हृदय है। गाधी जब हृदय-परिवर्तन की बात कहता है, तो अवैज्ञानिक बात कहता है।

यह है समस्या का स्वरूप। आज की समस्या वैचारिक समस्या है और वैचारिक समस्या के निराकरण की प्रक्रिया मत-परिवर्तन की और हृदय-परिवर्तन की ही प्रक्रिया हो सकती है। आज मानवीय मूल्यो की स्थापना की आकाक्षा है। मानवीय मूल्यों की स्थापना, मनुष्य की बुद्धि और मनुष्य के हृदय के मार्फत ही हो सकती है। मानवीय मल्यो की स्थापना का दूसरा कोई माध्यम नही है। इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष जीवन में से, आज के अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में से, एकाध उदाहरण लीजिये।

गांधी 'पागल' थे ?

गाधीजी ने १९३९ में हिटलर को एक चिट्ठी लिखी कि तुम लडाई मत करो और चर्चिल को भी एक चिट्ठी लिखी कि दुनिया मे तुम्हारा राष्ट्र प्रमुख राष्ट्र है, शस्त्र-शक्ति में सारी दुनिया तुम्हारा लोहा मानती है, तुम शस्त्रास्त्र फेंक दो। उन दिनो हम लोग वही उनके आसपास रहते थे। लोगो ने कहा कि अब तक तो हम समझते थे कि यह आदमी थोडा-बहुत विचार कर सकता है, इसके दिमाग है। अब यह हिटलर को चिट्ठी लिखता है। यह तो हद हो गयी ! भला इससे भी ज्यादा अविवेक कुछ हो सकता है ? लोगो ने कहा कि बडे आदमियो में ऐसा कुछ होता है। एक-एक खब्त उन पर सवार हो जाती है, फिर उनके दिमाग का सन्तुलन बिगड़ जाता है। अब वह गाधी था, इसलिए ज्यादा कुछ कहने की किसीकी हिम्मत नही होती थी। लोगो ने यहाँ तक कहा कि इसका मानसिक सतुलन अब नही रह गया है।

आज जवाहर क्या कहते हैं ?

जाने दीजिये बेचारे गाधी को, आज जवाहरलालजी क्या कह रहे हैं ? लोगो ने गाधी को पागल कह लिया। लेकिन उसके बाद आल इण्डिया काग्रेस कमेटी की जो

बैठक हुई, उसमें जवाहरलालजी भी थे। जवाहरलालजी ने बताया कि व्यवहार ऐसा है, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ऐसी है, तो बापू ने जवाब दिया था कि "लोग मुझसे कहते हैं कि यह तो हवाई किले बनाया करता है। लेकिन मैं आज तक एक बार भी हवाई जहाज में नही बैठा हूँ। इसी जमीन पर रहता हूँ, इसी पर चलता हूँ। मैं आज आपसे कह देना चाहता हूँ कि यह जवाहरलाल मेरा उत्तराधिकारी होनेवाला है और आगे का जमाना ऐसा आनेवाला है कि मेरी बात 'यह' कहेगा। जो बात आज मैं कह रहा हूँ और जिसके लिए लोग मुझे पागल कह रहे हैं, वही मेरी बात आगे चलकर जवाहरलाल कहेगा।"

आज की अतर्राष्ट्रीय सभाओ मे जवाहरलालजी की इतनी इज्जत क्यो हो रही है? आखिर वहाँ जाकर उन्होने कहा क्या? यही न कि भाई, हथियार मत चलाओ! अमेरिका से यही कहा, चीन से यही कहा। उस वक्त गाधी की बात मानने को कोई तैयार नही था। आज ये सब लोग जवाहरलालजी को इस तरह से मानते हैं और उनका ऐसा स्वागत करते है, जैसा दुनिया में किसी बादशाह का या किसी सत का कभी नही हुआ होगा।

दुनिया में जो ये सारी बातें हो रही हैं, वे गाधी की विभूति का गौरव है, फिर उनका प्रकाश चाहे किसीके भी व्यक्तित्व के द्वारा होता हो—वह विभूति, जो आज के युग के साथ समरस हो गयी है, एकरूप हो गयी है। उस विभूति का यह गौरव है, जो आज जवाहरलालजी की प्रतिष्ठा के रूप में प्रकट हो रहा है। आज समाज में और परिस्थिति में ही यह आकाक्षा है। इसलिए फारमोसा में जब यह व्यक्ति कहकर आता है कि फारमोसा तुम्हारे अपने देश का एक अविभाज्य अग है, लेकिन इसे तुम शस्त्रो से मत लो, तो माओ भी इसकी बात मान लेता है। कम-से-कम इतना तो सोचता है कि इसकी बात विचार करने के योग्य है।

गोआ की समस्या

वही जवाहरलालजी जब अपने देश मे आते हैं, तो गोआ की समस्या के बारे में कहते हैं कि "मैं हथियार नही चलाऊँगा।" लोग पूछते हैं, "फौज रखते हो और हथियार नही चलाते?"

"फौज नही रखता और हथियार नही चलाता, तो आप कहते कि विवशता है। मेरे पास फौज है, मेरे पास हथियार हैं और फिर भी मैं हथियार नही उठाता, तो विवशता से तो ऊपर उठता ही हूँ। आप मुझे बेवकूफ कह सकते हैं, लेकिन कायर तो

नही कह सकते। हाँ, मैं यदि यह कहता कि अमेरिका के खिलाफ हथियार नही उठाता, रूस के खिलाफ हथियार नही उठाता, तो आप कहते कि उठा ही नही सकते हो। इसलिए तुम विवशता को सद्‌गुण बना रहे हो। विवशता तुम्हारी शक्ति नही हो सकती, लाचारी है, मजबूरी है, तुम कर क्या सकते हो ? लेकिन मैं तो गोआ के बारे में ऐसा कह रहा हूँ।"

जिसके हाथ में सत्ता हो और जो राज्य-नेता रहा हो, वह सामर्थ्य रहते हुए भी हथियार चलाने से इनकार कर दे, ऐसा तो उदाहरण मैं समझता हूँ कि अशोक के बाद यही हुआ है। इतिहास में ऐसे उदाहरण साधु-सतो के देखने को मिलते हैं। भीष्म का उदाहरण है, लेकिन उसकी भूमिका बिलकुल भिन्न है। आज के अतर्राष्ट्रीय सदर्भ में जब आप इस वस्तु को रखेंगे, तो आप मेरे साथ सहमत हो जायेंगे कि यह एक आकाक्षा आज के युग मे है।

दूसरी तरफ गोआ मे हमारे कुछ भाई, जिनकी वीरता, त्याग और देश-भक्ति के विषय में किसीको कोई सन्देह नही हो सकता और आज हम सब जिनके सामने नतमस्तक ही होंगे, गोआ में सत्याग्रह कर रहे हैं। सवाल है कि आखिर इन्हे सत्याग्रह का ही एक उपाय क्यो सूझा ? फारमोसा मे कोई सत्याग्रह करने नही गया। कोरिया में कोई सत्याग्रह करने नही गया। क्योकि, वहाँ की हवा मे और वहाँ की मिट्टी में ही सत्याग्रह नही था। यह सत्याग्रह चाहे सबल सत्याग्रह हो या चाहे शुद्ध सत्याग्रह हो। वह सवाल छोड दीजिये। थोडी देर के लिए आप तटस्थ वृत्ति से वस्तुस्थिति को सोचें, तो आपको यह मानना पडेगा कि इस देश में जब कभी अन्तिम उपाय-योजना का विचार मनुष्य के मन में आता है, तो उसके मन में सत्याग्रह का विचार आता है।

गांधी की विभूति के दर्शन

इसलिए मैंने आपसे कहा कि इस युग मे जहाँ मैं देखता हूँ, वहाँ सारी समस्याओ में से मुझे गाधी की विभूति के ही दर्शन होते हैं। हर जगह उनकी सत्ता का भान होता है। आज सत्याग्रह की वैचारिक पकड इस देश पर इतनी है कि हम जहाँ शस्त्र का उपयोग कर सकते हैं, वहाँ भी शस्त्र का उपयोग नही कर रहे हैं। शस्त्र का उपयोग नि शस्त्र प्रतिकारियो के साथ हो रहा है। शान्तिमय शूरता दिखानेवाले लोगो पर आसुरी अत्याचार गोआ में हुआ, यह दृश्य दुनिया के सामने उपस्थित हुआ।

दो अलग-अलग उदाहरण हमने देखे। एक तो फारमोसा का, जहाँ जवाहरलालजी की बात मानी गयी कि शान्ति से, समझौते से, काम लिया जाय। दूसरा गोआ का। जवाहरलालजी का आशय क्या था ? दुनिया में आज आकाक्षा यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ का समाधान युद्ध से न हो, शस्त्र-प्रयोग से न हो, विवेक से हो और एक-

दूसरे को समझाने-बुझाने से ही हो। इस भूमिका पर वे आरूढ हो गये। दूसरी तरफ उन लोगो का शस्त्रो में ही विश्वास है। जिन लोगो का विश्वास न कभी गाधी में था, न उसकी सत्याग्रह की नीति मे कभी था, उन लोगो को भी आज सत्याग्रह के प्रतिकार के अतिरिक्त दूसरे किसी तन्त्र का विचार नही सूझता है।

जीवन की दृष्टि से और समस्याओ की दृष्टि से यह परिवर्तन एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है।

सद्‌गुण का दुरुपयोग

वम्वई मे शराव की एक दूकान में एक खादीवाला बैठा-बैठा शराव पी रहा था। मेरे एक मित्र खादी के वडे खिलाफ थे। कहते थे, "खादी में क्या रखा है?" उन्हें तो सवूत मिल गया। कहने लगे, "देखो, यह तुम्हारा खादीवाला शराव पी रहा है।" मैंने कहा, "हाँ, खादी पहने हुए है और शराब पी रहा है, इतना तो मै मानता ही हूँ।" कहने लगे, "तव और क्या नही मानते? इससे तो हम अच्छे हैं, जो खादी नही पहनते। कम-से-कम शराव तो नही पीते!" मैंने कहा, "शराव नही पीते, यह तो अच्छा ही करते हो, लेकिन खादी नही पहनते, यह कैसे अच्छा हो गया?" कहने लगे, "यह खादीवाला शराव जो पी रहा है!" मैंने जवाव दिया, "आपकी दृष्टि क्रातिकारी की नही है। यह खादीवाला शराव नही पी रहा है, यह शरावखोर खादी पहनने लगा है। देखने का फर्क है। खादी के कपड़े को जो सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, उससे वह लाम उठाना चाहता है।" तो कहने लगे, "यह खादी का दुरुपयोग करता है।" मैंने कहा, "हाँ, दुनिया मे अच्छी चीज का ही दुरुपयोग होता है, बुरी चीज का कभी नही।" दुर्गुण का भी कभी दुरुपयोग हुआ है? भगवान् के नाम का दुरुपयोग होता है कि शैतान के नाम का? दुनिया में जितनी अच्छी चीजे हैं, जितने प्रगतिकारक और उन्नतिकारक तत्त्व है, उन सवका दुरुपयोग होता है। अग्रेजी मे एक वाक्य है कि दुर्गुण को जव सद्‌गुण का गौरव करना होता है, तो दुर्गुण सद्‌गुण का स्वाँग रचता है। दम्भ, ढोग दुर्गुण द्वारा सद्‌गुण के चरणो में व्यक्त की गयी निष्ठा है। इसलिए जव लोग यह कहते हैं कि यह झूठा सत्याग्रह है, यह दम्भ है, तो मैं उसको गहरी चर्चा में नही जाता। मैं यह देख लेता हूँ कि इस युग का यह लक्षण है कि आज सत्याग्रह की नीति समाज में सुप्रतिष्ठित हो गयी है और क्रान्ति की प्रक्रिया में उसका स्थान अव अविचल हो गया है। आगे आनेवाली क्रान्ति की जो प्रक्रिया होगी, वह सत्याग्रह के अनुरूप होगी। अगर वह सत्याग्रह की ही प्रक्रिया हो, तो सवसे वढकर होगी, यह आज के जमाने का सकेत है।

जागतिक समस्या का स्वरूप

यह है वैचारक भूमिका में जागतिक समस्या का स्वरूप। वाद, विचार और सम्प्रदाय में क्या भेद है ? विचार झरने की तरह नित्य प्रगतिशील होता है। बहता हुआ झरना जैसे प्रवाहशील होता है, वैसे ही विचार में नित्य प्रवाह होता है। गाधी ने कहा कि मेरा 'वाद' और 'सम्प्रदाय' हो ही नही सकता, मेरा तो प्रवाह है। विचार में प्रवाह होता है, उसमें विकास होता है। विचार जब पानी की तरह जमकर वरफ वन जाता है, तव वह सम्प्रदाय या वाद वन जाता है। तव उसमे कठोरता और कठिनता आ जाती है। वरफ के ढेले जैसे फेंककर मारे जा सकते हैं, लगते हैं, चोट करते हैं, वैसे पानी फेंककर नही मारा जाता। इसलिए हम यहाँ जो विचार करेंगे, वह नम्रतापूर्वक, किसी प्रकार का आग्रह न रखते हुए करेंगे। विचार में पहले आग्रह आता है। आग्रह के वाद आक्रमण आ जाता है। आक्रमण में हार और जीत की मनोवृत्ति होती है, जय-पराजय की मनोवृत्ति होती है। हमको किसी विचार की पराजय नही करनी है, और अपने विचार की स्थापना नही करनी है। हमें तो सत्य तक पहुँचना है। मानवीय जीवन का जो सत्य हो सकता है, वहाँ तक हमें पहुँचना है। हम वुद्धि से नम्रतापूर्वक, काम लेंगे। वुद्धि से काम लेने में वाद के वांध की रुकावट है। दूसरी रुकावट यह है कि मनुष्य को 'वुद्धि' का अभिमान तो है, लेकिन इतना अभिमान है कि वह उसका उपयोग नही करना चाहता। भगवान् ने मनुष्य को वुद्धि दी और मनुष्य को भगवान् से शिकायत है कि तूने हमको वुद्धि क्यो दी ? अव हम इसका वदला लेंगे, इसका उपयोग हम कभी नही करेंगे। इस तरह से वुद्धि के खिलाफ विद्रोह करने के लिए वह भगवान् के खिलाफ खडा हो गया है। वुद्धिवादियो का विश्वास या तो सत्ता में है, शस्त्र में है या सम्पत्ति में है। वुद्धिवादी का विश्वास वुद्धि में विलकुल नही रह गया है। यह कोई वास्तविक और यथार्थ वुद्धि-निष्ठा नही है। इसमें से यह एक अन्तर्विरोध पैदा हो जाता है, जो अन्तर्विरोध हमारे अपने व्यक्तित्व मे भी आया है। वह अन्तर्विरोध हमारे व्यक्तित्व में दो आकाक्षाओ के रूप में भी आता है। एक तो, 'एकाकी न रमते'। और दूसरा, 'द्वितीयाद् वै भयं भवति'। इसका प्रतिविम्व सामाजिक परिस्थिति में, अतर्राष्ट्रीय परिस्थिति में आज हथियारवन्द कायरता के रूप में और मनुष्यो के पारस्परिक अविश्वास के रूप में प्रकट है। परिणाम यह है कि विज्ञान तो अतर्राष्ट्रीय हो गया, विज्ञान सार्वभौम हो गया, लेकिन मनुष्यो की सभ्यताएँ और सास्कृतियाँ विज्ञान के साथ कदम नही मिला पा रही है।

सस्कृतियो और सभ्यताओ का सवध मनुष्यो के पारस्परिक सवधो से है। मनुष्यो के पारस्परिक सवध परिस्थिति पर भी निर्भर होते हैं और मनुष्यों की वृत्तियो पर भी

निर्भर होते हैं। इसलिए क्राति का कार्य द्विविध हो जाता है। एक तरफ से परिस्थिति का परिवर्तन और दूसरी तरफ से हमारी मनोवृत्ति का परिवर्तन। परिस्थिति का परिवर्तन करने के लिए जो लोग आगे बढ़ते हैं, उन्हीको 'क्रातिकारी' कहते हैं। उनका अपना मन परिवर्तन अगर न हुआ होगा, उनकी अपनी वृत्ति में अगर परिवर्तन न हुआ होगा, तो परिस्थिति में परिवर्तन करने की क्षमता, योग्यता उनमें नही आ सकती। इसलिए आरम्भ अपने हृदय-परिवर्तन से होता है। हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया ही प्रधान प्रक्रिया है। क्राति की प्रक्रिया के लिए यह गाधीजी की बहुत बडी देन है। जमाने का रुख इस तरफ को है कि अब समस्याओ का समाधान गाधी की प्रक्रिया के सिवा और किसी प्रक्रिया से हो नही सकता। इस अर्थ में इस युग की विभूति गाधी है और यह गाधी का युग है। गाधी हमारे देश का था, हमारा पिता था, गाधी हमारा सगा-सबधी था, इसलिए विशेष प्रेम के कारण हम यह दावा नही कर रहे हैं। लेकिन जब हम यह कहते हैं कि गाधी ही इस युग का युग-पुरुष था, गाधी के पश्चात् समस्याओ का स्वरूप भी एक नये ढग से हमारे सामने पेश होता है, तो हमारा आशय इतना ही है कि अब मनुष्य राज्य-सत्ता, शस्त्र-सत्ता और धन-सत्ता—तीनो सत्ताओ से कुछ ऊपर उठ रहा है। लोगो ने यह सवाल पूछा था कि लीग ऑव नेशन्स और सयुक्त राष्ट्रसघ क्यो असफल हुए? तो उन्होने जवाब दिया, इसलिए कि वे सरकार नही हैं। सवाल हुआ कि "इन्हे सरकार बनाने के लिए क्या करना चाहिए?" तो कहा, "इन्हे फौज दे देनी चाहिए।" "इन्हे फौज—शस्त्र-शक्ति कौन देगा?" "अमेरिका और रूस?" तब तो कौरव-पाण्डवों की द्यूत-क्रीडा की गति होगी। इधर से भीम धमकाता है, उधर से शकुनि चालबाजी करता है। ये पाँसे इस तरह से पलटते चले जायँगे। इसलिए जवाहरलालजी ने वहाँ कहा कि शस्त्र-शक्ति अब हमारी व्यवहार-नीति हो ही नही सकती। वह तो पुरानी चीज हो गयी।

शस्त्र-शक्ति, राज्य-शक्ति और धन-शक्ति मे जिन लोगो का विश्वास था, वे सब-के-सब अब दूसरी किसी मानवीय शक्ति की खोज मे हैं, क्योंकि अब मानवीय मूल्यो की स्थापना करनी है।*

●

* हरिजन-आश्रम, अहमदाबाद के विचार-शिविर में ता० २१-८-'५५ का प्रात -प्रवचन

सर्वोदय के बुनियादी सिद्धान्त : २ :

आज के युग की जो आकाक्षा है, उससे सर्वोदय के लिए अनुकूल वातावरण पैदा हुआ है। उस आकाक्षा की पूर्ति के लिए सर्वोदय के सिद्धान्त और नीति के सिवा दूसरा कोई चारा नही है। सर्वोदय का दर्शन समग्र जीवन के लिए होना चाहिए, निरपेक्ष होना चाहिए और सार्वभौम होना चाहिए। उसमें देश-काल की मर्यादाएँ न होनी चाहिए। लोग कालानुक्रम में और इतिहास के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। यहाँ काल-क्रम और इतिहास की बात नहीं कही जा रही है। कालातीत सिद्धान्त के माने यह है कि सिद्धान्त के विनियोग बदलते रहेंगे, उसे लागू करने की पद्धति में परिवर्तन होता रहेगा, लेकिन सिद्धान्त नही बदलेगा।

सिद्धान्त पारमार्थिक हों

पुरानी भाषा में कहूँ, तो सिद्धान्त पारमार्थिक होना चाहिए, आर्थिक नही। समाज के मूल्य आर्थिक नही होने चाहिए। भौतिक विज्ञान के इस युग मे यह कुछ अटपटा लगेगा। विज्ञान में प्रयोग होता है, खोजें होती है, पर उसमें अन्तिम सिद्धान्त नही मिलते। समाज के मूल्य आर्थिक और केवल भौतिक दृष्टि से वैज्ञानिक भी नही होने चाहिए, बल्कि पारमार्थिक होने चाहिए।

बर्ट्रेण्ड रसेल आज के एक बड़े विचारक हैं। वे वैज्ञानिको, गणित-शास्त्रियो और बुद्धिवादियो में अग्रणी है। राज्यशास्त्र, समाजशास्त्र और नीतिशास्त्र की एक पुस्तक के अन्तिम अध्याय में उन्होंने लिखा है कि आज की दुनिया की समस्या को हल करने के लिए भारतवर्ष को ही आगे आना चाहिए। अपने विवेचन में उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि आदर्श और उद्देश्य नैतिक होने चाहिए। बर्ट्रेण्ड रसेल ने जिसे 'नैतिक' कहा है, उसीको हमारे यहाँ के शास्त्रो ने 'पारमार्थिक' कहा है। शकराचार्य ने 'परमार्थ' की व्याख्या की है, उसका पदार्थ लक्षण बताया है—**'एकरूपेण अवस्थितः यः अर्थः सः परमार्थः।'** 'अर्थ' का मतलब है 'प्राप्तव्य'। 'पुरुषार्थ' यानी पुरुष के लिए जो 'प्राप्तव्य' है। 'परम अर्थ' यानी ऐसी प्राप्य वस्तु, जो सदा एक रूप मे अवस्थित रहती है, जिसमें परिवर्तन नही होता। वादो में बँधे हुए सिद्धान्तो की बात छोडिये। प्रत्यक्ष समाज के मूलभूत सिद्धान्त त्रिकालाबाधित, सार्वभौम और सार्वकालिक होने के कारण पारमार्थिक होते है।

'सर्वोदय' का अर्थ

'सर्वोदय' शब्द भले ही नया हो, पर उसका अर्थ 'सबका जीवन साथ-साथ सम्पन्न हो', इतना ही है। जीवन का अर्थ है विकास, अभ्युदय या उन्नति। सबका सह-विकास हो, इसलिए 'सर्वोदय'। लेकिन पुराने जमाने में 'अभ्युदय' शब्द का प्रयोग 'ऐहिक वैभव' के अर्थ तक ही सीमित था। इसलिए गाधीजी ने केवल 'उदय' शब्द का प्रयोग किया। एक साथ समान रूप से सबका उदय हो, यही सर्वोदय का उद्देश्य है।

सब लोग जिये और एक-दूसरे के साथ-साथ जियें। शास्त्रीय परिभाषा में 'जीवन का विकास और जीवन का अधिक-से-अधिक विस्तार'। हमने जीवन को परम मूल्य माना है। इसमे किसीका झगडा नही है। हर वाद के अनुसार यही परम मूल्य हो सकता हैं। दुनिया में जीवन का विकास और विस्तार करना है, इस विषय में चाहे आस्तिक हो या नास्तिक, अर्थवादी हो, भौतिक विज्ञानवादी हो या राजनीतिज्ञ, किसीको कोई आपत्ति नही होगी। सब इसे मानेंगे।

सर्वेऽपि सुखिन: सन्तु

हम चाहते है कि सबका जीवन सम्पन्न हो, सौफी-सदी का जीवन सम्पन्न हो। यहाँ पर आज तक के सिद्धान्तवादियो और सर्वोदय के विचारको में मूलत अतर होगा। दूसरे सिद्धान्तवादी कहते है कि होना तो यह चाहिए कि सौफी-सदी की भलाई हो, पर वह व्यवहार्य नही है, इसलिए आपका सर्वोदय इच्छा या आकाक्षा हो सकता है, उसका व्यवहार में विनियोग करना असम्भव है। पर हमारा यह दावा है कि सर्वोदय जीवन का केवल एक दर्शन या वृत्ति ही नही, वह व्यवहार की नीति भी है। वह दर्शन है, मनोवृत्ति है और व्यवहार की नीति भी है। इसलिए अगर यह आक्षेप किया जाता है कि सबका समान रूप से सुखी होना, सम्पन्न होना असम्भव है, तो उसका विचार गभीरतापूर्वक करना चाहिए।

मनुष्य के आदर्श के सकल्प में सबका समावेश होना चाहिए। सकल्प आशिक या छोटा न हो, समग्र हो। सबका भला हो, सबका कल्याण हो, सौ में से ९९ या ९८ का नही, 'सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु' यही सकल्प होना चाहिए। इसे आदर्श कहा है।

मनुष्य का आदर्श उसकी पहुँच में होता है, उसकी पकड में नही। इसीमे प्रगति के लिए अवसर है।

प्रगति और आदर्श

प्रगति क्या है? सिर्फ गति, प्रगति नही है। विशिष्ट दिशा में कदम बढाना,

अपने मुकाम की तरफ कदम बढाते जाना, यह है 'प्रगति'। जाना स्टेशन है और कदम जेल की तरफ बढते हैं, तो हम उसे प्रगति नही कहेंगे। व्यवहार का आदर्श की तरफ बढना 'प्रगति' है। आदर्श के विरुद्ध गति होती है, तो उसे 'प्रतिगति' कहते हैं। 'प्रगतिशील' और 'प्रतिगामी' शब्द बार-बार आयेंगे। इसलिए 'प्रगतिशील' और 'प्रतिगामी' का अर्थ समझ लेना चाहिए। 'प्रगतिशील की परख क्या है ?' पूछने पर हरएक वादवाला कहता है कि "हमारी किताब में जो लिखा है, उसके जो अनुकूल है, वह है प्रगतिशील और जो प्रतिकूल है, वह है प्रतिगामी।" जो मेरा है, वह है धर्म-विचार और जो दूसरा कहता है, वह है पाखण्ड। भाषा से 'अस्मत्' 'युष्मत्' प्रत्यय निकाल दीजिये। मैंने ये शब्द शकराचार्य के भाष्य से लिये हैं। उन्होंने लिखा है कि ये 'अस्मत्', 'युष्मत्' प्रत्यय ही परमार्थ भाव में बाधा देते हैं।

आदर्श क्या है ? यही कि दु खी कोई न हो, सब सुखी हो। यह अप्राप्य नही है, असाध्य भी नही है, प्रयत्नसाध्य है। प्रयत्नसाध्य है, इसीलिए आचरण की आवश्यकता है। ऐसा प्रयत्न ही सदाचार है। स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप की कल्पना छोडकर और विचार करें। मनुष्यमात्र को सुखी बनाने का हमारा सकल्प है। उसकी तरफ जो ले जाता है, वह 'सदाचार' है और उसके विरुद्ध जो ले जाता है, वह 'दुराचार' है, 'अनाचार' है।

सर्वोदय की परिभाषा

निरन्तर प्रगति के लिए अवसर रहे, इसलिए आदर्श की ऊँचाई होती है। मनुष्य का आदर्श इतना ऊँचा हो कि उसका सारा जीवन प्रगतिमय ही रहे। गाधी से किसीने पूछा कि "तुम्हारी अहिंसा की परिभाषा क्या है ?" गाधी बेचारा तो शब्दो और परिभाषाओं का स्वामी था नहीं। उसने परिभाषा तो नही की, पर तुलना की—यूक्लिड के 'बिन्दु' से। बिन्दु के 'स्थिति' है, पर 'लम्बाई-चौडाई' नही है। परिभाषा के अनुसार बिन्दु तो नही बनाया जा सकता। पर परिभाषा के बिना बिन्दु ही नही बन सकता। इसको जरा समझने की कोशिश करें।

मान लीजिये कि एक लड़के से कहा कि "कम-से-कम लम्बाई-चौडाईवाला बिन्दु बनाओ", तो उसने खडिया से बनाया। मास्टर ने कहा कि "ऐसा कैसा बनाया ? इसे तो लंबाई-चौडाई है।" तब मास्टर ने डण्डे से बनाया। लडके ने कहा, "इससे तो मेरा ही सही था।" तो मास्टर ने कहा, "अरे, देखता नही है ? मेरे हाथ मे डण्डा है, फिर भी कहता है ?" किसीने कहा, "मेरी पेंसिल खडिया से बारीक है", तो किसीने कहा कि "सूई से बनायें।" फिर भी लबाई-चौडाई तो रही ! जिसकी जैसी भूमिका

होगी, जिसका जैसा उपकरण होगा, वैसा उसका विन्दु वनेगा। इसलिए परिभापा मे तो पूरा ही कह देना चाहिए, कम-से-कम नही, अधूरा नही। सर्वोदय का सकल्प अल्प नही है, महान् है। केवल महान् ही नही है, समग्र है।

जितना जीवन है, वह सारा-का-सारा ईश्वर से भरा हुआ है'—**ईशावास्यमिदं सर्वम्**'। इसलिए सम्पूर्ण जीवन सम्पन्न करना, हमारा मुख्य काम होगा। आदर्श 'अप्राप्य' नही है, 'अप्राप्त' है। अप्राप्त क्यो ? क्योकि निरन्तर प्रगति होती है। वह इतना व्यापक है कि सबके लिए समान रूप से लागू होता है।

संस्कृत होने की कसौटियाँ

अब दूसरी तरह से सोचिये। कोई समाज सस्कृत है या असस्कृत है, इसकी परख क्या ? अपना देश होने के कारण पक्षपात कर रहा हूँ, ऐसा नही। एक उदाहरण के रूप में कहता हूँ। हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में जो राज्य-व्यवस्था है, वह अच्छी है या बुरी है, इसकी परख क्या है ? पाकिस्तान मे हिन्दुओ के साथ कैसा व्यवहार किया जाता है, उससे उनकी परख होगी और हमारी कसौटी यह होगी कि हमारे यहाँ मुसल-मानो के साथ हमारा व्यवहार कैसा रहता है। अच्छी राज्य-व्यवस्था की कसौटी यह हुई कि जहाँ अल्प-सख्या सुखी है, वह राज्य-व्यवस्था अच्छी है। यहाँ बहुसख्यावाद भी गया और अधिक-से-अधिक सख्यावाद भी गया।

अल्पसंख्यकों की स्थिति

एक गाँव मे सौ घर है। ९८ सवर्णो के हैं, २ हरिजनो के। अब उस गाँव के लिए सभ्यता-असभ्यता की कसौटी क्या होगी ? वे दो हरिजन घर सुखी, सुरक्षित और स्वतन्त्र रह सकते है, यही न ? यदि २ दु खी और ९८ सुखी रहे, तो क्या नुकसान है ? उस सुख मे बहु-सख्या तो है, पर व्यापकता नही है। व्यापकता और विशालता में फर्क है। विशालता का अर्थ प्रचण्डता, बडा पैमाना, होता है। बडे पैमाने के लक्षण है, प्रचण्डता और अजस्रता। आकार की विशालता अलग चीज है और व्यापकता अलग। सर्वोदय मे व्यापकता है। सबका उदय चाहिए। सबका कहने से व्यापकता का भाव आता है। व्यापकता का अर्थ ही यह है कि उसमें सबका समावेश होता है, केवल बहु-सख्या का नही।

स्त्रियों-बालकों की स्थिति

एक और कसौटी लीजिये। अक्सर हम पूछते है कि उस समाज में स्त्रियो और बच्चो की क्या व्यवस्था है ? इसमे परम्परा का हिस्सा है। मै तो चाहता हूँ कि स्त्रियो

के विषय में आज ऐसा प्रश्न ही नही रहना चाहिए। स्त्री परम्परा से कमजोर समझी जाती है और विशेष व्यवस्था के योग्य मानी जाती है। अत' स्त्री और बालक का नाम लिया। भगवद्गीता ने भी 'स्त्री-वैश्य-शूद्र' की एक श्रेणी मानी है। भाष्यकार तो एक कदम और आगे बढ गये हैं और "स्त्री-पशु-शूद्रादिकानाम्" कहते है। हम स्त्रियो की संख्या का यहाँ विचार नही करते। 'सर्वोदय' की बात छोड दें, चाहे जिस 'वाद'-वाला हो, वह ऐसा कभी नही सोचेगा कि जहाँ स्त्रियो की सख्या कम है, वहाँ स्त्री का विचार नही होना चाहिए। सर्वोदय का विचार सार्वभौम है। सौ फी-सदी का भला यदि अव्यवहार्य है, तो आप अपने से पूछिये कि क्या आपकी बुद्धि यह कबूल नही करती कि दो हरिजनो का भी भला होना चाहिए ?

स्त्रियो और बालको की सख्या कम है, फिर भी क्या सभ्य समाज में उनका विचार नही होता ?

रोगी-बीमारों की स्थिति

हम यह देखते है कि समाज में दवाखाने कितने है, विद्यालय कितने है, अपराधियो के साथ कैसा व्यवहार किया जाता है, अपराध-चिकित्सा का क्या प्रबन्ध है ? आपको यदि बहुसख्यको का ही विचार करना है, तब तो बीमारो का विचार ही नहीं करना चाहिए। उनकी सख्या तो कम रहती है। तब उनका विचार क्यो करते है ? स्कूल क्यो खोलते है ? अनपढो को पढाने के लिए ही न ? अपराधियो की सख्या सबसे कम होती है। फिर उनके विषय में क्यो सोचते है ?

इसीलिए कि आप यह देखना चाहते है कि असमर्थ को समर्थ बनाने की योजना समाज में क्या है ? यह सभ्य समाज का लक्षण है। यह हुई तीसरी कसौटी।

अन्धों-बहिरों की स्थिति

चौथी कसौटी भी तीसरी से निष्पन्न होती है। आप पूछते है कि क्या आपके समाज में अन्धो, बहरो और गूँगो के लिए कोई व्यवस्था है ? इनकी सख्या क्या है ? इनके इन्तजाम की कोई जरूरत है ? क्या इनमे से एक भी प्रश्न आर्थिक है ? सब पारमार्थिक प्रश्न है। 'परमार्थ' का नाम लेना, न लेना अलग बात है। मानवीय कह लीजिये। समाज में इन्ही मानवीय मूल्यो की स्थापना के लिए सर्वोदय है।

एक शब्द में कहना हो, तो जैसा कि हमारे पूर्वपुरुषो ने कहा था, हम कहेंगे—अद्वैत की स्थापना। अद्वैत हमारा आदर्श है। समन्वय हमारी नीति है। समन्वय साधन है और अद्वैत साध्य है।

समन्वय का अर्थ किया गया है—विरोध का परिहार। विरोध, निराकरण, विरोध-परिहार। अन्तर्विरोधो के निराकरण को ही 'क्राति' कहते है। समाज में जो विरोध है, उनका परिहार ही क्राति का उद्देश्य है। भगवद्गीता ने अविरोध की स्थापना को 'समत्वयोग' कहा है, विनोबा ने इसे 'साम्ययोग' नाम दिया है—यह समत्व की तरफ जाने की विद्या भी है और योग भी है। आज की परिभाषा मे समाज में जितने विरोध है, उनका निराकरण ही क्राति है। उसके बाद सर्वोदय की स्थापना होती है।

इस प्रकार सकल्प हमारा समग्र है। हम इसमें सबका समावेश करते है, किसीको छोडते नही। बहुसख्या और अल्पसख्या का भी कोई भेद नही करते, इसमें सख्या का विचार ही नही होता। इस प्रकार हमारा यह सकल्प व्यापक है।

आदर्श ऊँचा है, अप्राप्त है, पर प्रयत्नसाध्य है, असाध्य नही है। अत हमारे लिए निरन्तर प्रगति का अवसर है।

आदर्श की ओर व्यवहार का कदम बढाना ही प्रगति है।

(१) राजनीतिक अल्पसख्यको की क्या स्थिति है ? जहाँ अल्पसख्यक सुखी है, वह समाज सभ्य है।

(२) स्त्री-बालको का स्थान क्या है ?

(३) समाज में जो असमर्थ, बीमार, अपराधी है, उनकी क्या व्यवस्था है ? और

(४) जो लोग अपाहिज, अपग, प्रकृति से ही विकलाग है, उनकी क्या व्यवस्था है ?

तात्पर्य यह कि मानवकृत विषमता का हम निराकरण करेंगे और प्राकृतिक विषमता की उग्रता को घटायेंगे। यह विरोध-परिहार कहलाता है।

डार्विन का सिद्धान्त

प्रश्न है कि इसमें मनुष्य कहाँ आता है ? डार्विन बेचारा नाहक काफी बदनाम हो चुका है। डार्विन ने कहा है कि जीने के लिए जो सबसे अधिक उपयुक्त होंगे, वे ही जियेंगे। समझा यह जाता है कि सबसे उपयुक्त वह है, जो सबसे तगडा है। इसे 'मत्स्यन्याय' कहा जाता है, जिसमें बडी मछली छोटी मछली को खा जाती है। वस्तु-स्थिति और सिद्धान्त मे फर्क होता है। वस्तुस्थिति जीवन का सिद्धान्त नही बन सकती। वस्तुस्थिति की सिद्धान्त की दिशा मे प्रगति ही 'संस्कृति' है।

मनुष्य : एक अक्षम प्राणी

यहाँ से प्रश्न किया जा सकता है कि यदि सबसे तगडा ही जी सकता है, तब तो

हाथी को ही जीना चाहिए। जीने के लिए मनुष्य से अधिक अक्षम प्राणी और कौन है ?

पशुओं में एक बार मनुष्य पर अनुकंपा प्रकट करने के लिए एक सभा हुई। बाघ ने कहा, "न इस बेचारे के पास नाखून हैं, न दांत। भगवान् ने बेचारे को कैसा निहत्था बनाया है!" पक्षी ने कहा, "चोंच और पंख नहीं हैं, बेचारा उड भी नहीं सकता!" हरिन ने कहा, "मेरे जैसे सुन्दर सींग भी उसके पास कहाँ हैं? न तेज पैर ही हैं। मनुष्य को उसने ऐसा क्यों बनाया ?"

भगवान् ने और प्राणियों को बनाने में तो अपनी कला का परिचय दिया, पर मनुष्य को बनाने में तो बिलकुल ही लापरवाही बरती है। मनुष्य किसी भी नैसर्गिक साधन से सम्पन्न नहीं है। फिर भी मनुष्य हाथी पर सवारी करता है, हाथी मनुष्य पर नहीं करता। हाथी पर मनुष्य चढता है, तो आप कहते हैं कि यह स्वाभाविक है। ठीक ही हो रहा है। अगर इसका उल्टा हो जाय, तो लोग उसे दुर्घटना कहते हैं। पहली बात स्वाभाविक है दूसरी है दुर्घटना।

ऐसे समाज में यदि आदमी यह कहे कि जीने के योग्य तो वही है जो सबसे अधिक तगडा है, तो इसे उसकी बुद्धि की बलिहारी नहीं तो क्या कहेंगे ?

हक्सले का सिद्धान्त

विज्ञान एक कदम आगे बढा। उसने कहा कि मनुष्य से समाज बनता है, इसलिए सिर्फ तगडा ही नहीं जीता, वे ही लोग जीते हैं, जो दूसरे को जीने देते हैं। तो हमारे समक्ष दो सिद्धान्त आये—

१. दूसरों को खाकर जिओ।

२. जिओ और जीने दो।

यह है सह-अस्तित्व का सिद्धान्त।

अस्पताल में एक स्त्री को बच्चा पैदा हुआ। वह रो रहा था। माँ उसकी तरफ पीठ फेरकर सो रही थी। नर्स ने आकर पूछा, "यह क्या है ?" तो उसने कहा, "मैंने समाज-शास्त्र पढा है, जीती हूँ, और जीने देती हूँ। मैं कहाँ हस्तक्षेप करती हूँ ?"

यह सिद्धान्त भावरूप नहीं है, इसलिए वह समाज-धारणा का सिद्धान्त हरगिज नहीं बन सकता।

सर्वोदय का सिद्धान्त

तब, तीसरा सिद्धान्त आया कि तुम जिलाने के लिए जिओ।

मैं जब नारायण को जिलाने के लिए जिऊँ और नारायण दादा को जिलाने के लिए

जियें, तब सबका जीवन सम्पन्न होगा, और 'जिलाने के लिए जिओ' चरितार्थ होगा । यही 'सर्वोदय' है ।

दूसरे जियें, इसलिए तुम जिओ, यहाँ से सामाजिकता का श्रीगणेश होता है । क्या यह विज्ञान के खिलाफ है ? अवैज्ञानिक है ?

विज्ञान क्या कहता है ? जूलियन हक्सले ने अपनी Man in the Modern World नामक पुस्तक में लिखा है, केवल मनुष्य का ही समाज ऐसा होता है, जिसमें बूढा नेता बन सकता है । सिंह, भैंसे आदि पशुओं में बूढा नेता नही बनता । लेकिन मनुष्य के समाज में ८० साल का बूढा चर्चिल, लँगडा-लूला रूजवेल्ट नेता बन सकता है, गाधी नेता बन सकता है, विनोबा नेता बन सकता है, नेहरू नेता बन सकता है । ये लोग क्या कोई किंगकाग हैं ? बडे तगडे हैं ? इनमें से किसीको जीने का अधिकार भी है ? यह मनुष्य की जीव-विज्ञान की दृष्टि से विशेषता है कि उसमें बूढा नेता बन सकता है । मनुष्य की विशेषता बुद्धि है और मनुष्य की शक्ति का स्थल बुद्धि ही है—**'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य ।'**

यह आत्मशक्ति, मनोबल या बुद्धिबल वस्तुत एक ही चीज है । यह शरीर-शक्ति से भिन्न, बाहुबल से भिन्न एक असीम, अमर्याद शक्ति है, जो शरीर के साथ क्षीण नही होती । यह देह-नश्वरवाद की बात नही, प्राणिशास्त्र से ही सिद्ध बात है । हाँ, अच्छे, सुन्दर, सुडौल शरीर की आवश्यकता है, उसका महत्त्व है, क्योंकि शरीर शक्ति का आयतन (मकान) है, अधिष्ठान (आधार) नही है । यह तो एक मकान है, जहाँ शक्ति रहती है । विज्ञान ने यहाँ तक लाकर हमें पहुँचा दिया है ।

अहिंसक वीरता

गाधीजी के सलाहकारो में एक महान् नेता थे, जो अब नही रहे । उन्होंने एक बार हमसे कहा कि "आप जब अहिंसा की बात कर रहे हैं, तब विज्ञान को नही देखते । आप युद्ध का निषेध करते है, सैनिक शिक्षण का निषेध करते हैं । तब फिर बहादुरी के लिए अवसर कहाँ रह जाता है ?"

मैंने नम्रतापूर्वक पूछा, "विज्ञान के युग में कहाँ है वीरता का स्थान ? अब तो ऊपर से बम गिराये जाते हैं । इसलिए मैं भी शिवाजी और राणा प्रताप की तरह शहीद और वीर बन सकता हूँ । मेरी बूढी माँ हो, कोई बीमार बच्चा हो, क्षयरोगी हो, सब वीरगति को प्राप्त हो जायेंगे ।"

तब उन्होंने कहा, "तुमने कभी यह भी सोचा है कि १० हजार फुट की ऊँचाई

पर हवाई जहाज के टूटने पर जो गुब्बारे से उतरता है, उसमें कितनी वीरता है ?"

मैंने कहा, "हाँ, हम कब नही मानते ? यही तो अहिंसक वीरता है। विज्ञान का उपकार है कि उसने हिंसक वीरता के लिए अवसर ही नही रखा। एक लडकी भी कोवाल्ट बम गिरा सकती है और हजारो को मार सकती है। विज्ञान के जमाने में मारने में वीरता ही नही रह गयी, रह गयी है सिर्फ क्रूरता। आज तो तेनसिंग के एवरेस्ट की चोटी पर चढने की ही वीरता के लिए अवसर रह गया है। समुद्र की तह मे जाने-वाला, आग बुझानेवाला जो वीरता दिखाता है, उससे अधिक वीरता के लिए आज अवसर ही नही रह गया है।

विज्ञान की बदौलत, भगवान् की कृपा से सिवा अहिंसक वीरता के, और किसी वीरता के लिए अवसर ही नही है। वैज्ञानिक वीरता असिहक वीरता होगी।

अक्षम को सक्षम बनाना

विज्ञानवादी जूलियन हक्सले ने कहा है कि प्राणि-विज्ञान के अनुसार मनुष्य की विशिष्ट शक्ति शरीर से अलग है और वह है, उसकी बुद्धि। इस तरह 'मत्स्यन्याय' गया, 'जिओ और जीने दो' गया, सिर्फ 'जिलाने के लिए जिओ' का सूत्र रह गया। उसका समाज मे क्या रूप होगा ? जो अक्षम हैं, उन्हे सक्षम बनाना। भगवान् ने सृष्टि में एक विशेषता रखी है, वह यह कि हरएक को उसने हर तरह से समर्थ नही बनाया। कोई आदमी एक बात मे समर्थ होता है, तो दूसरी बात में नही होता है।

एक पण्डितजी थे—दशग्रन्थी, षट्-शास्त्रसम्पन्न, विद्वान्। नाव मे बैठकर मल्लाह से बात करने लगे। उसे निरक्षर पाकर पण्डितजी ने कहा, "अरे, इतनी सारी उम्र गँवायी और एक अक्षर भी पढना नही सीखा ?"

मल्लाह पण्डितजी को पार उतारने लगा। बाढ तेज थी। नाव डगमगाने लगी। पण्डितजी घबडाये। कहने लगे, "भैया, सँभल के खेना। जान खतरे में है।" मल्लाह बोला, "पण्डितजी, डूबेगी तो नाव डूबेगी। हमें क्या खतरा है ?" पण्डितजी ने कहा, "मै तो तैरना नही जानता।" तो मल्लाह ने कहा, "पण्डितजी, उम्रभर इतनी विद्या सीखे, फिर भी अपनी जान बचाने की विद्या आप नही सीखे !"

हर्बर्ट स्पेन्सर ने कहा है कि हमे पहले अपनी जान बचाने की विद्याएँ, प्रत्यक्ष आत्मरक्षण की विद्याएँ सीख लेनी चाहिए। उसने प्रत्यक्ष आत्मरक्षण की विद्याएँ बतलायी हैं—"पानी मे मत डूबो, अपने हाथ से रसोई बना लेना सीखो।"

समर्थता और असमर्थता, दोनो सबमें बँटी है। दूसरो की अक्षमता का निराकरण और अपनी-अपनी क्षमता का विकास; यह प्रक्रिया पारमार्थिक विज्ञान से फलित होती है।

'द्वितीयाद् वै भयं भवति' इस भय का निराकरण कैसे हो? दूसरो से डर कब नही रहेगा?—जब दूसरा 'अपना' बनेगा। गीताजलि में गुरुदेव ने कहा था:

'दूरके करिले निकट बंधु
परके करिले भाई।'

सभ्यता की प्रक्रिया यही है कि दूसरो को निज का बनाना, अपना बनाना। अभेद की, अद्वैत की स्थापना करना। यही सर्वोदय का, समाज-शास्त्र का सिद्धात है। सर्वोदय का अर्थ है सबका—तुम्हारा और हमारा ही नही—सबका उदय।

जो-जो लोग प्रगति या सभ्यता चाहते है, उन सबका यही सिद्धान्त है। दूसरा हो ही नही सकता।

तो "**हमारा परम मूल्य जीवन है। जीवन को सर्वत्र संपन्न बनाना है। सबके जीवन को संपन्न बनाना है।**"

प्रश्न है कि हमारी नीति क्या हो? यही कि हम एक-दूसरे का जीवन संपन्न करे।

हमारा कर्तव्य क्या हो? यही कि आपका जीवन मैं सपन्न करूँ और आप मेरा जीवन सपन्न करे।

जीवन सपन्न करने के लिए आवश्यकता किस बात की है?

इसके लिए आपकी असमर्थता का निवारण और मेरी क्षमता का विकास करना आवश्यक है। मेरी क्षमता का विकास किसमें है? वह है, आपकी असमर्थता का निराकरण करने में। सामाजिकता इसीमें है।

जब तक आपकी असमर्थता के निवारण के लिए मै प्रयत्न न करूँ, तब तक मेरी समर्थता का विकास हो नही सकता।

मेरी क्षमता का विकास ही आपकी अक्षमता के निराकरण में है। इसीसे सर्वोदय की समाज-रचना के और कुछ आधारभूत मूल्य निकलते हैं।

प्रेम : अहिंसा

परममूल्य जीवन है। एक-दूसरे का जीवन सपन्न करना है। परस्पर भयरहित होना है। अत एक आधारभूत मूल्य हो जाता है—प्रेम!

लोग कभी-कभी पूछते है कि 'अहिंसा' शब्द निषेधात्मक है, आप भावात्मक शब्द क्यो नही इस्तेमाल करते? इसके पीछे भी विचार की एक सूक्ष्मता है। सत्य

को छोडकर आचरण के जितने नियम हैं, उनमे निषेधात्मक शब्द का प्रयोग अधिक है। सत्य ही एक भावात्मक पारमार्थिक अन्तिम मूल्य है।

किसीने गाधी से पूछा कि 'सत्य और अहिंसा के बीच चुनाव करने का मौका आये, तो आप क्या करेंगे ?' गाधी ने कहा, 'मैं सत्य का पुजारी हूँ और उसीकी उपासना से मुझे अहिंसा प्राप्त हुई है। सिवा अहिंसा के सत्य का पालन हो ही नही सकता, ऐसा मैंने देखा है।' सत्य के पालन से मतलब यहाँ उपलब्धि से है। अन्य व्रत-नियमादि की तरह सत्य का पालन नही किया जाता। वह तो अन्तिम वस्तुस्थिति है। अहिंसादिक के पालन से उसकी उपलब्धि होती है। सत्य ही अन्तिम मूल्य है। उसका पालन अहिंसा से शुरू होता है।

हिंसा के लिए कारण की आवश्यकता पडती है, अहिंसा के लिए कारण की जरूरत नही पडती। अहिंसा और प्रेम मनुष्य का स्वभाव है। हम सब यहाँ बैठे हैं और मान ले, बाहर शोर हुआ। नारायण जाकर देखता है कि क्या हुआ ? तो सुनता है कि एक आदमी ने दूसरे को तमाचा मार दिया। वह उससे पूछता है कि "भाई, तुमने तमाचा क्यो मारा ?" तब वह कारण बताता है कि "वह मुझे गन्दी गालियाँ बक रहा था।"

हम सब यहाँ बैठे-बैठे शान्ति से अपना काम कर रहे हैं। तो कोई आकर यह नही पूछता कि "क्यो तुम लोग एक-दूसरे को तमाचा नही मारते हो ?" हिंसा के लिए कारण चाहिए, अहिंसा के लिए कारण या कैफियत नही देनी पडती है। अहिंसा और प्रेम मनुष्य का स्वभाव है। जिसके लिए कारण चाहिए, उसके लिए नियम बनाये हैं। जिनके कारण देने पडते हैं, उन विकारो का जब निराकरण हो जाता है, तो प्रेम अपने-आप प्रवृत्त हो जाता है। प्रेम स्वभाव है। बाधा के हटते ही स्वभाव निखर आता है। तो ये जो हटाने की चीजें हैं, जिनका नियमन करना है, उनके लिए अभावात्मक शब्दो की योजना की गयी है। प्रेम स्वभाव है। उसके लिए 'क्यो ?' प्रश्न नही होता।

शकराचार्य से पूछा गया कि "सन्यास क्या है ? हम क्यो सन्यास लें ?" तो उन्होने कहा, "वह तो हमारा स्वभाव है। वह लेना नही पडता। लेना पडता, तब तो वह स्वय कर्म हो जाता। सन्यास तो स्वरूपावस्थान है। भला-बुरा, कोई भी कर्म करने की वासना का प्रयोजन न रहे, उसे 'सन्यास' कहते हैं।" वही अविकारी प्रेमस्वरूप की स्थिति है। परतु अच्छा काम क्यो छोडें ? अच्छा काम तो इसलिए करते हैं कि बुरा करने की प्रवृत्ति न हो। परन्तु अच्छे की भी वासना छोडने पर जो बचता है, वह हमारा असली स्वरूप है, वह 'संन्यास' है। अपने उपनिषद्-भाष्य में उन्होने सन्यास की यह व्याख्या की है। स्वरूप वह है, जिसके लिए निमित्त की आवश्यकता नही है। हिंसा

के लिए निमित्त की आवश्यकता है। जो नित्य है, वह स्वरूप है। जो नैमित्तिक है, वह स्वरूप नही है। वह विकार है। हमे समाज से हिंसा के कारणो का निराकरण करना है और मनुष्य के मन से हिंसा का निराकरण करना है। इसलिए अभावात्मक शब्द अहिंसा आया है। वह भावरूप नही है।

मनुष्य का स्वभाव

तब प्रश्न उठता है कि मनुष्य का स्वभाव क्या है ?

जो नित्य होता है, निरपवाद होता है, वह स्वभाव होता है। सूर्य का स्वभाव प्रकाश है। अग्नि का स्वभाव उष्णता है। उष्णता से निवृत्त होते ही अग्नि नष्ट होती है। प्रकाश का निराकरण होते ही सूर्य नष्ट होता है। 'स्वभाव' ऐसी चीज है, जिसका निराकरण नही हो सकता। 'मनुष्य-स्वभाव' क्या है ?

सभी जानते हैं कि सज्ञा के साथ जब विशेषण जोड दिया जाता है, तब उसका अर्थ मर्यादित हो जाता है। 'स्वभाव' याने पत्थर, वनस्पति आदि से मनुष्य तक सारी जड-चेतन चीजो का स्वभाव। 'प्राणि-स्वभाव' याने पशु-पक्षी, मनुष्यादि का स्वभाव। 'मनुष्य-स्वभाव' का अर्थ है—इन दूसरे प्राणियो से मनुष्य का जो विशेष स्वभाव है वह—जो उसका विशेष लक्षण है, उसकी विशेषता है, वह। **असाधारणो धर्मो लक्षणम्।** उसे मनुष्य का पृथक् लक्षण कहते हैं। स्वभाव अनिराकरणीय है। उसका हम निराकरण नहीं करना चाहते। प्रश्न है कि हम हिंसा का निराकरण चाहते हैं या नही ? द्वद्वात्मक भौतिकवाद कहता है कि "सघर्ष मनुष्य का स्वभाव है। यदि मनुष्य-स्वभाव मे सघर्ष है, इतिहास भी वर्ग-सघर्ष की ही कहानी है, तो सवाल यह है कि फिर आप सघर्ष का निराकरण क्यो करना चाहते हैं ?"

जो स्वभाव है, उसके बारे में कुतूहल नही होता। मान लीजिये कि कोई अखबार छापता है कि अहमदाबाद मे आज एक भी चोरी नही हुई। तो लोग कहेंगे कि चोरी नही हुई, तो अखबार ही क्यो छापता है ? चोरी हुई, तो वह खबर हो सकती है। चोरी नही हुई, तो क्या खबर हुई ? यदि युद्ध मनुष्य का स्वभाव होता, तो युद्ध की वार्ता मे कोई रम्यता न होती। पनघट पर स्त्रियाँ लडे, तो सब देखने के लिए जाते हैं। नारायण और हम लड़ते नही, किसीको कुतूहल नही होता। लडते है, तो लोग दौड़े आते है और झगडा मिटाने की चेष्टा करते है। कहते है, झगडा मिटाने के लिए ही है। अब जो मिटाने की वस्तु है, उसीको कोई स्वभाव कहे, तो फिर हम उसे क्या कहे ! मनुष्य सघर्ष को मिटा देना चाहता है, इसलिए सघर्ष मनुष्य का स्वभाव नही

है। संघर्ष यदि मानव-इतिहास है, तो वह मनुष्य के स्वभाव का इतिहास नही है, बल्कि उसके दोषो का इतिहास है, स्वभाव की प्रतिकूलताओ का इतिहास है।

मिलाप बनाम संघर्ष

कुछ अन्य लोगो का कहना है कि सघर्ष सृष्टि का नियम है। पत्थर टकराये और अग्नि निकली, तो वे कहते हैं—देखो, यह पत्थरो का सघर्ष हुआ ! अगर इस प्रकार हर मिलाप को 'सघर्ष' कहते चले जायँ, तो बडी मुश्किल होगी। यह सब तो अपने मनो-भावो का सृष्टि पर आरोपण है। विनोबा ने एक जगह मजाक मे कहा है कि "बच्चे के मुँह और माता के स्तन मे सघर्ष हो रहा था।" जितनी नैसर्गिक घटनाएँ घटती है, उन सबको यदि हम 'सघर्ष' का नाम दें और उसे आप वस्तुनिष्ठा कहें, तो यह ठीक नही है। दो वस्तुओ के मिलन से तीसरी निकलती है, तो उसे 'मिलाप' कहें, 'सघर्ष' क्यो कहें ? यह तो एक वाक्प्रयोग हुआ—भाषा का प्रयोग हुआ। यह कोई नियम नहीं है।

विज्ञान ने हमें स्वभाव की यह कसौटी दी है कि जिसका हम निराकरण नही चाहते, वह स्वभाव है। अब इसे मूल्य के लिए हम लागू करें। जिसका निराकरण करना चाहते हैं, वह अशाश्वत मूल्य है, सापेक्ष मूल्य है और जिसका हम निराकरण करना नही चाहते हैं, वह शाश्वत, निरपेक्ष मूल्य है। अहिंसा का अधिष्ठान शाश्वत मूल्यो में है।

हमे मानवीय मूल्यो की स्थापना करनी है। इसलिए हमने मानव-स्वभाव की चर्चा की और कहा कि मनुष्य का स्वभाव प्रेम है। मनुष्य द्वेष का निराकरण चाहता है, चाहे वैरी को मारकर या वैर को मिटाकर। प्रेम जब जीवन का मूल्य होता है, तो उसमें श्रीअरविन्द, रमण महर्षि, कृष्णमूर्ति आदि सब आपके साथ हैं। वह विकारमूलक मूल्य रहा, तो वह कॉलेज, सिनेमा की जीवन-क्रीडा का विषय हो जाता है।

सह-जीवन ही सह-मरण

तब जवाहरलाल नेहरू ने क्या कहा ? उन्होंने कहा कि अगर हम सह-जीवन की बात नही कर सकते तो खैर, सह-मरण की ही करें। सह-मरण का अर्थ एक साथ सबका लडकर मर जाना नही है। वह तो दुर्घटना होगी। सह-मरण में ऐसा सकल्प रहेगा कि हम साथ-साथ मरेंगे। यदि ऐसा सकल्प एक बार हो जाय, तो उसका अन्त सह-जीवन मे ही होगा।

हमारे नागपुर में एक तालाव है। उसे प्रेमियो का तालाब कहते हैं। प्रेम में

निराश युवक-युवती उसमें साथ-साथ मरने के सकल्प से कदते हैं। उनका सकल्प होता है कि साथ जियेंगे या साथ मरेंगे। तो, साथ-साथ मरने के सकल्प में मूल आकाक्षा साथ-साथ जीने की होती है। यह तो वैषयिक प्रेम की वात हुई। पारमार्थिक प्रेम सख्य भक्ति है।

यह जो प्रेम है, वह मनुष्य के स्वरूप का निरपेक्ष मूल्य है। गाधीजी की अहिंसा को इस माने मे प्रेम-दर्शन कह सकते हैं। प्रेम हमारा स्वभाव है, क्योकि प्रेम मे आनन्द है, द्वेष में बेचैनी है। प्रेम का निराकरण नही चाहते, द्वेप का निराकरण चाहते हैं। प्रेम के लिए कोई निमित्त नही चाहिए। द्वेष के लिए निमित्त चाहिए। प्रेम में कैफियत नही देनी पडती। द्वेष मे कैफियत देनी पडती है। द्वेष का समर्थन करना पडता है। हम सांस क्यो लेते हैं, इसका समर्थन नही करना पडता। जिसका समर्थन करना पडता है, वह स्वभाव नही है। जिसका समर्थन नही करना पडता, वह स्वभाव है।

जीवन का ध्येय

एक दफा कॉलेज के एक लडके ने पूछा कि "आपके जीवन का ध्येय क्या है ? आप क्यो जी रहे है ?" मैंने कहा, "भला यह भी कोई सवाल है ? पैदा हुआ, इसलिए जी रहा हूँ। हाँ, यदि मरना चाहूँ, तो पूछ सकते हो कि क्यो मरते हो। पर जीने के लिए क्या इतना ही कारण काफी नही कि मैं पैदा हुआ हूँ ?"

जीवन मनुष्य का स्वभाव है। मृत्यु उसका स्वभाव नहीं है। मनुष्य जीना चाहता है और प्रेमपूर्वक जीना चाहता है। भगवान् की यह योजना है कि उसने मनुष्य को प्रेमस्वरूप बनाया है। इसमें कोई परार्थ नही है। परोपकार नही है। अगर मैं जीना चाहता हूँ, तो उसकी यही एक शर्त है कि मैं दूसरो को जिलाने के लिए जिऊँ। उसकी प्रेरणा मेरे स्वभाव से आती है, क्योकि मैं प्रेम-स्वरूप हूँ। सह-जीवन की सारी प्रेरणा प्रेम से आती है। हमने ये दो लक्षण देखे। अब तीसरा देखें।

निरपेक्ष और सापेक्ष मूल्य

जो अपने नाम से चले, वह निरपेक्ष मूल्य है, जो दूसरे के नाम से चले, वह सापेक्ष मूल्य है। बाजार की भाषा में उसे असली और नकली मूल्य कहा जाता है। नकली सिक्का अपने नाम से नही चल सकता, असली का स्वाग बना करके ही वह चलता है। हम रूस से पूछते हैं कि "आप हाइड्रोजन बम क्यो बनाते हैं ?" तो वह कहता है कि "क्या करें, न बनाते तो अमेरिका हमें मार देता।" अमेरिका से पूछें, तो वह कहता

है कि "रूस लडाई न करे, विश्व-शान्ति रहे, इसीलिए बनाना पड़ता है।" ये दोनों अपने को शान्तिप्रिय बताते हैं। लाठी क्यो चली, तो कहते है कि शान्ति की स्थापना के लिए! युद्ध भी शान्ति के लिए ही होते हैं। दुनिया में हिंसा कभी अपने नाम पर आज तक नहीं चली। सोचने की बात है कि जो चीज अपने नाम पर कभी नही चली, उसकी क्या इज्जत है? जिन्होंने आज तक यह माना था कि गाधी समाजशास्त्री नही था, उनसे हम पूछें कि क्या जीवन का वह भी कोई मूल्य हो सकता है, जिसे अपना नाम लेने में शर्म है? जो नकली है, दूसरे का नाम लेता है, वह सापेक्ष है। असली अपने नाम से चलता है। वह निरपेक्ष है।

मूल्य सार्वत्रिक भी हो

अब हम चौथी परख देखें। जो मूल्य सार्वत्रिक नही हो सकता, वह मिथ्या मूल्य है। वह समाज का वास्तविक मूल्य नही है। प्रबोधभाई ने प्रश्न किया था कि आपने* जब यह कहा कि जहाँ सर्वसम्मति होती है, वहाँ 'अक्सर' 'सन्मति' होती है। इसमें आपने 'अक्सर' क्यो कहा था? यह इसलिए कहा था कि वह नियम निरपवाद नही था। सम्मति एक गिरोह की हो, और वह अन्य दस व्यक्तियो के खिलाफ हो, तो वह 'षड्यन्त्र' होगा।

जो सबके लिए समान रूप में लागू नही होता, वह शाश्वत नही है, वह मिथ्या है, दुर्गुण है, विमति है। जो १०० में से १०० के लिए हो, वह शाश्वत है, सद्गुण है, सन्मति है। सद्गुण-दुर्गुण की भी कसौटी हमें यहाँ मिल गयी। जो सबके लिए समान रूप से लागू हो सकते हैं, वे सद्गुण, जो नही हो सकते, वे दुर्गुण।

मान लें कि चोरो का एक गाँव है, जिसमें चोर ही चोर रहते हैं। तो क्या उस गाँव में कभी चोरी होगी? वे अपने ही गाँव में चोरी नही कर सकते। चोर अगर साथ-साथ रहें, तो चोरी नही करेंगे। दूसरे गाँव में करेंगे। अगर वे अपने गाँव में चोरी करें, सब एक-दूसरे की चोरी करें, तो फिर वह चोरी ही नही रह जायगी। चोरी, लोभ आदि स्वभाव नही है। जो व्यापक नही है, वह शाश्वत नही हो सकता।

सर्वोदय निरपेक्ष, शाश्वत और व्यापक मूल्यो की स्थापना करना चाहता है और बाधक मूल्यो का निराकरण करना चाहता है। सबके लिए समान रूप मे जो नही है, वह अशाश्वत है। दुनियाभर के सारे क्रान्तिकारी लोग इस बात में सहमत हैं, चाहे वे मूल्यो का नाम लें या न लें। जितने मूल्य निरपेक्ष हैं, वे पारमार्थिक हैं, आर्थिक और राजनीतिक नही।

---

* ता० २१-८-'५५ के प्रात'-प्रवचन में।

निष्कर्ष

अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विज्ञान के आविष्कारो और सत्ता के द्वारा मूल्यो की स्थापना नही हो सकती। शस्त्र, युद्ध, हिंसा का नाम मैं नही लेता, क्योकि इस पर तो अब सब सम्मत हो गये हैं कि उनसे कुछ नही होता। विज्ञान इसलिए असमर्थ है कि वैज्ञानिक स्वय कहते हैं कि वह तटस्थ है। विज्ञान सिर्फ शोध करता है, आविष्कार करता है। तो सवाल उठता है कि क्या विज्ञान का मूल्य-स्थापना में उपयोग नही है ? उपयोग अवश्य हो सकता है। परन्तु मूल्यो की स्थापना उसने न तो अब तक की है, न अब करेगा। यही विज्ञान की अपूर्णता है, और उसका गुण तथा विशेषता भी है।

एक वैज्ञानिक ने बडे अभिमान से कहा है कि क्या कोई यह बतला सकता है कि आज तक कभी विज्ञान के लिए युद्ध हुआ है ? हमें मानना होगा कि विज्ञान के नाम पर युद्ध नही हुए। धर्म, जाति, सस्कृति और ईश्वर के नाम पर युद्ध हुए हैं। विज्ञान एक ऐसा सार्वभौम अन्तर्राष्ट्रीय तत्त्व है कि जिसके नाम पर कभी युद्ध नही हुआ। लेकिन इसीमे दूसरी भी एक बात निकलती है कि केवल विज्ञान से मूल्य की स्थापना नही हो सकती। वह उपकरण बन सकता है। विज्ञान सार्वभौम है और रहेगा। बिजली और एटम बम सार्वभौम हैं, लेकिन राष्ट्रनीति, राजनीति और अर्थनीति राष्ट्रीय ही हैं। यह विरोध अधिक दिनो तक नही चल सकता। इसीलिए असाप्रदायिक इतिहासवेत्ता एच० जी० वेल्स ने अपने इतिहास के उपसहार के अध्याय मे लिखा है कि अब वह युग आ रहा है, जब कोई राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय सत्ता के बल पर नही जी सकेगा। कम्युनिस्टो के द्वितीय अतर्राष्ट्रीय सम्मेलन ने यह घोषणा की थी कि वह राष्ट्र की सीमा को मिटा देंगे। सिर्फ नकशे से नही, मनुष्य के हृदय से भी सीमाओ को मिटा देना पडेगा। इसके लिए विज्ञान ने अनुकूल परिस्थिति उपस्थित कर दी है।*

---

* विचार-शिविर में २१-८-'५५ का सायं-प्रवचन।

धर्म और विज्ञान : ३ :

'धर्म की क्या जरूरत है ?' मनुष्य की बुद्धि का एक लक्षण है कि वह यह सवाल पूछे। जो मेरी आकाक्षा के अनुरूप, भीतर की आकाक्षा के अनुरूप वस्तु है, वह मेरी इष्ट है। जो मेरी आकाक्षा के अनुरूप नही है, वह मेरी इप्ट नही है। इस दृष्टि से धर्म की आवश्यकता ही कहाँ है ?

नित्य-धर्म का लक्षण

तैत्तिरीय उपनिषद् के भाष्य में शकराचार्य ने इसी तरह का प्रश्न उठाया है। 'रोज सध्या करनी चाहिए, नही तो पाप लगेगा', एक विधि है। आचार्य की हमेशा यह रीति रही कि हर बात के बारे मे वे 'क्यो' पूछते हैं। विज्ञान की यह मर्यादा है कि वह 'क्या', 'कब', 'कहाँ' का जवाब दे सकता है, पर 'क्यो पूछा जाय, तो विज्ञान कुठित हो जाता है। 'क्यो' का जहाँ आरम्भ होता है, वहाँ भौतिक शास्त्र समाप्त हो जाता है, अध्यात्मशास्त्र शुरू हो जाता है। ऐसा कुछ लोगो का कहना है, मेरा नही। मैं तो आरम्भ और अन्त कभी मानता ही नही। सब एक ही मानता हूँ।

तो आचार्य पूछते हैं, "सध्या, होम क्यो करूँ ? मुझे उससे क्या मिलेगा ?" जवाब मिलता है, "कुछ नही मिलेगा। करोगे तो पुण्य नही मिलेगा, नही करोगे तो पाप लगेगा।" तो आचार्य कहते हैं, "यह कोई बात हुई ? यह तो जबरदस्ती है। यह क्या कोई धर्म है, जो नही करूँ तो पाप लगेगा, और करूँ तो कुछ भी नही मिलेगा ? साक्षात् परमेश्वर भी यदि ऐसा अनियन्त्रित सत्तावादी और निरकुश है, तो मैं उसकी अनियन्त्रित सत्ता मानने को तैयार नही हूँ।" उस समय के बुद्धिवादियो के लिए शकराचार्य ने बडा गभीर प्रश्न उठा दिया। **नित्यकर्म से पुण्य नहीं मिलता, पर नहीं करो तो पाप मिलता है। नित्यधर्म का यही लक्षण है।** लेकिन ऐसा क्यो ? शकराचार्य ने ही स्वय इसका अच्छा जवाब दिया है "नित्य-कर्म से फल नहीं मिलता है, फिर भी वह व्यर्थ नही होता, निष्फल भी नही होता।" उससे नया पुण्य नही मिलता। लेकिन वह निष्फल नही होता। जिससे कुछ होता ही नही, ऐसा कोई कर्म नही होता। तब उस कर्म का क्या फल ? जिन लोगो ने सन्ध्या-पूजा आदि की हो, उन्हे एक वाक्य की याद मैं दिलाता हूँ। **ममोपात्तदुरित-क्षयद्वारा।** "नित्य-कर्म क्यो ?" "जो पाप मैं हो गये हैं, जिनका मुझे ज्ञान भी शायद न हो, उनको क्षीण करने के लिए मैं समाज में नित्य-धर्म का पालन करता हूँ।"

समाज-धर्म

इसी प्रकार नागरिक समाज-धर्म का नित्य पालन करता है। उससे उसे प्रत्यक्ष लाभ नही होता, परन्तु उससे समाज का स्वास्थ्य वना रहता है। समाज-धारणा होती है। 'धारणाद् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।'

समाज की धारणा का जो तत्त्व है, उसीको 'धर्म' कहते हैं। समाज मे कुछ मूल-भूत सिद्धान्त होते हैं। आधारभूत मूल्य होते हैं। ये निरपेक्ष, शाश्वत और सार्वत्रिक मूल्य होते हैं। ये ही समाज की धारणा के सिद्धान्त हैं। समाज-धारणा के जिन मूल्यो से समाज टिकता है, उन्हें 'धर्म' मानना चाहिए। बाकी सब सम्प्रदाय, पन्थ या वाद हैं।

कुछ उदाहरण लीजिये।

मैंने कभी चोरी नही की, शराव नही पी, हमेशा होश सँभाले रहा, लेकिन इसके लिए कोई मेरा सम्मान नही करता, गौरव या सत्कार नही करता। लेकिन थोडी देर के लिए समझ लीजिये कि पूर्वाश्रम मे मै एक प्रसिद्ध डाकू-चोर होता, जिसका नाम रोज अखबारो में निकलता रहता और जिसे पकडने के लिए सरकार इनाम रखती। ऐसी हालत मे यदि मै यह घोषणा करता कि आज से मैंने डाकू का धन्धा छोड दिया, तो मेरे लिए सभा की जाती और मेरा वडा गौरव होता। लोग कहते कि कितना भला आदमी है, यह आज से चोरी नही करेगा। शरावखोर एलान कर दे कि वह शराव छोडता है, तो उस वात को आप अखवार मे देखेंगे। उसका सत्कार और गौरव होगा।

समाज में जो नित्य-धर्म होते है, उनका पालन करना नागरिक का स्वाभाविक कर्तव्य है। उसके लिए प्रतिफल, पुरस्कार या पारितोषिक की आशा नही रहती। इसलिए नागरिक धर्म, सामाजिक धर्म निष्काम होने चाहिए। उनमे फल की इच्छा नही होनी चाहिए।

तो क्या निरुद्देश्य कोई काम हो सकता है? मन में उद्देश्य ही नही होगा और काम करेंगे, तो वह तो उन्मत्त चेष्टा हो जायगी, जैसी शरावखोर की होती है या नीद मे मनुष्य कभी वोल लेते हैं या हलचल कर लेते हैं। या फिर वह स्वाभाविक चेष्टा है, जिसमें हमारी कोई इच्छा या चेतना न हो। तव तो सारा-का-सारा सामाजिक कर्म ही व्यर्थ हो जायगा।

विना इच्छा के कोई मनुष्य कभी काम करता है? प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते—कोई प्रयोजन न हो, तो मूर्ख भी कुछ नही करता। लोग कहते हैं कि विना

प्रयोजन के, फल की कामना रखे बिना काम करने की बात बहुत ही मूर्खतापूर्ण धर्म है। तो फिर निष्काम कर्म का क्या अर्थ है ?

स्वार्थ-निराकरण की प्रक्रिया

कभी-कभी हम कहते हैं कि "यह मनुष्य निःस्वार्थ हो गया है। इसने स्वार्थ का त्याग किया है।" इसका क्या अर्थ होता है ? यदि वह कुटुम्ब में रहता हो, उसने अपना व्यक्तिगत स्वार्थ छोडा हो और उसका स्वार्थ कुटुम्ब-व्यापी हो गया हो, तो हम कहते हैं कि वह 'निःस्वार्थ' है। कुटुम्ब में माँ सबसे अधिक निःस्वार्थ होती है। अर्थात् माँ का स्वार्थ कुटुम्बव्यापी होता है। सिर्फ अपने साढे तीन हाथ के शरीर की भलाई से उसका स्वार्थ बाहर निकलकर कुटुम्ब तक फैल गया है, व्यापक हो गया है। इसलिए उसे निःस्वार्थ कहते हैं। **जिसका स्वार्थ व्यापक है, वह निःस्वार्थ है।** जिसका स्वार्थ क्षितिजव्यापी होता है, वह अत्यन्त निःस्वार्थ है। कुटुम्बव्यापी स्वार्थ है, तो वह कुटुम्ब में निःस्वार्थ है; ग्रामव्यापी स्वार्थ है, तो ग्राम में निःस्वार्थ है। देश-व्यापी स्वार्थ है, तो देश में निःस्वार्थ है; विश्वव्यापी स्वार्थ है, तो विश्व में निःस्वार्थ और आकाशव्यापी स्वार्थ है, तो वह अत्यन्त निःस्वार्थ है। **स्वार्थ में जब व्यापकता आती है, तो स्वार्थ मिट जाता है। यह स्वार्थ के निराकरण की प्रक्रिया है।**

जिसकी कामना व्यापक है, वह निष्काम है। जिसकी कामना क्षितिजव्यापी है, वह अत्यन्त निष्काम है। जो सौ में से सौ की भलाई चाहता है, वह अत्यन्त निष्काम, निःस्वार्थ है।

समाज में जो धर्म सामान्य है, नित्य है, वह सबका धर्म है, निष्काम धर्म है। उसका जो फल होता है, वह सबका है। फल अपने लिए हम नहीं चाहेंगे, पर कर्तव्य हम निभायेंगे। निष्काम कर्म में यही होता है कि कर्तव्य मेरा और फल सबका, मेरे अकेले का नहीं।

यह सार्वत्रिक धर्म मानव-व्यापी होता है। वही सनातन है। इस अर्थ में वह अपौरुषेय है। मनुष्य जो अपने नाप के धर्म और देवता गढ लेते हैं, वे शाश्वत तथा सनातन नहीं होते।

दो दृष्टिकोण

एक दूरबीन है। उसमें दो तरह के काँच हैं। एक आदमी एक काँच से देखता है, दूसरा दूसरे से। पहले से पूछते हैं कि "क्या देखा ?" तो वह कहता है कि "भगवान्

वैकुंठ-लोक में बैठे हैं और अपनी आकृति के अनुसार मनुष्य का निर्माण कर रहे है ।" दूसरे से पूछते है, तो वह कहता है कि "मैंने यह देखा कि जगह-जगह मन्दिरो, मस्जिदो, गुरुद्वारो, अगियारियो और गिरजाघरो में मनुष्य बैठे हैं और अपने आकार में भगवान् को गढ रहे हैं ।" पहले से पूछा, "कितने भगवान् है ?" तो वह बोला, "एक ही । मनुष्य बहुत हैं, आकृतियाँ बहुत हैं, बनानेवाला एक ही है ।" दूसरे से पूछा, तो उसने कहा, "मनुष्य तरह-तरह के हैं, अनेक है, और सब अपना-अपना भगवान् बना लेते हैं । हरएक का बनाया हुआ भगवान् उसकी शकल का है ।" जैसे दर्जी हरएक मनुष्य की नाप के कपडे बनाते हैं, वैसे ही हरएक मनुष्य अपनी नाप और सहूलियत के मुताबिक अपना-अपना भगवान् बना लेता है और फिर ये भगवान् आपस में झगडा करते हैं । इस तरह यह दुनिया मुर्गाबाजी का अखाडा बन जाती है ।

सन् १९२३–२४ में एक महान् मुस्लिम नेता ने गाधीजी के बारे में कहा कि "मनुष्य की दृष्टि से गाधी महान् है, पर धर्म की दृष्टि से गाधी किसी भी मामूली मुसलमान से भी छोटा है ।"

देखा, दो काँचो से क्या दिखाई दिया ?

हम नम्रतापूर्वक पूछते है कि 'गाधी से मामूली मुसलमान किस बात में श्रेष्ठ है ? क्या वह गाधी से ज्यादा ईश्वरपरायण है ?'

'नही ।'

'क्या वह ज्यादा मानवनिष्ठ है ?'

'नही ।'

'क्या ज्यादा सच्चा है ?'

'नही ।'

'क्या ज्यादा ईमानदार, दयानतदार है ?'

'नही ।'

'क्या ज्यादा दयाशील, करुणावान् है ?'

'नही ।'

अब इस हालत में आप मुझे यह बतलाइये कि गाधी यदि कहे कि 'मै कई मुसलमानों से अधिक अच्छा मुसलमान हूँ', तो वह कौन-सी गलत बात कहता है ?

धर्म कब अधर्म बनता है ?

'धर्म' जब व्यावर्तक हो जाता है, तब वह अधर्म या सम्प्रदाय बन जाता है। व्यावर्तक यानी अलगावनवाला—इतने हमारे, बाकी हमारे नही, यह बात जब आ जाती है, तब धर्म 'अधर्म' बन जाता है।

विनोवा ने एक दफा बडे मजे की बात कही थी। किसीने उनसे पूछा कि "आप महाराष्ट्रीय ब्राह्मण है, तो कोकणस्थ है या देशस्थ ?" उन्होने कहा, "मैं देश में रहता हूँ, इसलिए 'देशस्थ' हूँ। काया में रहता हूँ, इसलिए 'कायस्थ' हूँ और सबसे आखिर में मैं अपने में रहता हूँ इसलिए 'स्वस्थ' हूँ। तो सब-कुछ हूँ। ऐसा सवाल ही आप मुझसे क्यो पूछते है ? मैं हिन्दू हूँ, इसलिए मुसलमान नही हूँ, ऐसा नही है। मैं हिन्दुस्तान में रहता हूँ, इसलिए तुर्किस्तान मेरा नही, ऐसा नही है। हरिजन-आश्रम में हूँ, इसलिए अहमदाबाद और गुजरात मे नहीं हूँ, ऐसा नही है।"

धर्म में व्यापक वृत्ति होती है। धर्म व्यापक होता है। सम्प्रदाय सकीर्ण होता है। हम कह चुके है कि विचार जब जम जाता है, तो उसका सम्प्रदाय बन जाता है। सम्प्रदायो में सघर्ष होता है। धर्म सघर्ष के लिए नही है। धर्म मनुष्य से मनुष्य को मिलाने के लिए है। मनुष्य से मनुष्य को अलग करने का रास्ता 'अधर्म' है।

पूछा जायगा कि अधर्म क्यो धर्म के रूप मे आता है ? बात साफ है। शैतान आयेगा, तो भगवान् के नाम से ही आयेगा। शैतान का अपना स्वरूप इतना विरूप, भद्दा है कि वह भगवान् का ही नाम-रूप लेगा। दुनिया में जितने धर्म है, जिनके कारण विरोध होता है, सख्य नही होता है, वे सबके सब 'अधर्म' हैं।

सम्प्रदाय-निराकरण

हम सकल्प कर लें कि हम जैसे वर्ग-निराकरण चाहते है, जाति-निराकरण चाहते है, वैसे ही हमे सम्प्रदाय-निराकरण भी करना है।

इस बारे में अब हमें एक कदम आगे चलना है। गाधी सर्वधर्म-समभाव तक आये। अब हमें आगे बढना है। बाप से बेटा आगे न जाय, तो समझदार बाप नाराज होगा। कोई कहता है, मेरा बाप बडा है, तो उससे सब यही कहते है कि ठीक है, तुम उससे आगे बढो। अगर मुझसे कोई आकर कहता है कि तुम्हारा बेटा ठीक तुम्हारे जैसा है, तो मुझे दुःख होगा। इससे अधिक नुकसान क्या हो सकता है ? हर बाप की आकाक्षा रहती है कि मेरा बेटा मुझसे सवाया हो, मुझसे आगे बढे।

मार्क्सवादियों से मैं अक्सर कहा करता हूँ कि मैं तुमसे मार्क्स का अधिक भक्त हूँ।

पर तुम लोग कहते हो कि मार्क्स से आगे कोई कुछ कहे, तो वह प्रतिगामी है। मैं कहता हूँ कि हम इतने बडे आदमी के बाद पैदा हुए, फिर भी हम आगे नही बढ सकते, तब तो उसके बडप्पन मे बट्टा लगेगा। सारी प्रगति ही रुक गयी, ऐसा कहना होगा।

धर्म और धर्मान्तर

गाधी ने एक बहुत बडे स्थान तक हमें लाकर छोडा है। उन्होने सिखा दिया कि सारे धर्मों को समान समझो। तो लोगो ने उसका अर्थ यह किया कि सब धर्म समान हैं, इसलिए किसी भी धर्म मे जाओ, वह एक ही है। यह तो स्थूल अर्थ है।

यह बात सविधान-परिषद् में उठी थी। मूलभूत अधिकारो की चर्चा करते समय हरएक को अपने-अपने धर्म के अनुसार चलने का मौलिक अधिकार दिया जा रहा था। तब एक ईसाई सज्जन खडे हुए और कहने लगे कि "हरएक को अपने धर्म का प्रचार करने का भी हक हो।" तो उनसे व्यक्तिगत रूप मे मैंने कहा कि "आपने यह कैसी बात कही ? सबको अपने धर्म के पालन का समान अधिकार हो, यहाँ तक तो दुरुस्त है, लेकिन उसका प्रचार करने की बात तो गलत है।" उन्होने तो मेरी बात मान ली। लेकिन मेरे हिन्दू मित्र खडे हो गये और कहने लगे कि "यह तो आपने भयानक बात कर दी। आप तो ऐसी बात करते हैं कि जिससे जो हिन्दू जबरदस्ती मुसलमान या ईसाई बनाये गये है, उन्हें हिन्दू-धर्म में वापस नही लाया जा सकेगा।" तो मैंने कहा कि "यह बात तो गलत हुई। धर्म की बात मे सख्या से क्या मतलब ? ऐसा लगता है कि आप चुनाव की या प्रतिनिधित्व की दृष्टि से बात कर रहे हैं। यह तो धर्म की बात नही है। यदि सारे धर्म समान हैं, तो दूसरे धर्म में जाने की जरूरत ही क्या ? दूसरे धर्म में जाने के दो ही कारण हो सकते हैं—लोभ या मुमुक्षा। या तो मै यह मानता हूँ कि दूसरा धर्म मुझे भगवान् की ओर ले जाने के लिए अधिक उपयुक्त है या फिर यह लोभ है कि दुनिया में सुविधाएँ पाने की दृष्टि से दूसरा धर्म अधिक लाभदायी है। सुविधा की बात तो धर्म-अधर्म की बात नही है। ईश्वर-भक्ति की, मुमुक्षा की दृष्टि से यदि कोई कार्य श्रेष्ठ और कोई कनिष्ठ है, तब तो सारे धर्म समान नही रह जाते।"

पुरी की घटना

मैंने गाधी से एक कदम आगे क्यो कहा ? जगन्नाथपुरी की घटना है। डेलाग में गाधी-सेवा-सघ का सम्मेलन था, तब नारायण देसाई की माँ और कस्तूरबा पुरी में दर्शन के लिए चली गयी। उस समय उस बूढे ने बडा क्रोध किया। ऐसा क्रोध मानों

आसमान फट गया। वह बापू का क्रोध था। लेकिन बडो का क्रोध भी वरेण तुल्य. होता है—आशीर्वादरूप होता है। 'विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभंगव्यसनिनः।' —जो सारी दुनिया के दोषो का निवारण करने के लिए आता है, उसका विकार भी श्लाघ्य हो जाता है। बडे क्रोध से बापू ने पूछा कि "जिस मदिर में हरिजन नही जा सकते हैं, उसमे तुम क्यो गयी ? यह मेरे विरुद्ध है, केवल इसीलिए मुझे दु ख नही होता। लेकिन यह केवल हमारे ही लिए लज्जा का विषय नही है, यह तो मानवता का अपमान है, इसलिए मैं दु खी हूँ।"

वह एक प्रसग हुआ। दूसरा प्रसग अभी आया, जब विनोबा ने कहा कि "यदि यह फ्रेंच बहन मन्दिर में नही जा सकती, तो मैं भी नहीं जा सकता।" गाधी ने यहाँ तक कहा कि मदिरो में हिन्दू-मात्र को प्रवेश मिले, विनोबा अब यह कह रहे हैं कि उपासना का कोई तीर्थ या स्थल या क्षेत्र अब साम्प्रदायिक न रहने पाये। उपासना के सभी क्षेत्र मानव-मात्र के लिए खुल जायँ।

सम्प्रदाय में अदल-बदल होता है, धर्मान्तर होता है। धर्म में धर्मान्तर जैसी चीज हो ही नही सकती।

यदि आप वस्तुत लोकसत्ता की स्थापना चाहते हैं, तो धर्मान्तर को यदि अधार्मिक नही, तो कम-से-कम गैर-कानूनी तो करार ही देना होगा।

यह धर्म-परिवर्तन सामाजिक विधान के प्रतिकूल है, ऐसा विचार लोक-शासन में दाखिल करना होगा। यह ईश्वर के विधान के प्रतिकूल है, ऐसी भावना जनता में निर्माण करनी होगी। सविधान में ही धर्मान्तर का निषेध होना चाहिए, ताकि वह सर्वधर्म-समभाव के अपने सिद्धान्त मे अधिक सुसगत बन जाय। धर्म-परिवर्तन गैर-कानूनी बन जाना चाहिए, क्योंकि अगर हम सारे धर्मों को समान मानते हो, तो एक से दूसरे मे जाने की जरूरत नही है। मुहम्मद को मानते हैं, तो घर बैठे या मस्जिद मे जाकर उसके ढग से उपासना करें, कुरान पढें। लेकिन लोग कहते हैं, "कुरान पढो, तो अरबी में ही पढो।" गुजराती में पढना क्यो निषिद्ध माना जाय ? तो कहते है कि "धर्म-ग्रथ धर्म की भाषा मे ही होना चाहिए, ईश्वर की भाषा में होना चाहिए।" सस्कृत को गीर्वाण-वाणी, देवभाषा कहते थे। तो ज्ञानेश्वर ने पूछा कि "संस्कृत यदि भगवान् की है, तो मराठी क्या चोरो की भाषा है ?" भाषाएँ सभी भगवान् की होती है। तो कहते हैं, नही, कुरान तो अरबी में होगा। ग्रन्थसाहब गुरुमुखी मे रहेंगे। इस तरह झगडा सम्प्रदाय मे से भाषा में आया। कलि का प्रवेश हुआ। नल राजा के शरीर में पैर के अँगूठे से कलि का प्रवेश हुआ था न ? फिर सारा शरीर कलिमय हो

गया। वैसा ही हाल इस साम्प्रदायिक झगडे का है। 'कलि' शब्द का अर्थ ही है 'कलह'। धर्म में असहिष्णुता आ जाती है, तो कलह का प्रवेश हो जाता है, जिसका नतीजा धर्मान्तर मे होता है।

विज्ञान और धर्म

यह हुआ एक पहलू। अब दूसरा पहलू। आज एक तरफ विज्ञान है, दूसरी तरफ धर्म। विज्ञान अन्तर्राष्ट्रीय है, धर्म साम्प्रदायिक। हाँ, विज्ञान भी आजकल बहुत साम्प्रदायिक बनता जा रहा है, लेकिन उसमें दोष विज्ञान का नही है, सत्ताधारियो का है। मूलत विज्ञान का स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय ही रहा है। यह नही कि अमेरिका में एक विज्ञान है और रूस में दूसरा। गैलीलियो ने कहा कि सूर्य पृथ्वी के चारो ओर नही घूमता, पृथ्वी घूमती है। तो लोगो ने उसे बहुत सताया। तब तग आकर उसने कहा कि "तुम कहते ही हो, तो मै कह देता हूँ कि पृथ्वी सूर्य के चारो ओर नही घूमती। लेकिन मेरे कहने पर भी वह तो घूमती ही रहेगी, उसको मै कैसे रोकूँगा? उसमें न मेरा कोई उपाय है, न आपका।"

विज्ञान वस्तुनिष्ठ होता है, उसका वस्तु-स्थिति के साथ ही सबध रहता है। इसलिए विज्ञान का स्वत. कोई दोष नही होता। लेकिन सत्तावादियो और सम्पत्ति-धारियो ने विज्ञान को अपना अनुचर बनाने की कोशिश की है। वह पूरी सफल नही हुई है। विज्ञान फिर भी सार्वभौम रहा है। लेकिन धर्म सारे साम्प्रदायिक बन गये हैं। अब धर्म और विज्ञान का मुकाबला हो रहा है। विनोबा कहता है कि अब यह शुभ-मुहूर्त आ गया है, जब कि अहिंसा का विज्ञान से विवाह हो जाना चाहिए और इसका पौरोहित्य भारत को करना है। भारत को विवाह का मत्रपाठ करना है और विवाह के मगलाष्टक का उच्चारण करना है। कभी-कभी वे दूसरे शब्दो मे कहते है कि आज अब वेदान्त और विज्ञान एक हो जाने चाहिए। अध्यात्म-विद्या और भौतिक-विद्या, दोनो अब एक हो जायँ।

धार्मिक विज्ञान और वैज्ञानिक धर्म

धर्म मनुष्य को एक तरफ खीच रहा है, विज्ञान दूसरी तरफ। मनुष्य का व्यक्तित्व विदीर्ण हो रहा है, बिखर रहा है। क्योकि मनुष्य की धर्माकाक्षा और विज्ञान का मेल नही है। इसके बीच खीचातानी हो रही है, मनुष्य की दुर्दशा हो रही है।

आवश्यकता है धार्मिक विज्ञान और वैज्ञानिक धर्म की। आज विज्ञान सार्वभौम है। तो जो वैज्ञानिक धर्म होगा, वह भी सार्वभौम होगा। सार्वभौम से मतलब यह

नही कि वह एक सरीखा ही होगा। वैज्ञानिक धर्म के आविष्कार मे स्थल, काल, व्यक्ति के भेदो के अनुसार अन्तर हो सकता है।

शुरू-शुरू में राष्ट्रीय शालाएँ खुली। हमें आदेश दिया गया कि कॉलेजो से निकल आओ, तो हम निकल आये। वहाँ भी हमें वही सिखाया गया, जो अब तक हम सीखते थे और कहा गया कि यही 'राष्ट्रीय शिक्षण' है। किसीने पूछा कि "यह राष्ट्रीय शिक्षण क्या है ?" तो हमने कहा कि "यह तो गाधी जानें, हम क्या जानें ?" तो वह सवाल करता है कि "दूसरी पाठशाला में २+२=४ होते हैं, तो क्या आपकी राष्ट्रीय-शाला में २+२=४$\frac{१}{२}$ होता है ?"

भला गणित और विज्ञान में 'राष्ट्रीय', 'अराष्ट्रीय' क्या हो सकता है ? गणित और विज्ञान तो अतर्राष्ट्रीय होते है। लेकिन हम तो 'राष्ट्रीय शिक्षण' का काम लेकर बैंठे थे न ! तो फर्क क्या ? पहले हम जो गणित सीखते थे, वह किताब अग्रेजी में रहती थी। उसमें ऐसा सवाल रहता था कि एक पैसे के दो अडे, तो चार पैसे के कितने ? अब गणित तो ठीक है, पर अडे से हमें क्या मतलब ? तो राष्ट्रीय शिक्षण के गणित मे ऐसा हिसाब होगा कि एक पैसे के दो आम, तो चार पैसे के कितने ? जब हम आम कहते हैं, तो एकदम हमारे सामने आम की आकृति खड़ी हो जाती है और जीभ में भी पानी आ जाता है। इसका हमारे जीवन के साथ अनुबंध है। शिक्षण हमारे विशिष्ट सस्कारो के अनुरूप होना चाहिए। गणित और विज्ञान सार्वभौम है, लेकिन उनका विनियोग अलग-अलग ढग से हो सकता है। सम्प्रदाय सकुचित होते हैं, लेकिन धर्म अपने में सार्वभौम है। जो वैज्ञानिक धर्म होगा, वह गणित और पदार्थ-विज्ञान से कही अधिक व्यापक होगा। धर्म भगवान्-सा व्यापक होना चाहिए। जो व्यापक है, वही 'धर्म' है; जो अव्यापक है, वह 'अधर्म' है।

'यो वै भूमा तत् सुखम्।'

अब इसको विज्ञान के साथ कैसे मिलायें ? विज्ञान और धर्म—इनके जो विरोध हैं, उनका निराकरण करना है, क्योकि हम देख चुके हैं कि विरोध का निराकरण ही समन्वय है, यही क्रान्ति का उद्देश्य है।

प्रभुत्व या तादात्म्य ?

एक दफा बापू ने कहा, "अगर मेरे बस की बात होती, तो मैं मक्खी को भी नहीं मारता।"

मैंने कहा, "बापू, आपकी बात ठीक होगी, लेकिन मेरे मन में यह प्रश्न उठता है कि भगवान् ने खटमल, मच्छड वगैरह पैदा ही क्यो किये ?" तो जवाब मिला,

"अभी तो मेरे लिए इतना ही काफी होगा कि तुम मनुष्य को न मारो। लेकिन सोचो तो कि कही कल खटमल और मच्छडो की सभा हो और उनकी सभा मे यह विचार आये कि हमारी समझ में नही आता कि इस दादा को भगवान् ने क्यो बनाया है, वह हमारे किसी काम का नही। तो शायद दूसरा कहेगा कि दादा का शरीर भगवान् ने इसलिए पैदा किया है कि हम उसका खून पी सकें। भगवान् की हर बात में योजना हुआ ही करती है।"

मनुष्य की यह जो मनोवृत्ति है कि भगवान् ने मुझे सुख देने के लिए ही सृष्टि का निर्माण किया है, उसका विकास सत्तावाद से हुआ है। प्रेम से तादात्म्य का विकास हुआ है। सृष्टि से हमारा सम्बन्ध तादात्म्य का रहे या प्रभुत्व का, विज्ञान और अध्यात्म की यह समस्या है। विज्ञान और धर्म का यह मूल विवाद है। क्या सृष्टि हमारी दासी है या वह भगवान् की सगिनी, हमारी माता है, जिसके साथ हमारा तादात्म्य होगा ? एक तरफ काव्य का दृष्टिकोण है, दूसरी तरफ विज्ञान का। एक कवि है, एक वैज्ञानिक। कवि वैज्ञानिक नही है और जो वैज्ञानिक है, वह कवि नही है। कवि कहता है, "सूर्य सारे जहाँ की आँख है,—**'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः'**।" विज्ञान ने कहा, "चक्षु कहाँ का, यह तो प्रकाश का गोला है—यह भी पता है कि प्रकाश को यहाँ आने मे कितनी देर लगती है ?"

लेकिन ससार का जितना व्यवहार चलता है, उसमें स्नेह का प्रथम स्थान है। पहले स्नेह की भावना आती है, बाद मे विज्ञान आता है।

बच्चा पैदा होते ही उसे माँ की गोद में देते हैं। माँ बच्चे को स्तन से लगा लेती है। तो वैज्ञानिक क्या यह कहता है कि अरे जरा ठहर, पहले इसे सारा आहार-शास्त्र समझायें, बाद में स्तन से लगाना, नही तो दूध अवैज्ञानिक बन जायगा ? एक का नाम भावना रखा है और दूसरे को प्रत्यक्ष प्रमाणवाद—प्रयोगवाद कहा है। जो सिद्धान्त प्रत्यक्ष प्रयोग से सिद्ध नही होते, उनको मानना गलत समझा जाता है।

विज्ञान और धर्म का यह निरन्तर विरोध चलता है। सवाल यह है कि क्या इन दोनो को मिलाया जा सकता है ? क्या कवि और वैज्ञानिक निकट आ सकते है ? विज्ञान जवाब देता है कि अब ऐसा सयोग हो सकता है। काव्यविहीन विज्ञान दुनिया तो श्मशान बना देगा और विज्ञानहीन काव्य उसे स्वप्न से भी अधिक वस्तु-पराङ्मुख बना देगा। अब इसे कोई निरी भावना नही कहता।

सृष्टि से तादात्म्य

औरगजेब के जमाने में कला के अस्तित्व का ही सवाल पैदा हुआ था। इग्लैण्ड

मे भी ऑलिवर क्रोमवेल के जमाने में ऐसा ही प्रश्न उठा था। औरगजेब इतना कला-विरोधी था कि कुछ लोगो ने एक दिन सगीत की शव-यात्रा निकाली। औरगजेब ने पूछा, "किसे ले जा रहे हो ?" लोगो ने कहा कि "यह तो सगीत का जनाजा है। अब आपकी हुकूमत में इसके लिए कोई जगह ही नही रह गयी, इसलिए इसे दफनाने जा रहे हैं।" तो औरगजेब ने कहा, "हाँ, ठीक है। इसे इतना गहरा गाडो कि फिर से बाहर ही न निकल सके।" ऑलिवर क्रोमवेल के 'प्युरिटन' जमाने में भी सगीत-नृत्य आदि पर पाबन्दी लगी थी। तब एक कलाकार ने कहा, "अच्छा है, मत गाने दो, चित्र मत खीचने दो, पर यह आकाश, यह चन्द्रमा, ये फूल, ये नदियाँ, ये कलकल करते हुए झरने और जल-प्रपात, क्या इन सबको देखने से तुम हमे रोक सकते हो ? झरने का मधुर कलरव और हवा की धीमी-धीमी मीठी आवाज तुम जब तक नही रोक सकते, तब तक तुम इस दुनिया से कला को निर्वासित नही कर सकते।"

मनुष्य का सृष्टि से तादात्म्य अवैज्ञानिक नही है। सृष्टि-नियमो का जो आविष्कार लेबोरेटरी से बाहर होता है, वह विज्ञान से बाहर है, ऐसा जो कहते है, वे सबसे बडे अवैज्ञानिक हैं। आजकल लोग ऐसा मानने लग गये हैं कि लेबोरेटरी मे जो होता है, वही शोध है। प्रश्न है कि शोध किसका ? जो लेबोरेटरी के अदर है, उसका शोध करना है या जो बाहर है, उसका ? सृष्टि से तादात्म्य होना अत्यन्त वैज्ञानिक है। कलाओ को वैज्ञानिक सत्यो से मिलाने की चेष्टा करनी होगी। धर्म में जितनी वस्तुनिष्ठा, सत्यनिष्ठा और व्यापकता आयेगी, उतना-उतना धर्म सार्वभौम बनता जायगा।

मैं साहित्य से दो उदाहरण दूंगा।

हिमालय के एक वृक्ष का वर्णन कालिदास करता है। यह कौन-सा देवदारु है ? **'पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।'** भगवान् शकर ने उसे अपना पुत्र मान लिया था और इसे दूध पिलाती थी साक्षात् भगवती पार्वती। इसमें सृष्टि से जो तादात्म्य है, जो कोमल भावना है, उसे यदि आप अवैज्ञानिक कह देंगे, तो इससे अधिक अरसिक और अवैज्ञानिक क्या होगा ?

दूसरा उदाहरण लीजिये। शकुन्तला श्वशुरगृह को जाने लगी, तब उससे कण्व ऋषि पूछते हैं, "तू जा रही है, इन पौधो से विदा ली ?" "कौन-से पौधे ?" तो कण्व वर्णन करते हैं, "अलकार से इतना प्रेम होते हुए भी इन पौधो का एक पत्ता भी नही तोडा, जिन्हे पानी पिलाये बिना तूने स्वय पानी भी नहीं पीया—**'पातुं न व्यवस्यति जलम्।'** 'तुम्हारा एक पत्ता भी जिसने शृङ्गार के लिए नही तोडा', वह शकुन्तला आज जा रही

है, तो विदा लो।" सृष्टि के साथ यह जो तादात्म्य की भावना मनुष्य में होती है, वह अत्यन्त मगलकारी है, सास्कृतिक है। जीवन का विकास इसी भावना से होता है। विज्ञान को इसका आदर करना चाहिए। विज्ञान मनुष्य को प्रभुत्ववादी न बनाये। बल्कि मनुष्य का सृष्टि से तादात्म्य बढाये। अगर सृष्टि के सुसवादी ताल से विज्ञान का कदम नही मिलेगा, तो विज्ञान का उपयोग सहार के लिए होगा।

औद्योगिक और यांत्रिक क्रांति

यत्रवादियो ने कहा, "हम वैज्ञानिक यत्रीकरण से मनुष्य का स्वभाव-परिवर्तन कर देगे।" बाजारवालो ने, जिनके पास पैसा है, कहा, "हम विज्ञान का उपयोग मोक्ष के लिए कभी नही करेंगे, मुनाफे के लिए ही करेंगे। हम जब तक बाजार में बैठे है, तब तक धर्म का भी उपयोग मुनाफे के लिए करेंगे।"

हमने औद्योगिक क्रान्ति और यान्त्रिक क्राति को एक मान लिया है। यह भारी गलती है। दोनो एक नही है। पूँजीवाद ने यत्र-विज्ञान से लाभ उठा लिया, लेकिन यान्त्रिक क्राति और औद्योगिक क्राति या व्यापारिक क्राति दो अलग चीजें है। दुनिया में लोहा, कोयला, पेट्रोल का आविष्कार न भी होता, वाष्पशक्ति का आविष्कार भी न हुआ होता, तो भी दुनिया मे औद्योगिक क्रान्ति, व्यापार का युग और पूँजीवाद आता ही। हाँ, बिना यन्त्र के वह इतने भीमकाय रूप से नही आता, लेकिन आता ही नही, यह मानना गलत है। सक्रान्ति जैसे सवारी पर बैठकर आती है—कभी गधे पर, कभी घोडे पर या कभी बैल पर, इसी तरह पूँजीवाद यन्त्र पर बैठकर आया। यन्त्र के कारण पूँजीवाद की गति और आकार बदल गया। लेकिन यन्त्र अलग आया और पूँजीवाद अलग आया। बाद में उन दोनो का सम्बन्ध हो गया। अब हमें लगता है कि दोनो का सम्बन्ध अविभाज्य है।

यन्त्र और विज्ञान

समाजवादियो के विचार में, मार्क्स और कम्युनिस्टो में एक सचाई है कि उन्होंने इन दोनो को मिलाया नही है। पूँजीवाद ने यन्त्र का दुरुपयोग किया। यन्त्र की प्रतिष्ठा समाज में पूँजीवाद के कारण नही है। बल्कि इसलिए है कि उसने मनुष्य को केवल परिश्रम से, गधा-मजूरी से बचाने का आश्वासन दिया। यन्त्र से पहले कुछ आदमियो को केवल गधा-मजूरी, सिर्फ मशक्कत करनी पड़ती थी। उनके मस्तिष्क का बिलकुल उपयोग नही था। इस बात की सावधानी रखी जाती थी कि उनका दिमाग बिलकुल ही काम न करे। उनके लिए शिक्षण का अभाव ही था। दिल और दिमागवाले अलग थे। कुछ गुलाम कहलाते थे, कुछ मालिक। कोशिश यह थी कि पशु और गुलाम के दिमाग

न रहे, लेकिन शरीर में श्रम-शक्ति रहे। उनका उपयोग शरीर-शक्ति के लिए ही माना गया, बुद्धि के लिए नही। यन्त्र के रूप में यह आश्वासन आया कि अब गुलामो की जरूरत नही रहेगी। यह आश्वासन यन्त्र की लोकप्रियता और प्रतिष्ठा का कारण हुआ। मनुष्य को यन्त्र द्वारा कष्ट-निवारण का यह जो आश्वासन था, उसने यन्त्र-विरोध को अवैज्ञानिक करार दिया। लेकिन यन्त्र के आने पर भी गधा-मजूरी क्यो नही गयी ? इसलिए कि यन्त्र ने जो फुरसत पैदा की, उस पर कुछ लोगो ने एकाधिकार जमा लिया। कुछ लोग फुरसतखोर हो गये। इन लोगो के कारण यन्त्र की प्रतिष्ठा नही है। यन्त्र ने मनुष्य को निर्बुद्ध और कलाहीन परिश्रम से बचाने का आश्वासन दिया, फिर भी वह नही बचा सका। इसका मुख्य कारण यही है कि सम्पत्तिवानों और सत्ताधारियो ने उसका दुरुपयोग किया।

उपकरणवाद

तो मैंने दो बातें कही। एक तो यह कि औद्योगिक क्रान्ति को यान्त्रिक क्रान्ति से मत मिलाइये और दूसरी बात यह कि यन्त्र को विज्ञान से मत मिलाइये।

अगर कोई मुझसे पूछता है, "आप मोटर में नही बैठते ?" और अगर मै कहता हूँ, "नही भाई, मैंने तो घोडा रखा है।" तो वह कहता है कि "यह क्या ? इस विज्ञान के युग में आप यह कैसी अवैज्ञानिक बात कर रहे हैं ?" तो क्या घोडा अवैज्ञानिक है ? घोडा मनुष्य ने नही बनाया, इसलिए वह अवैज्ञानिक हो गया ? आँख अवैज्ञानिक है और चश्मे में वैज्ञानिकता आ गयी है ! तो कृपा करके यन्त्र को विज्ञान न समझ लें। ऐसा समझेंगे, तब तो यह आक्षेप भी हो सकेगा कि प्रकृति भगवान् की बनायी हुई है, इसलिए अवैज्ञानिक है और मनुष्य भी भगवान् का बनाया हुआ है, इसलिए मनुष्य भी अवैज्ञानिक है। इधर वैज्ञानिक मनुष्य बनाने की बात भी करते हैं। तब भी बनानेवाले मनुष्य बने हुए मनुष्य से बडे ही रहेंगे। यह जो भ्रम फैला है कि विज्ञान और यन्त्र एक है, वह गलत है। यन्त्र विज्ञान से बना है, विज्ञान अधिक व्यापक वस्तु है। यन्त्र उपकरण है। लोग जब कहते हैं कि यन्त्रीकरण से हम मनुष्य के स्वभाव को और मनुष्य की हर चीज को बदलेंगे, तो वह कहाँ तक सही या गलत है, यह हमने देख लिया। यदि मनुष्य ने हर चीज को यत्र मान लिया, तो समाज यत्रनिष्ठ हो जायगा और यत्र देवता बन जायगा। अर्थात् मनुष्य उपकरणवादी बन जायगा। वैसे सभी कलाकार और कारीगर यत्र-पूजक, अपने उपकरणो की पूजा करनेवाले होते ही हैं। लेकिन यह जो मैंने उप-करणवाद कहा, उसमे और इसमें फर्क है।

दशहरे के दिन घोडे की पूजा करते हैं। मोटर की भी पूजा करते है। बढई,

लोहार सब अपने-अपने औजारो की पूजा करते है। लेकिन जिस मात्रा मे यान्त्रिक यत्रनिष्ठ होते है, उस मात्रा में कारीगर कभी उपकरणनिष्ठ नही होते। नारायण मुझसे कहता है कि प्रार्थना सुबह ४।। बजे होगी। तो मै कहता हूँ कि ये प्रबोधभाई मुझे जगा देगे। लेकिन प्रबोधभाई की आँख ठीक समय पर खुल जायगी? यत्र चूकता नही, मनुष्य चूकता है। प्रबोधभाई प्रमाद कर सकते है, लेकिन घडी तो ठीक समय पर बजेगी ही। तो आखिर मनुष्य यत्र पर ज्यादा भरोसा रखता है। यत्र कभी प्रमादशील नही बन सकता। यत्र मनुष्य की जगह कैसे धीरे-धीरे लेता है, यह इससे देखने को मिलता है। यत्रीकरण के साथ समाज यत्रनिष्ठ हो जाता है। यत्र पर इतना भरोसा न हो कि वह मनुष्य की जगह ले ले। यत्र में इतना विश्वास न हो कि मनुष्य के ऊपर भरोसा ही न रहे। आर्थिक सयोजन मे यत्र हो, यह अलग बात है, लेकिन मनुष्य की जगह यत्र ही न आ जाय, इसकी सावधानी रखनी चाहिए।

यंत्र और मानवीय मूल्य

यही बात धार्मिक और सामाजिक मूल्यो के बारे में भी हमने कही थी। हमारा परम मूल्य मनुष्य है। मानवीय मूल्यो की जगह यत्र कभी ले नही सकता। दुनियाभर के सब क्रातिवादियो के सामने यह समस्या है। रूस के विचारको ने यही कहा है कि रूस की समस्या आर्थिक या औद्योगिक नही है, बल्कि सास्कृतिक है। मनुष्य को यंत्र-निष्ठा से मानव-निष्ठा की तरफ कैसे मोडा जाय, यही सवाल है। क्राति की प्रक्रिया मे हमें इसकी सावधानी रखनी चाहिए। आगे चलकर यह सवाल उठे, इसके बनिस्वत हम यह कहना चाहते है कि क्राति की हमारी प्रक्रिया ही मानवनिष्ठ हो। आगे चलकर हमारे सामने वे ही सवाल न खडे हो। इसलिए आज तक के क्रातिकारियो के प्रयत्नो से क्या नतीजा आया, हम लोग कहाँ तक आये हुए हैं, यह देख लेना चाहिए।

यत्र के साथ मानव-जीवन में बाहरी एकरूपता आयी। यत्रीकरण ने मनुष्य का 'प्रमापीकरण' किया। यंत्र के साथ सबको बाहर से समान बनाने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है, क्योकि यत्र एक ही छाप की चीज बना सकता है। एक ही यत्र अलग-अलग तरह की चीजें तो नही बनायेगा। अच्छा हुआ कि भगवान् के पास मनुष्य बनाने का यत्र नही था, नही तो सब मनुष्य एकदम एक-से ही होते। हम सब 'स्टैंडर्ड' माल बनते। जैसे आजकल यत्र-युग में हो रहा है। एक-सी टोपियाँ, बाटा के जूते सब एक-से बनने लगे हैं। ऐसा कोई साँचा भगवान् के पास नही रहा होगा। इसलिए भगवान् को अवैज्ञानिक माना जाता है। इसीलिए विज्ञान के क्षेत्र में बेचारे भगवान् को स्थान नही। यत्रीकरण के साथ 'स्टैंडर्डाइजेशन' (प्रमापीकरण) आता है। मनुष्य का बाह्य

रूप जहाँ तक हो सके, समान बनाने की ओर प्रवृत्ति होती है। ऐसी बाह्य समानता से लाभ भी है और हानि भी है। यन्त्रीकरण की क्या मर्यादा है, यन्त्रीकरण इससे आगे क्यो नही जाना चाहिए, यहाँ तक कैसे आया और किस मर्यादा से आगे उसे रुकना चाहिए, इसका विचार हमें करना होगा। क्यो करना होगा ? क्योकि हमारी प्रतिज्ञा है कि हमें अब 'धार्मिक विज्ञान' और 'वैज्ञानिक धर्म' की स्थापना करनी है। दोनो को अब सार्वभौम बनाना होगा और उसका मदिर सारे विश्व को बनाना होगा। उपासना में विविधता भले ही हो, लेकिन आज जैसा विरोध है, जैसी विषमता है, वह नही रहनी चाहिए।

प्रमापीकरण और विशिष्टीकरण

विज्ञान के कारण हमारे जीवन में सबसे बडा जो परिवर्तन हो जाता है, उसके दो लक्षण है—एक तो है प्रमापीकरण और दूसरा है विशिष्टीकरण। विज्ञान के पहले मनुष्य के सब औजार बहुधधी थे, जैसे कि हँसिया। उससे फसल काटी जा सकती है और झगड़ा हो जाय, तो गर्दन भी काटी जा सकती है। हाँ, तलवार में ऐसा नही है, वह सिर्फ गर्दन काटने का औजार है। विज्ञान के आने से औजार में विशिष्टीकरण हो गया। विशिष्ट यन्त्र बन गये। एक यन्त्र एक ही काम करता है। ●

चार प्रश्न : पुनर्जन्म, प्रेरणा, वर्ण और आश्रम : ४ :

हर सिद्धान्त का, हर तत्त्व का विचार मै सामाजिक मूल्य के नाते करता हूँ और समाज-परिवर्तन में हम जो क्रान्ति उपस्थित करना चाहते है, उस क्रान्ति में उसका कितना उपयोग है, इस दृष्टि से विचार करता हूँ।

"पहले समाज हुआ या पहले व्यक्ति हुआ ? पहले राज्य हुआ या पहले नागरिक हुआ ? पहले स्त्री हुई या पहले पुरुष हुआ ?" ये सब वृक्ष-बीज न्याय के प्रश्न कहलाते है। इन प्रश्नो को हमें पण्डितो के लिए छोड देना चाहिए।

१. पुनर्जन्म और पुरुषार्थवाद

पुनर्जन्म का मैने एक तथ्य यानी वास्तविकता के नाते कभी विचार नही किया। पुनर्जन्म एक उपपत्ति है। उसका अनुमान किया जा सकता है। मै इस विषय में शास्त्र मे से कुछ दृष्टान्त भी दूँगा।

नागरिक संधिपत्र

राज्यशास्त्र मे रूसो का नाम आता है। रूसो ने सामाजिक संघिपत्र का सिद्धान्त रखा है। उस सिद्धान्त का मतलब यह है कि नागरिको के बीच और राजा के बीच एक इकरारनामा हुआ और उस इकरार के मुताबिक समाज आगे चलने लगा। राज्य-शास्त्र की पुस्तको में कई अध्याय इस विषय पर लिखे गये है कि क्या यह एक ऐतिहासिक घटना है ? क्या किसी दिन राजा और प्रजा के बीच ऐसा इकरारनामा सचमुच हुआ था? सारे राज्यशास्त्री इस नतीजे पर पहुँचे कि यह ऐतिहासिक घटना नही है। यह एक उपपत्ति है। समाज के व्यवहार को समझाने के लिए एक सिद्धान्त है। हम नही जानते कि सामाजिक इकरार कभी हुआ था या नही। लेकिन यह तो मानना ही होगा कि यह तत्त्व आज की हमारी समाज-व्यवस्था में छिपा हुआ है।

पुनर्जन्म की कल्पना में तत्त्व की बात सिर्फ इतनी ही है कि मनुष्य अपने अच्छे-बुरे कामो के लिए जिम्मेवार है। जिसे हम दैव कहते है, वह भी मानव-निर्मित होता है, कर्म-जन्य होता है। मेरे लिए पुनर्जन्म-सिद्धान्त का इतना ही महत्त्व है। अपने अच्छे और बुरे कामो के लिए मनुष्य स्वय जिम्मेवार है। यह मनुष्य का कर्तृत्व कहलाता है। पुरुषार्थ और दैवाधीनता के सम्बन्ध मे पुराने शास्त्रो में अत्यधिक चर्चा है। हमें उसमें से समाज के अपने व्यवहारो के काम की जो चीज है, उसे ही उठा लेना है। वह

चीज यह है कि हम मनुष्य को, नागरिक को, जिम्मेवार मानते है। उसे उसके अच्छे कामो के लिए भी हम जिम्मेवार मानते है और बुरे कामो के लिए भी। इसे मैं मनुष्य की 'मनुष्यता' कहता हूँ।

पशु, देवता और मनुष्य में यह भेद है। देवयोनि भोगयोनि है और पशुयोनि भी भोगयोनि है। देव अपने कर्मों के लिए जिम्मेवार नही होते। वे तो पुण्य का उपभोग करने के लिए स्वर्ग में जाते हैं। पुण्य क्षीण होता है, तो फिर कर्म करने के लिए यहाँ मृत्युलोक में ही आते हैं। हमारा मानव-देह कर्म-प्रधान है। यह कर्मयोनि कहलाती है। अन्य देव और पशुयोनियाँ है। पशु भी अपने कामो के लिए जिम्मेवार नही होता। आपकी गाय अगर मेरा खेत चर जाय, तो सजा आपको होती है, गाय को नही। यह अपने अच्छे-बुरे कामो के लिए जिम्मेवार नही है। देव भी अपने अच्छे-बुरे कामो के लिए जिम्मेवार नही हैं। पर मनुष्य अपने अच्छे-बुरे कामो के लिए जिम्मेवार है।

फिर विषमता क्यो है ? तब यह कहा जाता है कि मनुष्य की सारी परिस्थिति उसके कर्मो का परिणाम है। इसीलिए पिछले जन्म के कर्म इस जन्म की परिस्थिति के लिए जिम्मेवार हैं। ऐसी एक उपपत्ति उसमें से निकाल ली। अब आप इसमें से यह जन्म, अगला जन्म और पिछला जन्म, इतना निकाल दीजिये; सिर्फ इतना ही सिद्धान्त ग्रहण कीजिये कि हर मनुष्य अपने अच्छे-बुरे कामो के लिए जिम्मेवार है और यही मनुष्य-योनि की विशेषता है।

क्रान्ति और पुनर्जन्म

अब जिस क्रान्ति को हम उपस्थित करना चाहते हैं, उसके साथ इस विचार का क्या अनुबन्ध है ? एक भाई ने सवाल किया था कि "तुम मार्क्सवाद की बात करते हो, तो क्या यह नही मानते कि आज की परिस्थिति, आज की हमारी विषमता मनुष्य की आर्थिक परिस्थिति का, अर्थ-रचना का परिणाम है ?" मै मानता हूँ। परिणाम अर्थ-रचना का है, मनुष्यो की अर्थ-रचना का है, लेकिन सिर्फ परिस्थिति का परिणाम नही है। इसमें मनुष्यो का अपना कर्तृत्व भी कुछ है। इतनी बात उसमें और जोड़ देना चाहता हूँ। यह केवल ऐतिहासिक नियति नही है। ऐतिहासिक नियति में मनुष्य के पुरुषार्थ का भी कुछ हिस्सा रहता है। सवाल यह है कि क्या केवल ऐतिहासिक नियतिवाद सही है ? समाज की जो प्रगति होती है, समाज में जो परिवर्तन होता है, वह क्या केवल प्राकृतिक नियमो के अनुसार होता है ? जैसे खेती है। युधिष्ठिर से पूछा था कि "तेरी खेती क्या सिर्फ बारिश पर निर्भर है ? जब बारिश आयेगी तब खेती होगी, जब बारिश का मौसम होगा, तभी खेती होगी ?" इसका मतलब यह था कि

बारिश पड़ना या न पड़ना किसान के हाथ की बात न थी। बारिश जब होगी, तब उसकी खेती हो सकेगी, जब बारिश नही होगी, तब खेती नही हो सकेगी। प्राकृतिक नियमो का एक विशिष्ट परिस्थिति में सयोग होगा, तब तो हमारी क्राति हो सकेगी। उन प्राकृतिक नियमो का संयोग नही होगा, तो ऐतिहासिक घटना भी नही घट सकेगी। क्या हम इतना ही मानें या इससे अधिक कुछ मानें ?

यह सवाल सिर्फ आपके-मेरे सामने नही है। वैज्ञानिक समाजवाद के सामने भी यह सवाल आया। उसके प्रवक्ताओ ने लिखा कि जिस तरह से जड प्रकृति के नियम होते हैं, उसी तरह से मानवीय प्रकृति के नियम होते हैं। प्रकृति में हम जो सिद्धान्त पाते हैं, जिस तरह की रचना पाते है, उसी तरह से मानवीय समाज का भी विकास होता है, उसमे परिवर्तन होता है।

सवाल यह उठता है कि तो फिर मनुष्य के करने के लिए कुछ रह जाता है या नही ? जिसे आप क्रातिकारी पक्ष कहते है, उसकी कोई भूमिका है या नही ? यह सवाल उसमें से पैदा होता है। मार्क्स, ऐंगल्स को कहना पड़ा, "क्रातिकारी पक्ष वह है, जो इस सयोग को, प्राकृतिक नियमो के सयोग को, देख सकता है और ऐतिहासिक आवश्यकता से फायदा उठा सकता है।" यहाँ पर पुरुष का कर्तृत्व आ जाता है।

मैंने इसे पुनर्जन्म के साथ कैसे जोड़ा ? पुनर्जन्मवादी पहले कहता था, "जैसी नियति होगी, वैसा काम हमसे होगा। भगवान् जिस तरह से हमसे करायेगा, उस तरह से हम कर लेंगे।" तो फिर सवाल यह होता है कि "करानेवाला भी भगवान्, करनेवाला भी भगवान्, तो बुरे कामो की सजा भी भगवान् को ही मिलनी चाहिए।" कुछ ईसाई ईमानदार निकले। उन्होंने कहा कि "हाँ, हमारी सजा तो ईसा ने भुगत ली, अब हमको भुगतने की आवश्यकता नही रह गयी है।" तब विवेकी मनुष्य ने कहा कि "यह तो मेरे ईमान के खिलाफ है। मेरी प्रतिष्ठा के खिलाफ है। मै बुरा काम करूँ और उसकी सजा कोई दूसरा भुगते, यह बात मेरी इज्जत के, मेरी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल मालूम होती है। मै अपने लिए किसी दूसरे को सजा नही भुगतने दूँगा।" यह जो कर्म-विपाक का, पुनर्जन्म का सिद्धान्त है, वह सिद्धान्त मनुष्य को भाग्यवादियो से और नियतिवादियो से ऊपर उठा देता है। पुरुष को वह पुरुषार्थ के लिए प्रेरित करता है। हम जिस क्रान्ति का विचार कर रहे है और जिन सामाजिक मूल्यो का विचार कर रहे हैं, उन सामाजिक मूल्यो की स्थापना में पुरुषार्थ के लिए अवसर है। पिछले समाज के पाप इस समाज को भुगतने पडते हैं। सामुदायिक पाप का मतलब है, सामूहिक दुष्कर्म। इससे अधिक कुछ न समझिये। पूँजीवादी समाज मे जितने दोष है, उन दोषो के परिणाम हम सबको

भुगतने पडते है। इसमें किसीका व्यक्तिगत दोप और व्यक्तिगत पाप नही है। जो गरीब है, उसने पिछले जन्म में पाप किया होगा, यह पुनर्जन्मवादी कहेगा। पर मैं सामाजिक सिद्धान्त का निरूपण आपके सामने कर रहा हूँ। उसके अनुसार मैं यह कहूँगा कि पिछले समाज में जो दोप थे, उन दोषो का परिणाम आज के समाज के व्यक्तियो को भुगतना पड रहा है। इसलिए जो क्रातिकारी पक्ष होगा, उसे उन कारणो का, जिन कारणो का यह परिणाम है, अध्ययन करना होगा।

२. प्रेरणा का प्रश्न

प्रेरणा का प्रश्न लीजिये। सवाल है कि सबका स्वार्थ विलीन हो जायगा, तो क्या 'प्रेरणा' समाप्त नही हो जायगी ? 'प्रेरणा' का अर्थ है—काम करने की प्रेरणा। प्रेरणा की समस्या आज तक आप लोगो को तग कर रही है। सारे क्रातिकारियो को, सारी राज्य-सस्थाओ को, सारी सामाजिक सस्थाओ को, यह हमेशा से तग करती आ रही है। इसका मुख्य कारण यह है कि पूँजीवाद ने हमारे मन में यह भ्रम उत्पन्न कर दिया है कि बगैर फायदे के मनुष्य कोई काम कर ही नही सकता। विनोबा का एक प्रसिद्ध लेख है—"फायदा क्या है ?"* किसीने पूछा, "इससे क्या फायदा ? उससे क्या फायदा ?" तो विनोबा ने कहा, "एक सवाल अतिम पूछ लें कि फायदे से भी क्या फायदा है ? यह आखिरी सवाल तू नही पूछता है !"

उपयोगितावाद

स्वार्थ जब व्यापक हो जाता है, तो वह नि स्वार्थ मे परिणत हो जाता है। अब इसे आज के समाजशास्त्र की परिभाषा में देखिये।

'अधिकतम सख्या का अधिकतम सुख' यह सिद्धान्त आया उपयोगितावाद से। विनोबा ने इसका नाम रखा है—फायदावाद। उपयोगितावादी बडे बुद्धिवादी और व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवादी थे। उन्होंने एक सिद्धान्त बना दिया, "हरएक को अपना फायदा चाहिए, ससार में यदि हर व्यक्ति अपने फायदे का विचार करे, तो सबका फायदा अपने-आप हो जायगा।" कुछ शास्त्रियो ने, जो जीवन से विमुख थे, इसका विचार गणित की परिभाषा में इस प्रकार रखा · अ+ब+क=अ×ब×क। यानी मेरे, प्रबोध के और नारायण के, तीनो के अलग-अलग फायदो के जोड का नाम है तीनो का सम्मिलित फायदा यानी व्यक्तियो के स्वार्थों के जोड का नाम समाज का स्वार्थ है, समाज का हित है। उनका मत है कि जब तक फायदा न हो, तब तक आदमी कोई काम नही करेगा

* मधुकर, ले० विनोबा, पृष्ठ ६१-६४।

और एक आदमी दूसरे के फायदे के लिए काम नही करेगा। इसलिए हरएक का अपना फायदा ही काम की प्रेरणा हो सकती है। यहाँ तक आदमी पहुँचा किस कारण? पूँजीवाद के कारण। परिस्थिति में जो मूल्य प्रचलित हो जाते है, उनके अनुरूप मनुष्यो के सस्कार वन जाते हैं।

पूंजीवादी के पास जव वहुत घन हो जाता है, तो यह सवाल उसके सामने होता है कि इस घन का क्या करें? कोई उन्हें स्वर्ग का, मोक्ष और वैकुण्ठलोक का आश्वासन न दे, तो भी घनवानो के पास ज्यादा घन हो जाने के वाद उनके मन में उस घन को वाँटने की आकाक्षा स्वत. पैदा होती है। हमने अव तक मनुष्य की लाभ की ही प्रेरणा की ओर घ्यान दिया है, जो उसकी प्रघान प्रेरणा नही है।

मानव की सामाजिकता

मनुष्य की प्रधान प्रेरणा यह है कि वह दूसरो को अपने जीवन मे शामिल करना चाहता है। इसीको हमने उसकी 'सामाजिकता' कहा है। यह हमने गलत मान लिया है कि मनुष्य अपने जीवन में दूसरो को शामिल नही करना चाहता, वह स्वय ही उपभोग करना चाहता है। यही यदि एकमेव सत्य होता, तो मनुष्य ने कभी सहजीवन को आदर्श नही माना होता। मनुष्य जिस आदर्श को मान्य रखता है, वह आदर्श उसकी नैसर्गिक प्रेरणा के अनुकूल अवश्य होता है, नही तो आदर्श की पूजा ही नहो हो सकती। आदर्श की पूजा क्यो होता है? आखिर मै आदर्श को मानता क्यो हूँ? मेरे अपने भीतर कोई-न-कोई एक नैसर्गिक आकाक्षा होती है, वह आदर्श का रूप लेकर मेरे सामने खडी हो जाती है। कृष्णमूर्ति तो कहने लगे है कि यह सारा आत्मा का आरोप ही है। हमारे जो आदर्श और ध्येय होते हैं, उनकी आकाक्षाएँ हमारे भीतर ही होती हैं। जैसे, मरते है, मरना नही चाहते तो स्वर्ग की कल्पना कर ली, जहाँ जीते ही रहेंगे और मरने का कभी मौका ही नही होगा। काम करते है, खाने को नही मिलता, तो स्वर्ग की कल्पना कर ली, जहाँ काम करना ही नही पडेगा और अपने-आप खाने को मिल जायगा। ऐसी कुछ आकाक्षाएँ जो चित्त में होती है, उनके अनुरूप मनुष्य अपने आदर्श निर्धारित कर लेता है।

सामुदायिक प्रेरणा

इसका अर्थ यह है कि मनुष्य मे एक अन्य प्रेरणा भी है। वह दूसरे जीवो को अपने जीवन में दाखिल कर लेना चाहता है। यही मनुष्य की मुख्य प्रेरणा है और अन्य सव प्रेरणाएँ गौण हैं। सारा समाज मनुष्यो की गौण प्रेरणाओ का, उनकी व्यक्तिगत

प्रेरणाओ का नियमन करना चाहता है और सामाजिक प्रेरणाओ का विकास करना चाहता है।

मान लें कि कल सयोग से एक शहर की म्युनिसिपैलिटी मे सबके सब सदस्य चोर ही हैं। अब एक चोर यह प्रस्ताव लाता है कि चोरी करना हम सबका धर्म है, तो ऐसा प्रस्ताव कभी पास नही होगा। वे सब चोर है, लेकिन जो माल वे चुराकर लाते है, उसका वे सरक्षण चाहते हैं। हर व्यक्ति यही चाहता है कि दूसरे का धन अरक्षित रहे, पर मेरा अपना धन सुरक्षित रहे। सब लोग अपने-अपने धन का सरक्षण चाहते है। इसलिए चोरो की म्युनिसिपैलिटी में भी प्रस्ताव यही होगा कि चोरी नही करनी चाहिए, चोरी करना पाप है। राज्यशास्त्र में इस विषय की बहुत चर्चा हुई है कि 'सार्वजनिक इच्छा' जनता का मत, क्या है, और उसका स्वरूप क्या है।

हम जो यह समझते है कि मनुष्य की मूल प्रेरणा, असत् प्रेरणा है, वह हमारी एक बहुत बडी भूल है। वह ज्ञान मिथ्या है और उसे ज्ञान ही यदि कहना है, तो वह 'अधूरा ज्ञान' है। समाज में मनुष्य की मूल प्रेरणा कभी इस प्रकार की स्वार्थी प्रेरणा नही रही है। ससार मे जितने भी बडे काम हुए है, वे सबके सब मनुष्य की स्वार्थी प्रेरणा को छोड कर हुए हैं। विज्ञान का शोध प्रायः किसी मनुष्य के स्वार्थ के लिए नही हुआ है। वैज्ञानिक सशोधक अधिकाश गरीब और विपद्ग्रस्त थे। कोई भी सद्-ग्रन्थ स्वार्थी प्रेरणा के लिए, मुनाफे या बदले के लिए आज तक नही लिखा गया।

विनोबा अक्सर कहते हैं कि तुलसीदास को रामचरित मानस के लिए क्या किसीने मगलाप्रसाद पारितोषिक किया था ? और क्या किसीने ईसा से यह कहा था कि तुम बाइबिल लिख दोगे, तो हम तुम्हें नोबेल प्राइज दे देंगे ? मनुष्य मे यह प्रेरणा हमेशा से रही है कि जब तक वह अपने आनन्द में और अपने दु ख में दूसरो को शामिल नही कर लेता, तब तक उसे सतोष नही होता। यह सामाजिक प्रेरणा कहलाती है। इसी पर मार्क्सवाद खडा है, इसी पर समाजवाद स्थित है और इसी पर कम्युनिज्म भरोसा रखता है। यह सारी प्रेरणा आयेगी कहाँ से ? उन लोगो का कहना है कि मनुष्य की मुख्य प्रेरणा सामाजिक है। आज की अर्थ-रचना उसकी मुख्य प्रेरणा में बाधक होती है, इसलिए सिर्फ बाधाओ का निराकरण करना है। सामाजिक प्रेरणा मनुष्य में स्वाभाविक है। जितने भी सामाजिक व्रत हैं, जिनका कोई सामाजिक मूल्य है, उन सब व्रतो का आधार, उन सारे सकल्पो का आधार भी मनुष्य की यह सामाजिक प्रेरणा है। मनुष्य की इस प्रेरणा के मूल में यह सामाजिक वस्तुस्थिति है कि समाज मे यदि मुझे जीना है, तो दूसरो को जिलाना होगा। दूसरो को जिलाना है, तो अपने जीवन में मुझे अन्य सारे

जीवो को शामिल करना होगा। मनुष्य की यह जो सास्कृतिक या सामाजिक प्रेरणा है, यही मुख्य प्रेरणा है। इस प्रेरणा में बाधक होनेवाली अर्थ-व्यवस्था का हमे निराकरण करना है। क्राति सिर्फ इतना ही करती है कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा के लिए अवसर उपस्थित करती है। इसके समर्थन मे कम्युनिज्म मे से एक उदाहरण लीजिये।

मुक्त प्रेम

रूस में जब पहले-पहल कम्युनिज्म की स्थापना हुई, तो वहाँ पर 'मुक्त प्रेम' की बात चली। मुक्त प्रेम से मतलब, स्त्री और पुरुष के बीच कोई बन्धन न हो, नीति का बन्धन न हो, सदाचार का बन्धन न हो, उनका सबध प्रेम से ही हो और उन्मुक्त सबध हो। यह देखकर दुनिया मे जितने नीतिवादी लोग थे, वे सब घबडा गये। उनके दिल मे बहुत चोट लगी कि रूस मे यह सब क्या हो रहा है! कम्युनिज्म क्या कभी नीति और सदाचार का विचार कर सकता है? ये तो बिलकुल भोगवादी लोग है। इन लोगों ने यह क्या कर दिया? तब कम्युनिस्ट समाजशास्त्रियो ने जवाब दिया कि 'हमने क्या किया? पहले स्त्री-पुरुष की शादी अवान्तर कारणो से होती थी। अवान्तर कारणो से मतलब यह है कि स्त्री संरक्षण चाहती थी, सामर्थ्यवान् पुरुष से शादी कर लेती थी। स्त्री आर्थिक सुरक्षितता चाहती थी, इसलिए धनवान् पुरुषो से शादी कर लेती थी। समाज में प्रतिष्ठा चाहती थी, इसलिए सुशिक्षित पुरुष से शादी कर लेती थी। इस शादी के लिए उसे तरह-तरह की कीमत चुकानी पडती थी—कुलीनता की कीमत, शिक्षण की कीमत, धन की कीमत, सम्पत्ति की कीमत, पुरुषार्थ की कीमत, वैभव की कीमत! नतीजा यह था कि स्त्री और पुरुष का परस्पर सबध समान भूमिका पर से हो ही नही सकता था। हम कम्युनिस्ट या मार्क्सवादी यह मानते ही नहीं हैं कि स्त्री और पुरुष दोनो को अतिभोग का शौक हो सकता है। स्त्री और पुरुष के सबध में जो कृत्रिम मर्यादाएँ आ गयी थी, उन कृत्रिम मर्यादाओ का निराकरण करने के बाद ही हम उन दोनो का सबध स्वाभाविक नीति के आधार पर, सदाचार के आधार पर किस प्रकार हो सकता है, इसका विचार कर सकेंगे।' मैंने कम्युनिस्टो के यहाँ से यह एक उदाहरण इसलिए दिया है कि उन्हें प्रेरणा के प्रश्न के बारे में जब-जब सोचना पड़ा, तब-तब वे इस परिणाम पर पहुँचे कि मनुष्य स्वभावत सत्-प्रवृत्त है। दुष्प्रवृत्ति विकार है, सत्-प्रवृत्ति ही उसका मूल स्वभाव है। इसे मैं आस्तिकता कहता हूँ। कम्युनिस्टो ने कहा कि असत्-प्रवृत्ति परिस्थितिजन्य है। परिस्थिति के परिवर्तन के बाद मानव की सद्-प्रवृत्ति तो उसका स्वभाव ही है।

हमारा यह डर व्यर्थ है कि प्रेरणा निकल जायगी। वह बिलकुल नही निकलेगी।

मुनाफे की प्रेरणा समाप्त होगी, तो उसकी जगह स्नेह की प्रेरणा आ जायगी। यानी होटलवाले की प्रेरणा चली जायगी और माँ की प्रेरणा आ जायगी। बस इतना ही इसमें फर्क है।

३. वर्णव्यवस्था का प्रश्न

मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि वर्णव्यवस्था का विधिपूर्वक और सम्मानपूर्वक अंत कर देना चाहिए।

हम जिस समाज का निर्माण करना चाहते हैं, वह समाज व्यवसायनिष्ठ नही होगा, समन्वयात्मक होगा। व्यवसायनिष्ठ समाज मे व्यवसायवादी बस्तियाँ, उपनिवेश होते है। मनुष्यो की बस्तियाँ उनके व्यवसाय के अनुरूप बनती चली जाती है। मैं इससे इनकार नही करता कि वर्णव्यवस्था ने किसी जमाने में हमारा बहुत बडा उपकार किया होगा। लेकिन वर्णव्यवस्था में से एक महान् अनर्थ निकला है और वह यह कि मनुष्यो के रोजगारो के अनुरूप उनकी बस्तियाँ बनी हैं। छोटे-छोटे गाँवो में कुम्हारो का मुहल्ला है, मालियो का मुहल्ला है, तेलियो का मुहल्ला है, ब्राह्मणो का मुहल्ला है, चमारो का मुहल्ला है। जगह-जगह, हर गाँव मे तेलिस्तान, मालिस्तान बन गये हैं। यह वर्णव्यवस्था का प्रताप है। वर्णव्यवस्था के कारण समाज व्यवसायनिष्ठ बन गया और व्यवसायनिष्ठ समाज बन जाने के कारण, एक व्यवसाय करनेवाले को दूसरे किसी व्यवसाय का ज्ञान रखना गलत ही नही मालूम होता, बल्कि उसने उसे 'पर-धर्म' समझा है—'**परधर्मो भयावहः**'। दूसरे किसी व्यवसाय की जानकारी कर लेना भी उसके लिए एक महान् भय है।

व्यवसाय-संकरता

मुझे याद है कि कोई २०-२५ साल पहले मैं एक गाँव में गया था, तो मैंने एक लडके से कहा कि "तुम्हारे गाँव में तो बहुत साइकिलें दिखाई देती हैं, अब तो मोटर-साइकिल भी आ गयी !"

कहने लगा, "हाँ, यहाँ मुसलमान का घर है और एक सिख का घर है। वे मोटर-साइकिल और साइकिलें हमेशा लाया करते हैं और उनकी मरम्मत किया करते हैं।"

"मुसलमान और सिख करते हैं, और तुम क्यो नहीं करते ?"

"हमारा तो", कहने लगा, "रोजगार बना हुआ है। बढई हैं हम, और अब हम बढई का रोजगार छोडकर थोडे ही दूसरा कोई रोजगार कर सकते हैं।"

"मुसलमान और सिख क्यो कर सकते है ?"

लडका बोला, "उनकी कोई जाति थोड़े ही है ? उनके यहाँ कोई रोजगार थोड़े ही होता आया है ? वह तो जो रोजगार करेंगे, वही उनका रोजगार है।"

बबई, कलकत्ता और मद्रास में जितने यान्त्रिक है, उनमें से बहुतेरे या तो सिख है या मुसलमान। ऐसा क्यो है ? वर्णव्यवस्था के कारण हिन्दू-धर्म में एक तरफ से तो प्रतियोगिता गयी, और दूसरी तरफ से सकीर्णता आ गयी। लोग कहते है कि हिन्दू-धर्म बडा सहिष्णु है। मै कहता हूँ, "सहिष्णु नही है, वह सकीर्ण है।" सहिष्णुता के लिए वहाँ कोई अवसर ही नही। वह बहुत सकीर्ण हो गया है। एक व्यवसाय करनेवाला व्यक्ति यदि दूसरा व्यवसाय करने लगता है, तो वह व्यवसाय-सकर, वर्णसकर हो जाता है। लोग वर्णसकर से बहुत घबराते है। एक दफा एक सनातनी ने मुझसे कहा था कि "इससे वर्णसकर हो जायगा।" मैने कहा, "अब आप हिन्दुस्तान मे वर्णसकर की बात करते हैं ? जहाँ पर चार जातियो की चार हजार जातियाँ हो गयी, वहाँ अब और वर्णसकर के लिए क्या कोई गुजाइश रह गयी है ? इन चारो हजार का कहना है कि हम सबका खून पवित्र है। यह दावा तो हिटलर से भी एक कदम आगे है।"

वर्ण-व्यवस्था का आधुनिक रूप

समन्वयात्मक समाज-रचना के लिए वर्णव्यवस्था अत्यन्त प्रतिकूल व्यवस्था है। वर्णव्यवस्था का आधुनिक रूप भी देख लीजिये। यहाँ अहमदाबाद में कितने प्रकार की मिलें है ? शायद एक ही तरह की है—कपडे ही कपडे की। तो स्पष्ट है कि अहमदाबाद में जितने मजदूर है, वे सिर्फ कपडो की मिलो मे काम करनेवाले है। टाटा के जमशेदपुर में जितने मजदूर है, वे लोहे की मिल में काम करनेवाले मजदूर है। डालमिया की सीमेण्ट फैक्टरी में काम करनेवाले जितने है, वे सब सीमेण्ट का काम करनेवाले है। अब कुछ जुलाहे, कुछ लोहार, कुछ कुम्हार हो गये न ? और वे टाटा ऑइल मिलवाले तेली हो गये।

हमसे लोग कहते है कि तुम बडे पैमाने पर यन्त्रीकरण के क्यो खिलाफ हो ? हम 'विकेन्द्रीकरण-केन्द्रीकरण' शब्दो के पीछे बिलकुल नही जाना चाहते। हम कहना यह चाहते है कि उत्पादन यदि बड़े पैमाने पर होगा, तो एक कारखाने में काम करनेवाले मजदूरो की एक बस्ती बनेगी और सारा समाज व्यवसायनिष्ठ बन जायगा। वर्ण-व्यवस्था में जो बुराई आयी, वही बुराई बड़े पैमाने के केन्द्रीकरण के उत्पादन मे आने

वाली है। अमेरिका, रूस और चीन आज यदि इस वात को नही पहचान रहे हैं, तो वह दिन वहुत जल्दी आनेवाला है, जव ससार के सारे अर्थशास्त्रियो को यह विचार करना होगा कि हमें समाज समन्वयात्मक वनाना है, तो उसमें केन्द्रित उत्पादन के लिए जगह नही हो सकती। समन्वयात्मक समाज के लिए वड़े पैमाने पर उत्पादन काम का ही नही है। वडे पैमाने पर उत्पादन होता है, तो मनुष्य व्यक्तित्वहीन हो जाता है। उसका व्यक्तित्व क्षीण हो जाता है, समाप्त हो जाता है। उसका व्यक्तित्व उत्पादन में भी नही रहता और वितरण में भी नही।

व्यक्तित्व की समाप्ति

एक दफा वडा मजा हुआ। यह जो हमारी विमल है, इससे विनोवा ने कहा कि "मैं जैसा जता पहनता हूँ, वैसा जूता तुम वनवा लो, तो वहुत अच्छा रहेगा।" चमार को वुलवाया और उसे पैर का नाप दे दिया। उसने वहुत सुन्दर जूता वनाया। देखकर तवीयत खुश हो गयी। लेकिन वह लडकी के पैर में ही नहीं आता था! तो हमने चमार से कहा कि "यह जूता तो लडकी के पैर में आता ही नही।"

वह वोला, "नाप के वरावर नही है? देख लीजिये।"

हमने कहा, "नाप के वरावर तो है।"

उसने पूछा, "अच्छा है कि नही?"

"अच्छा भी है!" मैंने कहा, "लेकिन पैर में नही आता।"

तो कहने लगा, "पैर गलत है। नाप के मुताविक नही है पैर। मेरे वनाने में तो कोई गलती नही है। नाप जैसी थी, वैसा जूता मैंने वना दिया है।"

तो मैंने कहा, "आखिर तुम चाहते क्या हो?"

"हम कुछ नही चाहते। हमने जूता वनाया है, तो आप दाम दे दीजिये।"

मैंने कहा, "हम दाम भी दे देते है और जूता भी दे देते हैं। यह पहनने के काम का तो रह नही गया है।"

वह वोला, "कोई हर्ज नहीं। आप पहनते हैं या नही, इससे हमको ज्यादा मतलव नही। हमने जूता वनाया है, उसके दाम हमें मिल जाने चाहिए।"

इस प्रकार से उत्पादन भी व्यक्तित्वहीन हो गया और जिसे आप उपयोग कहते हैं, वह भी व्यक्तित्वहीन हो गया।

विशिष्टता बनाम एकांगिता

उत्पादन में मनुष्य के व्यक्तित्व का जितना ह्रास होगा, उतना ही मनुष्य के सत्त्व

का भी ह्रास होगा। हम तो नही चाहते कि मनुष्य एकागी बने। हमारा सबसे बडा आक्षेप आज के विज्ञान पर यही है न कि इसमें व्यक्तित्व का विकास नही होता, यह मनुष्य को एकागी बनाता है। आज का विज्ञान विशिष्टीकरण के नाम पर मनुष्य को एकागी बना रहा है। नाम 'विशिष्ट' का लेता है, लेकिन मनुष्य बन रहा है, एकागी। मनुष्य का विकास सर्वांगीण होना चाहिए, मनुष्य एकागी नही रहना चाहिए। सर्वांगीण विकास के लिए यह आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न व्यवसाय करनेवाले लोग एक ही बस्ती मे रहें और एकत्र रहें। इनका सह-भोजन भी होना चाहिए और सह-विवाह भी। लोग कहते हैं कि जाति नही रहनी चाहिए और वर्ण रहने चाहिए। वर्ण रहेंगे और जाति नही रहेगी, ऐसी व्यवस्था कल्पना में ही हो सकती है। उसके लिए पहला कदम यह होगा कि भिन्न-भिन्न व्यवसाय करनेवाले लोग एक बस्ती में रहे, अडोस-पड़ोस मे रहें, उनमें सह-भोजन भी हो और सह-विवाह भी।

व्यवसाय और वर्ण

बापू से पूछा गया, तो उन्होने कहा कि चरखा हरएक को चलाना चाहिए। यहाँ अहमदाबाद की अदालत में उनसे उनका पेशा पूछा गया, तो उन्होने कहा, "मैं जुलाहा हूँ और किसान हूँ।" वे जुलाहे भी थे, किसान भी थे, झाडू लेकर भगी का भी काम करते थे। तो अब इनका वर्ण क्या रहा ? वे जितने काम करते थे, क्या उतने वर्ण होगे ? उसमे से एक युक्ति निकाल ली गयी कि हर व्यक्ति में चारो वर्ण होगे और हर व्यक्ति चारो वर्णों का होगा। इतनी जटिल भाषा मे घुमा-फिराकर द्राविडी प्राणायाम क्यो करते हैं ? कह दीजिये कि वर्ण नही रहेगा। इसका यही मतलब हुआ कि हर आदमी चारो वर्णों का होगा ! **सर्व ब्राह्मणम् इदं जगत्।** इसका अर्थ अन्तत यही होता है कि वर्ण नाम की कोई वस्तु नही रहेगी। वर्ण जातिनिष्ठ ही रह सकता है, व्यवसायनिष्ठ रह नही सकता।

व्यवसाय के अनुसार वर्ण, यह बात सुनने में बहुत सुहावनी लगती है; लेकिन यह असम्भव वस्तु है। उसमें वर्ण का निर्णय नही हो सकता। अब कल्पना करें कि मैंने तय कर लिया कि मैं जुलाहे का काम करूँगा, कपडे बुनूंगा। मैं अपने बेटे को क्या काम सिखाऊँगा ? प्रतियोगिता तो है नही। जितने भी रोजगार हैं, समान रूप से प्रतिष्ठित हैं। उनके लिए जो वेतन या समाज से प्रतिमूल्य मिलता है, वह भी समान है। तो अब कोई ऐसा लोभ तो है नही कि लडके का रोजगार बदलूं। अपना ही रोजगार उसे सिखा देता हूँ। उसकी शादी किससे कराऊँ ? सुनार की लडकी से कराता हूँ तो फिर घर में ऐसी लडकी आ जाती है कि जो रोजगार नही जानती। इसलिए जुलाहे का काम

करनेवाली लडकी से ही उसकी शादी करानी होगी। यह भी देखना पडेगा कि उसका बाप भी जुलाहे का काम करता था कि नही ? तो पीढियो तक जिसने जुलाहे का काम किया हो, उसकी लडकी मेरे लडके के लिए अधिक उपयुक्त है, क्योकि आनुवशिक कला उसमें अधिक आ सकती है। 'वर्ण' 'जाति' में वदल गया।

पड़ोसी के लिए उत्पादन

जाति का निराकरण और वर्ण का सरक्षण एक असमव परिस्थिति है। इसलिए तीन सकल्पो में एक सकल्प मैंने आपके सामने यह रखा था कि जाति-निराकरण भी होना चाहिए।

दूसरे को जिलाने के लिए जियेंगे, तो उत्पादन भी पडोसी के लिए होगा, अपने लिए नही। मैं जो कुछ उत्पादन करूँगा, वह पडोसी के लिए करूँगा। पडोसी के लिए उत्पादन का अर्थ क्या है ? उसका एक उदाहरण मैंने आपको चमार का दे दिया। दूसरा उदाहरण वाटा का। वाटा की दूकान मे मैं पहुँचता हूँ। दूकानदार पूछता है, "कितने नवर का जूता चाहिए ?"

"पाँच नवर का।"

वह ढीला होने लगा, तो मैं चार नवर का माँगता हूँ। पर वह तग होता है !

मैंने कहा, "साढे चार नवर का चाहिए।"

"साढे चार नवर का भी जूता होता है ? इतना भी नही जानते ?"

मैंने कहा, "लेकिन पाँच नवर का वड़ा होता है, और चार नवर का छोटा होता है।"

वह कहता है, "जूते तो हमने सव आकार के वनाये, अव तुम्हारा पैर अगर दुनिया के वाहर का हो, तो मैं क्या करूँ ? इसमें जूते वनानेवाले का क्या दोप ? हमने सवके नाप के जूते वनाकर रख दिये हैं। तुम्हारे आकार का ही जूता नही है, इसमें हमारा कोई दोप नही है।"

अव समन्वयात्मक समाज की कल्पना कर लीजिये। इसमें परिचय की घनिष्ठता है। जूता वनानेवाला हम तीनो—दादा, नारायण, प्रवोध को जानता है। अव इससे पूछिये कि यह जूता किसके लिए वनाया है ? कहता है, "इस जूते का एक पैर कुछ वडा है, एक पैर कुछ थोडा-सा छोटा है। यह दादा के लिए वनाया है।"

"और यह जूता ?"

"ये दोनो पैर कुछ एक-से हैं, लेकिन एक की चौड़ाई में कुछ फर्क आ जाता है। यह नारायण के लिए वनाया है।"

"यह तीसरा जूता ?"
"यह प्रबोध के लिए बनाया है।"

शहर : देहात और घनिष्ठता

इस प्रकार हम देखते है कि यहाँ जूता बनाने में भी दिलचस्पी है। आपका जो समाज होगा, आपकी जो वस्ती होगी, उसका आकार इतना छोटा होना चाहिए कि उसमे घनिष्ठता रह सके और नागरिको का एक-दूसरे के साथ इतना निकट सबध हो सके कि वे एक-दूसरे को पहचान सकें। वम्बई जैसा न हो।

नारायण मुझे वम्बई ले गया था। बोला, "भाषण करो।" मैंने कहा, "वम्बई में सबसे पहली बात मैं यह कहना चाहता हूँ कि यहाँ आदमी के लिए स्थान नही। यहाँ आदमी आता है या तो खोने के लिए या छिपने के लिए। मान लें कि अहमदावाद के किसी सेठ का लडका भाग गया। वाप सोचता है कि कहाँ खोजूं? चलूं, वम्बई में खोजूं। छिपने के लिए वही जगह है। वम्बई में आदमी खो ही जाता है या छिप जाता है। वह विलकुल व्यक्तित्वशून्य बन जाता है।

पजाव में मैं गया, तो देखा कि कुछ स्त्रियाँ मुंह खोले घूमती थी। परन्तु कुछ तरुण स्त्रियाँ और कुछ बूढी स्त्रियाँ घूंघट निकालती थी। मैंने उनसे पूछा, "यह क्या तमाशा है कि कुछ स्त्रियाँ तो घूंघट डाले हैं, और कुछ मुँह खोले घूमती है।" मुझे वताया गया कि गाँव की जो वहुएँ, भौजाइयाँ हैं, वे घूंघट डालकर घूमती हैं और गाँव की जो लडकियाँ हैं, वे मुँह खोले रहती है।

मैंने पूछा, "यह 'गाँव की लडकी' क्या होती है ?"

वोले, "गाँव की लडकी ? इस गाँव में एक आदमी की लड़की सबकी लड़की है। एक आदमी का दामाद सबका दामाद है।"

अब ववई में कौन किसकी लड़की है और कौन किसका दामाद है? वहाँ कोई किसीको पहचानता ही नही है। किसी परीक्षा की बात ले लीजिये :

"कितने लडके वैठे है परीक्षा म ?"
"दस हजार।"
"पास कितने हुए ?"
"आठ हजार; दो हजार फेल हुए।"
"अरे, उनमें हमारा भाई भी है।"
"लेकिन वह दो हजार में एक है। हम क्या जानें ? होगा तुम्हारा भाई।"

गाँव की परीक्षा की बात लीजिये :

"कितने लडके परीक्षा में बैठे थे ?"

"पचीस।"

"कितने फेल हुए ?"

"पाँच फेल हुए।"

"कौन-कौन फेल हुए ?"

"फलाने-फलाने के लडके फेल हुए। बहुत बुरा हुआ !"

गाँव में सब व्यक्तिगत हो गया। सबको सभी पहचानते है।

मान लीजिये, बबई में आग लगी :

"उत्तर की तरफ लगी है। मालूम होता है, फलानी जगह आग लगी है।"

पर गाँव में आग लगी :

"अरे, फलाने के घर में आग लगी है, दौडो।"

मनुष्य गाँव में व्यक्ति होता है, व्यक्तिहीन प्राणी नही। लोग हमारा मजाक करते हैं कि तुम शहरो को बर्बाद करना चाहते हो, गाँव को जिलाना चाहते हो। देहात और शहर, ऐसा कोई झगडा हमारा नही है। हमारी एक छोटी-सी माँग है कि मनुष्य की बस्ती इतनी छोटी होनी चाहिए कि नागरिक एक-दूसरे को पहचान सकें। तब आपके सामने यह सवाल नही आयेगा कि चुनाव कैसे हो, या चुनाव की प्रक्रिया क्या हो ?

समन्वयात्मक देहात कैसा होता ?

क्रान्ति में मुख्य बात है 'सन्दर्भ बदलना।' लोग आज के सदर्भ में हमसे पूछते हैं कि चुनाव नही होगा, तो लोकशाही कैसे चलेगी ? यह नही होगा, वह नही होगा, तो कैसे चलेगा ? सबका उत्तर यह है कि लोकशाही का सदर्भ बदल देना पडेगा। तो वे आज के देहात का नक्शा दे देते हैं। आज का जो देहात है, वह हमारी आदर्श बस्ती नही है। उसे हम देहात नही मानते। आज का देहात, तो अलग तरह का देहात है। वह किसी काम का देहात नही है। जिस बस्ती की हमने कल्पना की है, उस बस्ती में तीन बातें होनी चाहिए :

१ वह बस्ती समन्वयात्मक होनी चाहिए, व्यवसायनिष्ठ नही होनी चाहिए। व्यवसायनिष्ठ का अर्थ है—अलग-अलग रोजगार करनेवालो के लिए अलग-अलग मुहल्ले या बस्तियाँ। ऐसा न हो। समन्वयात्मक का अर्थ है—अलग-अलग व्यवसाय करनेवालो के लिए एक ही मुहल्ला और एक ही बस्ती हो और उनका एक बहुत बड़े

अश में समान शिक्षण भी हो। उनमे सहभोजन हो, सह-विवाह भी हो। समन्वयात्मक वस्ती का यह पहला लक्षण है।

२. वह बस्ती इतनी वडी हो कि भिन्न-भिन्न व्यवसायो के लोग उसमें रह सकें, और छोटी इतनी हो, मर्यादित इतनी हो कि नागरिक एक-दूसरे को पहचान सकें। नागरिक व्यक्तित्वहीन न वन जायँ। आदमी का व्यक्तित्व विलीन न हो जाय, वह खो न जाय।

३. जव सारे नागरिक एक-दूसरे को जानेगे, तो उत्पादन मनुष्य के लिए होगा, सिर्फ उपभोग के लिए नही।

पहला कदम　**पूंजीवादी**। उत्पादन मुनाफे के लिए हो।

दूसरा कदम　**समाजवादी**। उत्पादन उपयोग के लिए और आवश्यकता के लिए

तीसरा कदम　इससे आगे। इसे मैं **गाधी के विचार का कदम** कहता हूँ। गाधी हमें यह विचार दे गये कि उत्पादन पडोसी के लिए हो। उत्पादन मेरे भाई के लिए हो, जो वहाँ रहता हो, जिसे मैं जानता हूँ। गाधी का यह **'स्वदेशी-व्रत'** कहलाता है।

गाधीजी ने अपने स्वदेशी-व्रत की जो व्याख्या की है, उसका आशय यह है कि मैं जो उत्पादन करूँगा, वह उत्पादन केवल आवश्यकता के लिए नही, केवल उपभोग के लिए नही, वह उत्पादन मनुष्य के लिए होगा। यानी उस उत्पादन में भी एक विशेपता आ जाती है और एक नयी प्रेरणा दाखिल हो जाती है।

खेद की वात है कि हमारे देश के वडे-वडे धुरधर विचारक भी वर्ण-व्यवस्था का किसी-न-किसी रूप मे समर्थन करते हैं और उसके समर्थन में वापू का प्रमाण भी दे दिया करते हैं। मैं मानता हूँ कि वर्ण-व्यवस्था के विषय मे गाधीजी के विचारो का विकास होता रहा। उस विकास की आज की परिणति इस विचार में हो जानी चाहिए कि वर्ण-व्यवस्था अव गुणकर्म पर भी नही रहेगी। वर्ण-व्यवस्था ही नही रहेगी। अव का जो समाज बनेगा, वह समन्वयात्मक समाज बनेगा।

५. आश्रम-व्यवस्था

मैं सामाजिक मूल्य के रूप मे ही आश्रम-व्यवस्था का विचार करूँगा। अपने समाज में स्त्री-पुरुपो का सह-जीवन और सह-शिक्षण हमने शुरू कर दिया है। आपने सुना होगा कि आज हर शिक्षण-सस्था और शिक्षण-शास्त्री के सामने यह समस्या है कि लडके और लडकियो को साथ तो पढाते हैं, लेकिन उनके जीवन में सहजीवन से पावित्र्य नही आता।

ब्रह्मचर्य-आश्रम

लडके-लडकियो का विद्यार्थी-जीवन जव तक ब्रह्मचर्य की वुनियाद पर आधार नहीं रखेगा, तव तक उसमें पवित्रता नही आ सकेगी। इसलिए विद्यार्थी-जीवन में ब्रह्मचर्य होना चाहिए। ब्रह्मचर्य-आश्रम विद्यार्थी जीवन के लिए अत्यावश्यक है।

एक वार कॉलिज के एक छात्र ने मुझसे पूछा, "हमें यह तो वताइये कि हमारी वहन रास्ते से जा रही है और कोई गूडा उसे छेड रहा है, तो क्या हम अहिंसक रह जायें ? चुप रह जायें ?"

मैंने कहा, "चुप क्यो रहो ? पर यह तो वताओ कि आज तक ऐसे मौके कितने आये ?"

उसने कहा, "मौके नहीं आये, लेकिन आ सकते है।"

मैंने कहा, "ठीक है, अगर कभी मौका आये, तो तुम क्या चाहते हो ?"

वोला, "हम चुप कैसे वैठ सकते हैं ?"

मैंने कहा, "हाँ, चुप मत वैठो।"

वापूजी उस समय जीवित थे। वापू के आधार पर मैंने उसे कुछ समझाया और कहा, "पहले से ऐसा विचार मत करो। लेकिन अगर देखो भी कि ऐसा हो रहा है, तो उसकी गर्दन उतार लो। मैं गाधी से तुम्हारे लिए अहिंसा का प्रमाण-पत्र ला दूंगा।"

वह वहुत खुश हुआ कि यह 'गाधीवाला' कहता है कि गाधी से भी अहिंसा का सार्टीफिकेट ला दूंगा।

मैंने उससे कहा, "पर, एक शर्त है।"

वोला, "वह क्या ?"

"यही कि जिन लडकियो के साथ तुम स्कूल में उठते-वैठते हो, खेलते-कूदते हो, पढते-लिखते हो, उनकी तरफ देखने की तुम्हारी अपनी दृष्टि कैसी है ? और उस दृष्टि में यदि फर्क है, तो गर्दन उतारने के कार्यक्रम का आरभ अपने से कर दो।"

वस, इतनी शर्त उसने सुनी और वह वैठ गया।

शिक्षालयों में वर-वधू की खोज !

इसे मैं 'ब्रह्मचर्य' कहता हूँ। शिक्षण के केन्द्र तो आज वर-वधू-मृगया के लीला-क्षेत्र वन गये हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए। यानी एक तरफ पढ भी रहे हैं और दूसरी तरफ लडका लडकी खोज रहा है, लडकी लडका खोज रही है। शिक्षण के क्षेत्र और विद्यालय यदि वर-वधू-मृगया के लीला-क्षेत्र वन जायेंगे, तो आप गाँठ वाँध लीजिये

कि इस देश मे से सारी सस्कृति और सारी मर्यादा का अन्त होनेवाला है।

ब्रह्मचर्य जैसे सारे व्रत सामाजिक मूल्य हैं, इसलिए यावज्जीवन चलने चाहिए। लेकिन इनका विशिष्ट आचरण एक विशेष अवधि में होता है और वह अवधि शिक्षण की अवधि होनी चाहिए। ब्रह्मचर्य-आश्रम पहले भी विद्यार्थी के लिए ही माना जाता था। ब्रह्मचर्य के लिए कहते भी थे—'ब्रह्मचर्येणऋषिभ्यो'—तीनो ऋणो में से ब्रह्मचर्य के आश्रम में ऋषियो का ऋण दिया जाता था। विद्यार्जन मे ब्रह्मचर्य का मुख्य स्थान होना चाहिए।

धन्यो गृहस्थाश्रमः !

चारो आश्रमो में गृहस्थ-आश्रम को धन्य माना है। इसका मुख्य कारण यह है कि कुटुम्ब-सस्था सामाजिक मूल्यो का प्रतीक और सामाजिक जीवन की मुख्य इकाई मानी गयी। समाज में जिस सह-जीवन का विकास हमें करना है और जिस 'दडहीन अनुशासन' को हम सारे समाज मे चरितार्थ करना चाहते हैं, उसकी वह प्रयोगशाला है। अभ्युदय अर्थात् भौतिक सुखोपभोग का आयोजन नि श्रेयस सिद्ध करने की दृष्टि से किस प्रकार किया जाय, इसका आदर्श उपस्थित करना कुटुम्ब-सस्था का प्रधान उद्देश्य है। चार पुरुषार्थों में अर्थ और काम का भी समावेश किया गया है। अर्थ और काम अपने मे मनुष्य के स्वाभाविक विकार हैं। जब ये धर्ममूलक और मोक्षप्रवण होते हैं, तब उन्हे पुरुषार्थ का रूप प्राप्त होता है और वे सामाजिक मूल्य में परिणत हो जाते हैं।

आज मनुष्य के कौटुम्बिक जीवन के साथ उसके उद्योग और नागरिकता का कोई प्रत्यक्ष अनुबन्ध नही रह गया है। दूकान की नीति अलग है, मकान की नीति अलग है और नागरिक-नीति अलग है। इसलिए एक सामाजिक मूल्य के रूप में कौटुम्बिकता क्षीण होती चली जा रही है और अब तो यह भय होने लगा है कि कुटुम्ब-सस्था का ढाँचा भले ही बना रहे, लेकिन उसकी सुभगता और पवित्रता तितर-बितर हो रही है। आज हम नये रूप मे कौटुम्बिकता और कुटुम्ब-सस्था की पुन स्थापना तथा सवर्धन करना चाहते हैं।

कुटुम्ब-संस्था की विशेषता : सह-जीवन

कुटुम्ब-सस्था की सबसे बडी विशेषता यह है कि उसमें सविधान, दडयोजना और सैनिक अनुशासन के बिना सह-जीवन और सहयोग सम्पन्न होता है। कुल-धर्म, कुल-परम्परा और आनुवशिक सस्कार ही ऐसे होते हैं कि परिवार के सारे सदस्य एक-दूसरे के साथ रहने में अपनी प्रतिष्ठा और कल्याण मानते हैं और जब एक-दूसरे से अलग होते हैं, तो उसमें अपनी विवशता समझते हैं। इसीलिए तो अलग होते समय एक-दूसरे को दोष देकर अलग होते है। हरएक यह बतलाने की कोशिश करता है कि इस

अलगोझे की जड मैं नही हूँ। मैं तो सबको सँभालकर, हिला-मिलाकर रहना चाहता हूँ। सह-जीवन के लिए अपने व्यक्तिगत सुख और सुविधा का उत्सर्ग करना कौटुम्बिक जीवन की बुनियाद है।

इसके दो आधार हैं। एक है खून की रिश्तेदारी और दूसरा है विवाह की नातेदारी। इसलिए समाज में कुटुम्ब-सस्था एक स्वयसिद्ध सस्था है। उसका निर्माण सदस्यो के सकल्प से या उनकी इच्छा से नही होता। मैं अपने माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री चुन नही सकता। ये सब मुझे यदृच्छा से प्राप्त होते हैं। जैसा कि कर्ण ने कहा, "कुटुम्ब में हमारा जन्म दैवायत्त है।" परिणाम यह है कि परिवार में जितने व्यक्ति रहते हैं, उन सबकी एक-दूसरे के लिए सहज आत्मीयता होती है। कृत्रिम नियन्त्रण और औपचारिक नियमो की वहाँ आवश्यकता नही रहती। मनुष्यो के जो स्वायत्त सम्बन्ध होते हैं, उनकी अपेक्षा ये कौटुम्बिक सम्बन्ध अधिक स्थायी और अभेद्य माने जाते है। अग्रेजी में कहावत है कि पानी से खून गाढा होता है। इसलिए एक ही जलाशय के पास रहनेवाले पडोसियो की अपेक्षा एक परिवार के व्यक्तियो के सम्बन्ध उत्कट माने जाते हैं। जो बडे हैं, वे पहले छोटो की चिन्ता करें। जो छोटे हैं, वे बडो का आदर करें। इसके लिए हम कुटुम्ब में कोई दण्ड-विधान लिखकर नही रखते। चिरकालीन सस्कारो के कारण यह सब अपने-आप होता चला जाता है। मानवीय समाज में कुटुम्ब-सस्था एक अनुपम कलाकृति है।

गृहस्थाश्रम का प्रयोजन

कामोपभोग जब एक सास्कृतिक सस्कार बन जाता है, तब वह सामाजिक मूल्य बनता है। कुटुम्ब-सस्था का आधार विवाह-सस्कार है। स्त्री और पुरुष विवाह-सस्कार से एक-दूसरे के जीवन में जब प्रवेश करते हैं, तब वे 'गृहस्थाश्रमी' कहलाते हैं। तब सवाल यह होता है कि क्या गृहस्थाश्रम काममलक होता है और स्त्री-पुरुषो को अनिर्बन्ध कामोपभोग का लाइसेंस देना उसका प्रयोजन है? हरगिज नही। बल्कि विवाह-सस्कार का प्रयोजन है—कामवासना का सयम और गृहस्थाश्रम का प्रयोजन है—स्त्री-पुरुषो का सयुक्त जीवन। स्त्री की पुरुष के लिए और पुरुष की स्त्री के लिए जो निष्ठा वैवाहिक जीवन का मेरुदण्ड मानी जाती है, वह मनुष्य को शारीरिकता से ऊपर उठा देती है। निष्ठा जितनी उत्कट और दृढ होती जाती है, शारीरिकता उतनी ही कम होती चली जाती है। मेरी माँ ससारभर में सबसे गुणवती स्त्री नही है, किन्तु मेरे लिए ईश्वर के विश्वव्यापी वात्सल्य की वही प्रतिमूर्ति है। मेरा बेटा सारे गाँव में सबसे खूबसूरत नही है, लेकिन मुझे तो वह दुनियाभर के सारे लडको से अधिक प्रिय है। मेरी स्त्री अधिक रूपवती नही है, लेकिन मेरे लिए तो उसके रूप में सृष्टि की सारी

मनोज्ञता साकार होकर आयी है। इस प्रकार कौटुम्बिकता मनुष्य को एक स्नेहमय दिव्य चक्षु प्रदान करती है। इसी स्नेह के आधार पर किसी भी प्रकार के बाह्य नियन्त्रण और औपचारिक सविधान के बिना सारा व्यवहार चलता है।

एक बार हमारे एक मित्र का विवाह निश्चित हुआ। वे दीर्घ काल तक अविवाहित रहे और लोगो का यह खयाल हो गया था कि वे आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे। ससारभर की सभी स्त्रियो को वे अपनी माताएँ मानते थे। जब उनके विवाह का समाचार हमारे दूसरे मित्रो ने सुना, तो वे मुझसे आकर ठठोली करने लगे, "देखिये न, आज तक तो ये हजरत दुनियाभर की स्त्रियो को माँ मानते थे, अब उन्हीमे से एक के साथ शादी करने जा रहे है।"

उन्होने बात हँसी उडाने के लिए कही। लेकिन मैने उनसे कहा कि आइये, इसका थोडी गहराई से विचार करें। यदि यह व्यक्ति विवाह करने के बदले केवल किसी स्त्री से शरीर-सम्बन्ध कर लेता, तब तो आपके आक्षेप में कुछ सचाई रही होती। लेकिन यह तो विवाह-सस्कार कर रहा है। एक स्त्री के जीवन के साथ अपने जीवन को जोड रहा है और उसके प्रति एकनिष्ठ रहने की प्रतिज्ञा करता है। यह एक स्त्री को माता से पत्नी नही बनाता, बल्कि स्त्री-जाति के लिए अपनी व्यापक मातृ-भावना का सरक्षण करने के उद्देश्य से अपनी कामवासना और पत्नीत्व-भावना को स्थानबद्ध कर देता है। विवाह और गृहस्थाश्रम सयम के पालन के लिए है। इसलिए वह ब्रह्मचर्य-मूलक है। विवाह के बाद इनमे से कोई बीमार, अपग, असमर्थ या विरूप हो जाता है, तो भी दूसरे का उसके लिए प्रेम कम होने के बदले बढता चला जाता है। उसकी आत्मीयता शरीरनिष्ठ या रूपनिष्ठ नही रह जाती। इस प्रकार प्रेम जितना शुद्ध होता है, उतनी ही कामुकता कम होती चली जाती है। सन्तान-प्राप्ति के बाद माता और पिता दोनो का सयुक्त जीवन एक तरह से संतान के परिपालन और पोषण के लिए समर्पित हो जाता है। अपने जीवन को दूसरे के जीवन के लिए उत्सर्ग करने की प्रेरणा कौटुम्बिकता में से अनायास उत्पन्न होती है। गृहस्थाश्रम समर्पणयोग का तीर्थ-क्षेत्र है।

विवाहितों के लिए ब्रह्मचर्य

गाधी ने तो विवाहित स्त्री-पुरुषो के लिए भी ब्रह्मचर्य का विधान किया। अच्छे-अच्छे समाजशास्त्रियो और धर्मवेत्ताओ ने इस पर बहुत आपत्ति की। लेकिन गाधी ने कहा कि गृहस्थाश्रम और कुटुम्ब-सस्था मनुष्य को इन्द्रिय-परायणता की ओर से मानव-परायणता की ओर ले जाने के लिए है। वहाँ सर्वथा सहज भाव से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के लिए अपने आराम और सुख का यज्ञ कर देता है। इसलिए कुटुम्ब तो स्वार्थ

की आहुति देने के लिए बनायी गयी यज्ञ-शाला है। विवाहित ब्रह्मचर्य का गाधी का आदर्श हमारे चिरकालीन कुसस्कारो के कारण व्यवहारान्वित नही हो सका। फिर भी किशोरलालभाई और गोमतीबहन जैसे नैष्ठिक गृहस्थाश्रमियो के जीवन में उसका उदात्त उदाहरण देखने को मिलता है।

पुराने जमाने में गृहस्थाश्रम पुरुष-सत्ताक था और कुटुम्ब-सस्था तो आज तक पितृ-सत्ताक रही है। जो मुख्य पुरुष होता था, वह परिवार के दूसरे सारे व्यक्तियो का पालक और स्वामी होता था। परिवार के चाहे जिस सदस्य को दान में देने का, बेचने का, कुर्बान करने का और मार डालने का अधिकार उसे होता था। कुटुम्ब के सारे सदस्य उसकी सजीव सम्पत्ति के भाग होते थे। स्त्रियो का स्थान गौण होता था और सभी पुरुषो की सत्ता किसी-न-किसी रूप मे सभी स्त्रियो पर चलती थी।

कुटुम्ब क्रान्तिकारी संस्था बने

अब हम कुटुम्ब-सस्था के आधारो को ही बदल देना चाहते है। कौटुम्बिक सम्पत्ति का विसर्जन तो हम अपने आर्थिक सयोजन से करना ही चाहते है, आनुवशिक सम्पत्ति और कौटुम्बिक सम्पत्ति जब नही रहेगी, तो पुत्र और कन्या, स्त्री और पुरुष की सम्पत्ति के अधिकारो का झगडा समाप्त हो जायगा। लेकिन इसके बाद भी कुटुम्ब में स्त्री और पुरुष को समान भूमिका पर लाने की आवश्यकता होगी। इसके लिए नागरिक जीवन में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का जो मूल्य है, उसे कौटुम्बिक जीवन मे दाखिल करना होगा। कुटुम्ब न केवल पुरुष का होगा और न केवल स्त्री का होगा। वह दोनो के सयुक्त व्यक्तित्व और सयुक्त जीवन के आधार पर स्थापित एक नवीन क्रातिकारी सस्था होगी।

जिस कुटुम्ब की वृत्ति और व्यवहार घर की चहारदीवारी लाँधकर व्यापक बन जाता है, वह कुटुम्ब समाज के लिए भूषणरूप माना जाता है। इसका सकेत आतिथ्य-धर्म में है। कुटुम्ब के सारे व्यक्तियो को भोजन कराने के बाद हम भोजन करें, इतना ही काफी नही है। हर गृहस्थाश्रमी व्यक्ति को—चाहे वह पुरुष हो या स्त्री—यह भी देखना चाहिए कि हमारे पास-पडोस में और गाँव में भूखा कोई न रहे। कोई व्यक्ति या पथिक गाँव में पूर्व-सूचना के बिना आ पहुँचा हो, तो उसे बिना भोजन के न रहना पडे। यह धर्म सारे गृहस्थाश्रमियो के लिए लागू है। यहाँ तक कि हमारे पुराने धर्म-शास्त्रकारो ने लोगो के प्राण हरण करनेवाले यमराज के लिए भी उसे लागू किया है। नचिकेता जब यमराज के यहाँ तीन दिन तक बगैर खाये-पिये रहा, तो यमराज ने घर लौटते ही उससे माफी माँगी और प्रायश्चित्त के रूप में उसे मुँह-माँगे वरदान देने के लिए वे तैयार हुए। गृहस्थाश्रमी के लिए उसका घर अतिथिशाला

है और वह यजमान है। उस यज्ञ-भूमि में बैठकर अतिथियो की आकाक्षा करता है। वह उत्पादक परिश्रम का यज्ञ करता रहता है। गृहस्थाश्रम में आतिथ्य-धर्म का पालन हो सकता है, इसलिए **'धन्यो गृहस्थाश्रमः'** कहा गया।

क्रान्तिकारक मूल्यो का अनुष्ठान परम्परागत कुटुम्ब-सस्था मे नही किया जा सकता, इसलिए मार्क्सवादी क्रातिकारियो ने 'कम्यूनो' की स्थापना की। इन कम्यूनो में जो रहते थे, उनका जीवन समान होता था और वे सब एक-दूसरे के सगी-साथी कहलाते थे। उनकी पहचान का शब्द, प्रत्यभिज्ञा का सकेत, 'कामरेड' था। हमारे यहाँ पहले उसका अनुवाद 'भाई' शब्द से किया गया, क्योकि हम कौटुम्बिकता के सस्कारो में पले थे। अब भाई की जगह 'साथी' कहते है। यह अनुवाद नही, भाषान्तर है। हमारे देश में बगला भाषा में, 'बन्धु' शब्द का अर्थ 'मित्र' है। जब दो मित्रो में बहुत घनिष्ठता होती है, तो हम उनकी उपमा सगे भाइयो से दिया करते है। असल में मित्रता का सम्बन्ध स्वेच्छा का सम्बन्ध होता है। मित्र-प्रेम स्वायत्त होता है, इसलिए अधिक शुद्ध भी होता है। लेकिन सगे भाइयो का नाता कोई जोड नही सकता और कोई तोड भी नही सकता। वह 'नित्य सम्बन्ध' होता है। इस नित्यता के तत्त्व को मित्रत्व मे दाखिल करने के लिए मित्रो की उपमा सगे भाइयो से दी गयी। इस प्रकार कौटुम्बिक नातेदारी को सामाजिक मूल्य बनाने की कोशिश हुई। 'कम्यून' में रहनेवाले साथी जब एक-दूसरे के भाई-बहन बन जाते हैं, तो कुटुम्ब के भीतर स्त्री-पुरुषो के तथा पुरुष-पुरुष और स्त्री-स्त्री के सहजीवन में जो स्वाभाविक आत्मीयता और पवित्रता होती है, वह क्रातिकारी सस्थाओ में प्रविष्ट हो जाती है। कुटुम्ब-सस्था जब क्षीणप्राण और प्रगतिशून्य बन गयी, तब अहिंसा के प्रणेता को आश्रम की स्थापना करनी पडी। आश्रम मे व्रताचरण है, सयम है। सभी आश्रम-वासी एक-दूसरे के सहसाधक है, परन्तु कुटुम्ब-सस्था की स्वाभाविक आत्मीयता और परस्पर समर्पण-बुद्धि का वहाँ यदि अभाव नही, तो न्यूनता अवश्य है। आश्रम में हम जिन विशिष्ट गुणो का विकास करते हैं, उनका प्रवेश अगर कौटुम्बिक जीवन में न हुआ, तो कुटुम्ब-सस्था नष्ट हो जायगी। कौटुम्बिक सम्बन्धो मे जिन मूल्यो का विकास सहज भाव से होता चला जाता है, उनका प्रवेश यदि आश्रम-सस्थाओ मे न हुआ, तो आश्रम-सस्थाएँ समाज-विमुख होती चली जायँगी और कौटुम्बिकता सामाजिक मूल्य में परिणत नही हो सकेगी।

नागरिक जीवन के मूल्यों का विकास

इसका एक ही उपाय है। उसके दो पहलू हैं। एक तो यह कि नागरिक जीवन के मूल्यो का प्रवेश हमारे गृह-जीवन में होना चाहिए। स्त्री और पुरुष, भाई और

बहन, बेटे और बेटियाँ, सबका रुतबा और सबकी इज्जत मनुष्य की हैसियत से परिवार में भी समान होनी चाहिए। कुटुम्ब-सस्था सबके लिए सहजीवन के पवित्र और प्रिय प्रयोग-तीर्थ मे परिणत हो जानी चाहिए। दूसरा पहलू यह है कि कौटुम्बिक सहजीवन के आधारभूत तत्त्व क्रांतिकारी सस्थाओं में तथा नागरिक जीवन में प्रविष्ट होने चाहिए। इस प्रकार गृहस्थाश्रम सामाजिक मूल्यो से समृद्ध होगा और समाज-व्यवस्था कौटुम्बिकता के मूल्यो से पावित्र्य तथा शाश्वत सौंदर्य से सम्पन्न होगी। इसे हम गृहस्थाश्रम का सामाजिक मूल्य मानते हैं।

वानप्रस्थाश्रम

गृहस्थाश्रम के बाद की स्थिति को विनोबा 'वानप्रस्थाश्रम' कहा करते हैं। विनोबा का कहना है कि यथासमय विधिपूर्वक वानप्रस्थाश्रम ले लेना चाहिए। लोग ऐसी कोई विधि करे या न करें, एक बात मैं चाहता हूँ और वह यह कि स्त्री और पुरुष के जीवन में एक ऐसी वयोमर्यादा आ जानी चाहिए कि जिसके बाद उनमें विवाह की भावना न रहे।

आज कभी-कभी हम पढते हैं कि ७० साल का चर्चिल शादी कर लेता है। लोग कहते हैं कि ७० साल का पुरुष २०,२५,३० साल की लडकी से शादी करता है, तो यह अनाचार है। पर ७० साल का पुरुष यदि ६० साल की स्त्री से शादी कर लेता है, तो क्या यह सदाचार है? लोग कहते ह, "हाँ, फिर तो कोई हर्ज नही है।" हमारे यहाँ चाहे परम्परा से ही क्यो न हो, एक मर्यादा थी। यह मर्यादा स्त्री के विषय में थी, पुरुष के विषय में नही। स्त्री के विषय में यह मर्यादा थी कि एक उम्र के बाद कोई कल्पना भी नही कर सकता था कि अब इस स्त्री का विवाह हो सकता है। आज तो ५५ साल की स्त्री भी शादी कर लेती है, ६० साल की स्त्री भी शादी कर लेती है।

मनुष्य के जीवन से इस विवाह-भावना का निराकरण किसी मर्यादा पर पहुँचकर होना चाहिए या नही? यदि ऐसा नही होगा, तो स्त्री और पुरुष के जीवन मे पवित्रता कभी आ नही सकती। आज कॉलेजो मे २०-२०, २५-२५, ३०-३० साल की लडकियाँ पढती हैं। नवजवान लडको के साथ वे एक मर्यादा में रह सकती हैं। परिवार में भाई के साथ रहती है, पिता के साथ रहती हैं, लेकिन उनके साथ जो सम्बन्ध होता है, वह कौटुम्बिक मर्यादाओ के कारण अपनी हृदय की गुप्त बाते बतलाने का सम्बन्ध नही होता। परिणाम यह है कि उनके लिए समाज में, परिवार के बाहर, पितृत्व की भावना कही है ही नहीं। परिवार के बाहर क्या तरुण स्त्री के लिए समाज में ऐसा कोई सकेत है कि उसके लिए पुरुष के बाहुबल का नही, पितृत्व का सरक्षण उपलब्ध हो, जहाँ वह विश्वास से अपनी भावनाएँ व्यक्त कर सके? ऐसे पुरुषो की तरफ क्या

वह देख सकती है ? कहाँ से देखे ? ऐसा पुरुष उसका प्रोफेसर होता है, उसका गुरु होता है और उससे वही शादी कर लेता है !

विवाह की आयु-मर्यादा हो

फलत पुरुष की विवाह-भावना का कही अत ही नही आता। और उल्टे इसमें उसे गर्व मालूम होता है। कहता है, "देखो, यह ८० साल का है, शादी कर ली। पाँचवी शादी हुई है और उसके बाद भी उसे सन्तान हुई।" अब भला पुरुषार्थ की कोई सीमा रह गयी है ? यह कोई नैतिक सकेत है ? यह कोई सास्कृतिक सकेत है ? और ऐसे देश मे, जिसमे ब्रह्मचर्य की बात जमाने से चली आयी है ? इसलिए विनोबा का वानप्रस्थाश्रम आप माने या न मानें, इस देश के सारे पुरुषो को अपने मन में यह एक पवित्र सकल्प कर लेना चाहिए कि एक आयु-मर्यादा के बाद पुरुष की विवाह-भावना क्षीण होती चली जानी चाहिए।

आज मुझसे यह प्रबोध कह रहा था कि "आप कुछ भी कहिये, स्त्री को बच्चा हो जाता है, तो उसकी दृष्टि और भावना मे ही फर्क पड जाता है।" मैंने कहा, "बात तो दुरुस्त है, क्योकि वह अपने बच्चे की माँ बनी, तो पहली कल्पना उसके दिल मे यह आती है कि मै तो पुरुष की माँ हूँ। यह जो पुरुष इतना अहकारी है, इसकी मैं माँ हूँ !" यह कल्पना आ जाती है, तो उसकी भूमिका ही बदल जाती है। पर, क्या पुरुष के लिए कभी यह भावना नही आयेगी कि मै भी स्त्री का पिता हूँ ? और यह वयोमर्यादा से भी नही आयेगी ?

वानप्रस्थ-वृत्ति

ब्रह्मचर्य के सरक्षण के लिए, ब्रह्मचर्य को सामाजिक मूल्य बनाने के लिए, इसकी बहुत आवश्यकता है। आप वयोमर्यादा चाहे जितनी मान लीजिये। थोडा-बहुत फर्क तो व्यक्ति में भी हो सकता है। किसी व्यक्ति में यह भावना जल्दी आ जायगी और किसीमें थोडी देर में। इसकी कुछ-एक मर्यादा आप बाँध सकते हैं। लेकिन एक मर्यादा आनी ही चाहिए, जब पुरुष का जीवन पितृत्व-सपन्न हो और उसका सारा पुरुषार्थ उसकी पितृत्व-भावना मे ही प्रकट हो, जिससे तरुण स्त्रियो का जीवन समाज मे सपन्न हो सके। मै यहाँ पर केवल 'सुरक्षित' शब्द का प्रयोग नही करता। मैं कहता हूँ कि उनका जीवन समृद्ध हो सके। तरुण स्त्रियो के लिए समाज में निरापद अवसर रहे, इसकी बहुत आवश्यकता है। इसीको मैंने 'वानप्रस्थ-वृत्ति' कहा है।

वानप्रस्थ से मर्यादित कौटुबिक भावना का निरास होकर, व्यापक कौटुम्बिक भावना उसकी जगह ले लेती हैं। अपनी स्त्री, अपने पुत्र की भावना से आदमी ऊपर

उठ जाता है। घर की चहारदीवारी पार करके उसकी कौटुंबिक भावना व्यापक बन जाती है। कौटुंबिक भावना की ऐसी व्यापकता का विकास हमारे जीवन में होने के लिए वानप्रस्थ-वृत्ति की आवश्यकता है।

संन्यास-आश्रम

अन्तिम आश्रम है —सन्यास-आश्रम, जिसको 'नागरिकत्व की मृत्यु' कहते हैं। नागरिक के नाते उसका जीवन समाप्त हो जाना चाहिए, इसका तात्पर्य क्या ? यही कि फिर वह राज्यातीत स्थिति में चला जाता है। राज्य का शासन उस पर नही चलता। नागरिक धर्म उसके लिए सहज हो जाते हैं। कानूनों का अनुशासन उस पर नहीं चलता। जिसे लोग कहते हैं न कि वही अपना शासक और कानून बन जाता है। 'निस्त्रैगुण्यो पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।' भाषा आध्यात्मिक है, लेकिन हम अध्यात्म की भाषा से अपनी भूमिका के अनुरूप अर्थ निकाले। हमारे अनुरूप अर्थ यह है कि हर नागरिक के जीवन में एक ऐसी अवस्था आनी चाहिए कि जब उसे राज्य-शासन की आवश्यकता न रहे। राज्य-शासन के बिना उसकी नागरिकता के सारे धर्मों का पालन सहज रूप मे होगा। इस राज्यातीत स्थिति को मैं 'नागरिकता में संन्यास की स्थिति' कहता हूँ, जिसमें उसने उत्पादन के भी कर्तव्य का आग्रह छोड दिया है, प्रतिमूल्य का तो लोभ सर्वथा छोड ही दिया है।

"तुम क्या कमाते हो ?"

"मैं कुछ नही कमाता।"

"तुम क्या करते हो ?"

"समाज में रहता हूँ, जो कुछ करना पडता है, वह इस शरीर मे हो जाता है। 'मैं करता हूँ' यह मैं नहीं कहता।"

"समाज मे क्या लेते हो ?"

"जितना कम-से-कम ले सकता हूँ, उतना लेता हूँ। उसको भी कम करता चला जा रहा हूँ।"

यह 'संन्यासी वृत्ति' कहलाती है, जिसे मैं नागरिक की राज्यातीत स्थिति कहता हूँ। यदि कुछ नागरिकों के जीवन में राज्यातीत अवस्था आयेगी, तो 'शासनमुक्त समाज' का विकास हम समाज में कर सकेंगे।*

---

* विचार-शिविर, अहमदाबाद में २२-८-'५५ की अपराह्न में किये गये प्रश्नों का उत्तर।

क्रान्ति-विज्ञान

हम भेद में से अभेद की ओर जाना चाहते है। पुरानी परिभाषा मे कहें, तो हम द्वैत में से अद्वैत की ओर जाना चाहते है, अथवा आधुनिक परिभाषा में कहें, तो हम विरोध निराकरण करना चाहते हैं। स्वार्थों का सघर्ष जिसे कहा जाता है, उन सारे सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक विरोधो का निराकरण हम करना चाहते है। क्या इसके लिए कही आधार है? यह मूल प्रश्न है। मनुष्य के जीवन का मूलभूत प्रश्न और मूलभूत समस्या आर्थिक भी नही, राजनैतिक भी नही, वह आध्यात्मिक है। मैंने उसे 'पारमार्थिक' कहा है। आखिर हम जो कुछ करना चाहते है, उसका अध्यात्म के साथ क्या अनुबन्ध है? हमारे सदाचार में, हमारी अर्थ-व्यवस्था मे, हमारी राज्य-व्यवस्था में आध्यात्मिकता कहाँ आती है?

सम्वाद और विवाद

मनुष्य को प्रेम में आनन्द आता है, द्वेष में आनन्द नही आता। सम्वाद में आनन्द आता है, विवाद में आनन्द नही आता। आपका और मेरा मतभेद हो, तो मै बेचैन रहता हूँ। आपका और मेरा मतैक्य हो जाय, दोनो का एकमत हो जाय, तो मुझे बहुत आनन्द आता है। सहमति में आनन्द होता है और जिसे मीमासको ने 'विप्रतिपत्ति' यानी मतविरोध कहा है। जहाँ पर मतभेद होता है, वहाँ मनुष्य बेचैन हो जाता है। उसकी बुद्धि भी अस्पष्ट रहती है और जब तक सम्वाद की स्थापना नही हो जाती, तब तक बुद्धि का समाधान नही होता।

बुद्धि का धर्म सम्वाद की स्थापना है। तो क्या इसका कही कारण हो सकता है? यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है। इसमें तर्क का कोई विषय ही नही। एक कुत्ता प्यास से छटपटाता हो, तो उसे देखकर कभी-कभी बिलकुल स्वाभाविक रूप से मेरी आँखो मे आँसू आ जाते है, अगर मै बहुत निर्घृण, निष्ठुर हो गया हूँ, सवेदनाशून्य हो गया हूँ और कुत्तो को जहर पिलाकर मरते देखने की आदत मुझे हो गयी है, तो बात अलग है। नही तो यो अगर कुत्तो को मै छटपटाते हुए देखूँ, तो हठात् मेरी आँखों से आँसू निकल आते है। ये आँसू क्यो आते है? यह सवेदना कहाँ से आती है? मुझे दूसरो के साथ जोड़नेवाला कोई सामान्य तत्त्व जीवन मे होना चाहिए, जो हमारा आधारभूत तत्त्व है, अन्यथा मै दूसरो के दु ख से दु खी नही होता, दूसरे के सुख से सुखी नही होता।

आध्यात्मिकता और नैतिकता

जब शास्त्रकारों ने कहा कि "वह ब्रह्म तू है", तो उन्होंने अपने ढग से समझाया कि 'तेरा 'तू-पन' मिथ्या है, उसका 'वह-पन' मिथ्या है और दोनो की एकता ही सत्य है।" उन्होंने एक महावाक्य तो यह बताया, "मैं ब्रह्म हूँ" और दूसरा महावाक्य यह बताया कि "सब-कुछ ब्रह्म ही है।" "सब-कुछ ब्रह्म है और मैं ब्रह्म हूँ।"—इसे अध्यात्म कहते हैं। "सब-कुछ ब्रह्म है"—यही से नैतिकता का, सामाजिकता का, चारित्र्य का आरम्भ होता है। चारित्र्य का आरम्भ अकेले में कभी नही होता। अकेले आदमी को चारित्र्य की जरूरत ही नही है। जो जगल में बैठा है, उसे चारित्र्य की क्या जरूरत है? जहाँ दूसरे के साथ सम्बन्ध आता है, वहाँ से चारित्र्य का आरम्भ होता है। नीति का आरम्भ ही वही से होता है, जहाँ मेरा सम्बन्ध दूसरे के साथ आता है।

गीता-रहस्यकार लोकमान्य तिलक ने अध्यात्म पर एक प्रकरण लिखा। इस प्रकरण में बडे पते की एक बात उन्होंने लिखी है। ईसा ने कहा कि "अपने पडोसी से प्रेम कर।" मैं पूछता हूँ कि "मैं अपने पडोसी से प्रेम क्यो करूँ?" इसका जवाब ईसा के पास नही है, नीति-शास्त्र के पास नही है। इसका जवाब अध्यात्म-शास्त्र देता है। "इसलिए कि तेरा पड़ोसी 'तू' है। तेरा 'पडोसी' और 'तू' एक ही है, इसलिए।"

"यह कैसे जाना?"

"दूसरे के दुःख से तू दुःखी होता है। दूसरे के सुख से सुखी होता है।"

और एक बात। परमेश्वर ने यह सृष्टि इतनी भद्र, मगलकारी और सुन्दर बनायी है कि यहाँ परिचय के बिना झगडा ही नही होता। यहाँ अगर युद्ध होता है, तो भी निकटता की आवश्यकता होती है, परिचय की आवश्यकता होती है। और जिन बातों को लेकर झगडा होता है, उन बातों में दोनों में समानता होती है। तब झगडा होता है। अगर समानता न हो, तो वह झगडा ही नही होता। जिसे आप 'गाली' समझते हैं, उसे मैं गाली समझूँ, तो मेरा आपका झगडा होगा। आप जिसे गाली समझते हैं, उसे अगर मैं 'गुण-वर्णन' समझू, तो झगड़ा हो नही सकता। झगडे में भी एक समानता की आवश्यकता होती है।

यह आदमी मुझे मारने आया है, यह आदमी इस वक्त क्रोध कर रहा है। यह मैं कैसे जानता हूँ? क्रोध के वक्त मेरी आकृति जैसी होती है, वैसी ही इस वक्त इसकी आकृति है। इस समानता पर से मैं जानता हूँ कि यह मनुष्य इस वक्त क्रुद्ध है। यह जो एक एकता है, इस एकता के अधिष्ठान का नाम किसीने 'आत्मा' रख दिया

है, किसीने 'ब्रह्म' रख दिया है। यह कोई रासायनिक द्रव्य नहीं है। कोई अणुवादी हमको यह बतलाना चाहे कि इसके भी कुछ परमाणु होते हैं और इसकी भी कुछ तरगें होती हैं, तो उसकी बात मैं मानने के लिए तैयार नही हूँ। कोई वैज्ञानिक इसे कभी सिद्ध कर सकेगा, इस पर मेरी बुद्धि विश्वास नही करती।

कुछ बातें तर्क से यानी युक्तिवाद से सिद्ध नही हो सकती। वे अनुभव की होती हैं। जहाँ अनुभव का विषय आ जाता है, वहाँ अनुमान कुठित हो जाता है। यह रासायनिक द्रव्य नही है। प्रयोगशाला मे बनाये हुए विज्ञान से यह चीज सिद्ध नही हो सकेगी।

एकता में आनन्द

आपके दुख से मैं दुखी होता हूँ, आपके सुख से मैं सुखी होता हूँ। "क्यो ?" इसका जवाब विज्ञान के पास कुछ नही है। 'क्यो ?' का जवाब विज्ञान के पास नही है। वह जवाब इतना ही हो सकता है कि मुझमे और आपमे कही कोई मूलभूत एकता है, जो आपके दुख के साथ मुझे दुखी करती है और आपके सुख के साथ मुझे सुखी बना देती है। आप यदि इसे मनुष्य की प्रकृति कहे, तो भी मैं मानने को तैयार हूँ और आप यदि यह कहे कि मनुष्य की यह प्रकृति भी सृष्टि के विकास मे उसे प्राप्त हुई है, तो भी मैं मानने को तैयार हूँ। मैं आपसे यह झगडा नही करूँगा कि जड़ से चेतन निकला या चेतन से जड। आप इतना मान लें कि जड यदि एक सत्य है, तो आज की स्थिति मे चेतन भी एक सत्य है। आपको यह वस्तुस्थिति माननी होगी कि मनुष्य को एकता मे आनन्द होता है और विषमता या विरोध मे दुख होता है। विविधता में आनन्द होता है। पर भेद या विविधता बिलकुल अलग चीज है। जिसे विरोध या विषमता कहते हैं, उसमे मनुष्य को सदा दुख होता है।

शैतान का शिष्य

एक था शैतान का शिष्य। वह शैतान का शिष्य उम्रभर लोगो की भलाई करता रहा। कोई दुखी हुआ, इसे चैन नही। कही आग लगी, वह दौडा। किसी पर कोई सकट आया और वह दौडकर न गया हो, ऐसा कभी हुआ ही नही। उस वक्त जो प्रचलित नीति-नियम थे, उनके खिलाफ भी उसे काम करना पडा। उसे फाँसी की सजा दी गयी। वह जब टँगने के लिए फाँसी पर जा रहा था, तो पुरोहित आया। उसने कहा, "अपने पापो की कैफियत इस वक्त देनी है। तू अपने पाप स्वीकार कर ले और भगवान् से क्षमा माँग ले।"

वह बोला, "मैं तो भगवान् को जानता ही नही। किस भगवान् से मैं क्षमा माँगूँ और किसलिए क्षमा माँगूं ?"

"अरे, तूने तो उम्रभर सत्कर्म किये हैं। अब भगवान् को मान ले ।"

"मैं क्या जानूँ सत्कर्म और दुष्कर्म ? मुझे खबर ही नही कि सत्कर्म आदि होते क्या हैं और कैसे किये जाते हैं। जहाँ-जहाँ दुःख देखता था, मैं दौड जाता था। क्योंकि मुझसे दुःख नही देखा जाता था, न सहा जाता था।"

वह शैतान का शिष्य भगवान् का भक्त था। वह जो पुरोहित था, वही शैतान का भक्त था।

आस्तिक कौन है ?

हम नामो को छोड दें। जितने क्रान्तिवादी होते हैं, वे अगर आस्तिक न हो, तो वे क्रान्तिकारी हो ही नही सकते। वे नाम लें या न लें, यह बात दूसरी है। विनोवा कहते हैं न, कि जानकी रामचन्द्र का नाम नही लेती थी, लेकिन राम का काम करती थी। कौशल्या राम को जितना प्यार करती थी, उतना ही जानकी भी राम को प्यार करती थी। भगवान् का नाम जो नही लेता, वह निरीश्वरवादी, नास्तिक नही होता। निरीश्वरवाद अलग वस्तु है, नास्तिकता अलग। कोई भी व्यक्ति, भले ही वह आत्मा को और ब्रह्म को न मानता हो, यदि दूसरे के दुःख से दुःखी होता है, दूसरे के सुख मे सुखी होता है और विषमता को सह नही सकता, तो वह 'आस्तिक' है, क्योंकि वह विषमता का निराकरण और समता की स्थापना करना चाहता है।

नियति और पुरुषार्थ

विषमता के निराकरण के लिए, समता की स्थापना के लिए, केवल ऐतिहासिक नियति, सृष्टि-नियम ही पर्याप्त नही है, उसमें पुरुष के पुरुषार्थ की भी आवश्यकता है। यदि प्रकृति के नियमो से ही अपने-आप समाज-परिवर्तन होता हो और ऐतिहासिक घटना-चक्र के अनुसार ही समाज-परिवर्तन होता हो, क्रांति होती हो, तो फिर पुरुष के लिए कोई स्थान नही रह जाता है। वह नियति का एक पुर्जा, एक उपकरण बन जाता है और फिर उसे आप जिम्मेवार नही मान सकते। पुनर्जन्म का मुझे प्रत्यय नही है। इसलिए मैंने उसे 'उपपत्ति' कहा। लेकिन उस उपपत्ति मे से जो सबसे बडी बात मैंने सीखी, वह यह कि अपने दैव का निर्माता और अपनी नियति का नियन्ता मनुष्य है।

प्रश्न है कि मनुष्य यदि भोगयोनि नही है, तो क्या वह प्रकृति के नियमों के अनुसार नही चलता ? इसका उत्तर यही है कि जो प्रकृति का अनुसरण करता है, उसे हमने मनुष्य कभी नही माना।

मनुष्य प्राकृत नही है, मनुष्य सुसंस्कृत है। मनुष्य-स्वभाव संस्कारजन्य है। पशु-स्वभाव केवल प्रकृतिसिद्ध है । स्वभाव भूतमात्र का; प्राणि-स्वभाव प्राणिमात्र का। मनुष्य-स्वभाव=मनुष्य का विशिष्ट स्वभाव।

मानव और क्षुधा-पिपासा

इस सम्बन्ध मे उपनिषद् की एक आख्यायिका है कि भगवान् ने सृष्टि का निर्माण किया और सारे जीव पैदा किये। उनके साथ बहुत-सी आकाक्षाएँ पैदा की। दो प्रवल बिलकुल मूलभूत वासनाएँ पैदा की—एक का नाम 'अशना' और दूसरी का नाम 'पिपासा'। 'अशना' अर्थात् खाने की इच्छा और 'पिपासा' अर्थात् पीने की इच्छा। 'खाने की इच्छा' अलग चीज है और 'भूख' अलग चीज है। 'पीने की इच्छा' अलग चीज है और 'प्यास' अलग चीज है।

ये दोनो—खाने की इच्छा और पीने की इच्छा—विधाता से कहने लगी, "हमें रहने के लिए कही जगह दो।" विधाता ने गाय लाकर खडी कर दी। उन्होंने कहा, "देखो, यह मेरा सबसे अशराफ जानवर है। इतना गरीब, इतना नम्र, इतना सौम्य, इतना निरुपद्रवी, मैंने दूसरा जानवर नही बनाया। इसलिए पृथ्वी को भी जब रूप लेना होता है, वह इसीका रूप लेती है। ऐसी यह हमारी गाय है। यह गाय मैं रहने के लिए तुम्हे देता हूँ।"

अशना-पिपासा ने उसे इधर-उधर देखा और कहा, "यह हमारे काम की नही है। माना कि यह है बहुत अच्छी, लेकिन हमारे काम की नही है।"

"क्यो ?"

"इसके तो एक ही तरफ दाँत है। दोनो तरफ तो दाँत ही नही हैं। यह क्या खायगी ? और दूसरी बात यह है कि यह खाया हुआ दुबारा खाती है, यह जुगाली करती है, रौंथती है। यह हमारे काम की नही है।"

भगवान् ने घोड़ा लाकर खडा किया। सारे जानवरो मे सबसे सुन्दर! उसका वह तुर्रा और खडे रहने की उसकी वह अकड। उसकी शान देखकर अशना-पिपासा हैरान रह गयी कि यह भी कोई जानवर है!

दो ही तो नर कहलाते है न ?—एक अर्जुन और दूसरा घोडा। इनके स्तन नही होते। इसलिए दुनिया मे ये दो ही नर माने गये है।

अशना-पिपासा ने घोडा देखा, बहुत खुश हुई। कहने लगी, "हाँ, यह बहुत ठीक है। दोनो तरफ दाँत हैं। ऊपर भी है और नीचे भी। जुगाली भी नही कर सकता। लेकिन इसमें भी एक ऐब है।"

"कौन-सा ऐब ?"

"भूख लगेगी तो यह खायेगा और प्यास लगेगी तो पीयेगा। हमारे लाभ का क्या होगा ?"

तो होते-होते मनुष्य लाकर खड़ा कर दिया।

"बस, यह है बिलकुल वैसा, जैसा हम चाहती हैं।"—सुकृतं बतेति पुरुषो वाव सुकृतम्।

"क्यो ?"

यह वगैर भूख के खा सकता है, वगैर प्यास के पी सकता है। इसमें यह विशेषता है, जो दूसरे प्राणियो में नहीं है।"

मानवता का आरम्भ

मनुष्य के विषय में अशना-पिपासा ने यह जो बात कही, इसके लिए मुझे अभिमान है, शर्म नही, क्योकि यहाँ से मेरी मानवता का आरम्भ होता है। मुझे भूख नही है, आपके घर आया। आप कहेंगे, "यहाँ कुछ नही पीयेंगे आप ? हम भगी हैं, इसलिए नही पीते हैं ?"

"नही-नही, ऐसी बात तो नही है। हम अस्पृश्यता को नही मानते।"

"तो फिर, और कुछ नही, तो हमारे यहाँ शरबत ही पी लीजिये।"

"प्यास नही है।"

"अरे, भाई, शरबत पीने के लिए प्यास की क्या जरूरत है ? और कुछ नही है, तो हमारे यहाँ चाय पी लीजिये।"

आज सह-पान है, अस्पृश्यो के साथ मिलकर हम चाय पीनेवाले हैं। हमको प्यास नही है, लेकिन अस्पश्यता-निवारण करना है। इसलिए बगैर प्यास के पीता हूँ, बगैर भूख के खाता हूँ। इसीमें से सह-भोजन का आरम्भ होता है। मनुष्य का भोजन स्वायत्त है। सह-पान, सह-भोजन सामाजिक मूल्य बन गये।

क्रान्ति के लिए तीन बातें

अब एक बात आपके ध्यान में आ गयी होगी। मनुष्य के जितने सास्कृतिक सस्कार हैं और जितने धार्मिक व्रत है, उन सबको सामाजिक मूल्यो में परिणत कैसे किया जा सकता है। क्रान्ति के लिए तीन बातो को सामाजिक मूल्यो में परिणत करना होता है :

१ व्यक्तिगत मूल्य और व्यक्तिगत शक्ति।

२. नैसर्गिक व्यवस्था और

३. सामाजिक सकट या सामाजिक विवशता।

इन तीनो को जब हम क्रान्ति के अवसर में बदल लेते है, तब मनुष्य पुरुपार्थ कर सकता है।

सह-भोजन कहाँ आरम्भ हुआ ? मैं बगैर भूख के खा सकता हूँ, मैं बगैर प्यास के पी सकता हूँ, यहाँ से मेरे सह-भोजन और सह-पान का आरम्भ होता है। लेकिन यही से सयम का भी आरम्भ होता है। सहभोजन का आरम्भ ही सयम का आरम्भ है।

मै सौराप्ट्र मे पहुँचता हूँ। मेरी थाली लगी हुई है। वजूभाई खिला रहे हैं। कहता हूँ, "आप भी क्यो नही बैठ जाते ?"

कहते हैं, "नही, आपको खिला लूंगा, बाद में बैठूंगा।"

"क्यो, आपको भूख नही लगी है ?"

"भूख तो आपसे ज्यादा लगी है, हो सकता है इस वक्त आपकी भूख इतनी ज्यादा न हो जितनी मुझे लगी है ?"

"आपको भूख लगी है, फिर भी नही खाते, हमने तो वैद्यक-शास्त्र में पढा है, जब भूख लगे तो खाओ और भूख न हो, तो खाओ ही मत। आप शास्त्र के खिलाफ काम कर रहे हैं।"

वजूभाई मुझसे कहते हैं, "भूख तो बहुत लगी है। लेकिन इस वक्त मेरा धर्म है कि आपको पहले खिला दूं, बाद में मैं खाऊँ।"

सह-भोजन में सयम का आरम्भ होता है, जिसे आप 'आतिथ्य' कहते है। दूसरे को खिलाऊँगा, तब खाऊँगा। दूसरे को पिलाऊँगा, तब पीऊँगा। एक ही कदम आगे बढना है। दूसरे को सुखी बनाऊँगा, तब सुख से जीऊँगा। दूसरे को जिलाऊँगा तब जीऊँगा—यहाँ से मनुष्य की सभ्यता का आरम्भ होता है।

एकता के आधार पर समानता

इसका आधार कहाँ है ? नीति का अधिष्ठान कहाँ है ?—आध्यात्मिकता। वह हमको दूसरो के साथ जोडनेवाली कडी है। वह इस एकता का नाम है, जो दूसरे व्यक्तियो के साथ मेरा सबध स्थापित कर देती है।

मनुष्य मे जो मूलभूत एकता है, उस एकता के आधार पर हम समानता स्थापित करना चाहते है। सह-जीवन के लिए सम-जीवन की आवश्यकता है। सह-जीवन के लिए सह-भोजन की आवश्यकता है और सह-भोजन के लिए सम-भोजन चाहिए। सम-भोजन का अर्थ है—जीवनमान सबका करीब-करीब एक-सा चाहिए। जीवनमान में बहुत अन्तर या विषमता नही होनी चाहिए। इसे 'आर्थिक विरोध का निराकरण' हम लोग कहा करते हैं—सह-जीवन से सह-भोजन की प्रेरणा।

सह्-भोजन की प्रेरणा में से हम दूसरी प्रेरणा पर पहुँचे। वह प्रेरणा है—सम-भोजन की प्रेरणा।

यह जो सह्-भोजन और सम-भोजन की प्रेरणा है, इसीमें से आगे चलकर सह्-उत्पादन की प्रेरणा पैदा होती है। सह्-उत्पादन की प्रेरणा में से सम्यक् वितरण की प्रेरणा आती है। सह्-जीवन, सह्-भोजन, सम-भोजन, सह्-उत्पादन और सह्-वितरण ऐसी ये प्रेरणाएँ एक-के बाद एक आती हैं। अब सवाल यह है कि यह परिस्थिति हमें पैदा करनी है, तो उसका उपाय क्या हो? सबसे पहले मैं मुख्य साधन का विचार कर लेता हूँ कि हमें भेद का निराकरण करना है। भेद का मतलब विविधता नही, विरोध है। भेद शब्द कुछ ढीला पड गया है, अचूक शब्द नही है, फिर भी दुनिया में रूढ शब्द है, इसलिए मैंने उसे वैसा ही ले लिया। आप उसका अर्थ 'विषमता' या 'विरोध' कर लीजिये।

मार्क्स के तीन संकल्प

"हमें भेद का निराकरण करना है, अभेद की स्थापना करनी है।" यह प्रतिज्ञा दुनिया के सभी क्रान्तिकारियो की है। हमने भिन्न विचारो में सवाद अधिक खोजा है, विवाद कम खोजा है; क्योंकि विवाद का निराकरण करना है, सम्वाद को अपनाना है। दूसरो में और हममें जितना सहमत है, उसका तो हमें सग्रह करना है और जो भेद है, उसका निराकरण करना है। इसलिए हमने भेद खोजने की कोशिश नही की। भेद अपने-आप प्रकट होगा। जहाँ समानता है, उतनी ही हमने खोजी है। अध्यात्म के साथ समानता कहाँ है, यह मैंने बता दिया। अब हम देखें कि दूसरे क्रान्तिकारियो की क्या प्रतिज्ञा है। उन्होंने हमारे साथ यह प्रतिज्ञा की है कि हमें भेद का निराकरण करना है और अभेद की स्थापना करनी है। सारे क्रान्तिकारियो की यह प्रतिज्ञा है। इसलिए मार्क्स ने तीन सकल्प किये।

१. क्रान्ति वैज्ञानिक हो।

सस्कृति और सम्प्रदाय तो सार्वभौम रह नही गये हैं, पर विज्ञान के आविष्कार, विज्ञान के शोध आज भी सार्वभौम हैं। विज्ञान सार्वभौम है, इसलिए जो क्रान्ति हो, वह वैज्ञानिक होनी चाहिए यानी समाज-विकास के नियमो के अनुरूप हो। इसे वैज्ञानिक समाजवाद कहते हैं। स्वप्नवादी या आदर्शवादी अलग और विज्ञानवादी अलग। आज समाज में आदर्शवादी और वैज्ञानिक में बहुत बडा फर्क नही रह गया। अब ये झगडे रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट जैसे पुराने हो गये हैं।

२. क्रान्ति अन्तर्राष्ट्रीय हो।

३. क्रान्ति में, वर्ग-संघर्ष हो।

"वर्ग-सघर्ष, क्रान्ति की धाय होगी।"

क्रान्ति की ये तीन बातें मार्क्स ने हमारे सामने रखी।

मार्क्स ने हमें क्या सिखाया ?

१. द्वन्द्वविकासी भौतिकवाद,

२. ऐतिहासिक भौतिकवाद और नियतिवाद और

३. एक वर्ग का सगठन।

ये तीन बातें एक सिलसिले मे मार्क्स ने हमें सिखायी थी। दूसरे एक सिलसिले में उसने हमें अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त सिखाया।

मार्क्स नास्तिक नही था, निरीश्वरवादी था, अवैदिक था। बाइबिल और कुरान के खिलाफ था। लेकिन उसने जो बात कही, वह किसी धर्म-सस्थापक ने, किसी ऋषि-मुनि ने, दस अवतारो मे से किसी भी अवतार ने उससे पहले नही कही थी। इसलिए दलित और पिछडी हुई मानवता का वह पहला मसीहा हुआ।

क्रान्ति अन्तर्राष्ट्रीय हो

हम अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति के प्रश्न को लें। विश्व में सबसे पहली अतर्राष्ट्रीय क्रान्ति लेनिन की क्रान्ति हुई। लेनिन से पहले विश्व मे कोई अतर्राष्ट्रीय क्रान्ति हुई ही नही। फ्रास की राज्य-क्रान्ति के परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय हुए। लूथर के धर्म-सशोधन के परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय हुए। पुनर्जागरण के, सास्कृतिक पुनर्जीवन आन्दोलन के परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय हुए। अमेरिका की क्रान्ति के परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय हुए। लेकिन ये सारी क्रान्तियाँ स्थानीय थी, राष्ट्रीय थी। आधुनिक विश्व मे केवल एक ही क्रान्ति अन्तर्राष्ट्रीय हुई और वह है—रूस की क्रान्ति। उसकी भूमिका ही अन्तर्राष्ट्रीय थी। उन्होने कहा था कि "दुनियाभर के मजदूरो, तुम एक हो जाओ!" आज तो अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति के बिना कोई चारा ही नही है। अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति अनिवार्य है। स्टालिन के बाद अन्तर्राष्ट्रीयता बदल गयी। समाजवाद एक देश में आ गया। बहुराष्ट्रवाद का सिद्धान्त आ गया। स्टालिन दूसरे तरह का विचार रखता था। उसका साम्यवादी राष्ट्रवाद था। लेनिन ने जो क्रान्ति की थी, उस क्रान्ति की भूमिका अन्तर्राष्ट्रीय थी। आज भी क्रान्ति की भूमिका अन्तर्राष्ट्रीय होनी चाहिए। यदि वह अन्तर्राष्ट्रीय नही होगी, तो क्रान्ति का कोई मूल्य नही है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति का अर्थ क्या है ? यही कि उसकी प्रक्रिया ऐसी हो कि उस प्रक्रिया का अनुकरण तो नही हो सकता, लेकिन उस प्रक्रिया का स्वीकार हो सकता है। 'अनुकरण' और 'स्वीकार' मे अन्तर है। मार्क्स और एगिल्स में से एगिल्स ने उस जमाने में साम्यवादी घोषणा-पत्र का जो सस्करण फ्रांस में निकाला, उसकी भूमिका

लिखते हुए लिख दिया था कि यह कोई जरूरी बात नही है कि जिस पद्धति से, यानी जिस कार्यक्रम से किसी एक जगह पर क्रान्ति हुई, उसी कार्यक्रम के अनुसार दूसरी जगह क्रान्ति हो। क्रान्ति की प्रक्रिया का अनुकरण नही हो सकता। क्रान्ति की प्रक्रिया का अनुसरण हो सकता है। यानी हम अपनी विशिष्ट परिस्थिति के अनुरूप उसके सिद्धान्तो को अपना सकते है।

आज सशस्त्र क्रान्ति असम्भव

राममनोहर लोहिया ने हाल मे एक किताब लिखी है—'द व्हील ऑव हिस्टरी' (इतिहास का चक्र)। उसमें लेखक ने काफी गभीरता और गहराई के साथ विचार किया है कि किस तरह क्राति की प्रक्रियाओ में भी और क्राति की पद्धति में भी विकास होना चाहिए। आज यदि अतर्राष्ट्रीय क्रान्ति हो, तो वह सशस्त्र क्रान्ति नही हो सकती। यह आज की ऐतिहासिक परिस्थिति है।

आप किसी भी सरकार से पूछिये कि 'फौज क्यो रखते हो ?' तो उत्तर मिलेगा कि 'कही हमारे यहाँ पर-चक्र न आ जाय, इसलिए हम फौज रखते है।' अव उल्टा हो गया है। फौज का उपयोग पर-चक्र मे नही होता है, स्व-चक्र मे होता है। यानी देश के भीतर फौज का उपयोग बहुत होता है। नागरिक शासन लगभग समाप्त हो गया है। विद्यार्थियो का बलवा होता है, तो गोली चलाते है। यहाँ तक बातें आनेवाली है कि कल यदि पनघट पर स्त्रियाँ एक-दूसरे की चोटियाँ पकडने लगें, तो वहाँ भी गोली चलेगी! नागरिक शासन क्षीण होने का यह लक्षण है। मूल प्रतिज्ञा हमारी यह थी कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उपयोग करने के लिए सेना रख रहे है। पर, आज की परिस्थिति क्या है? यही कि अतर्राष्ट्रीय मामलो में सेना का और शस्त्रो का उपयोग न किया जाय। रूस की शान्ति-परिषदें चल रही है। अमेरिका की सास्कृतिक परिषदें चल रही है। इधर जवाहरलालजी लगातार कोशिश कर रहे है। नतीजा यह है कि अंतर्राष्ट्रीय नीति में से युद्ध निषिद्ध करार दिया गया है। जहाँ पहले युद्ध की सबसे अधिक प्रतिष्ठा थी, वहाँ से युद्ध निषिद्ध करार दिया गया है। जिनके पास अधिकतम शस्त्रास्त्र होते है, आज उन्हीकी सरकार होती है। यह क्यो ?

रूस मे क्या हुआ ? बेरिया और मेलेनकोव—ये दोनो स्टालिन के साथी थे। फौज बेरिया के साथ नही थी, मेलेनकोव के साथ थी और पुलिस बेरिया के पीछे थी। इसलिए पहले दोनो एक हुए—यानी फौज और पुलिस, दोनो जिसके साथ थी, वे दोनों एक हुए। दोनो में जब मतभेद हुआ, तो सत्ता किसकी हुई ? जिसके पास फौज थी, उसकी। आज भी फौज का जो सेनापति है, वह सबसे प्रभावशाली मंत्री माना जाता है। अमेरिका में तो अध्यक्ष ही सेनापति है। आज दुनिया का रुख कुछ यह हो

रहा है कि जिसके हाथ मे आधुनिकतम शस्त्रास्त्र है, उसकी सत्ता हो जाती है और उसके खिलाफ प्रतिकार का कोई सशस्त्र साधन जनता के हाथ में नही रह गया है ।।

जन-प्रतिकार का सशस्त्र साधन नही रह गया है, इसलिए जनता की क्राति शस्त्रो से नही हो सकती। जनता के लिए क्राति शस्त्रो से हो सकती है। यानी मैं और नारायण देसाई, दोनो यदि क्राति का ठीका ले लें, तो हम क्राति के ठीकेदार हो सकते है और आपके लिए क्राति होगी। लेकिन वह क्राति 'आपके द्वारा' नही होगी। जनतत्र मे इस बात की आवश्यकता है कि जो क्रान्ति हो, वह केवल जनता के लिए न हो, 'जनता की क्रान्ति' 'जनता के द्वारा' हो। आज क्राति भी जनतान्त्रिक होनी चाहिए, अन्यथा दुनिया मे जनतन्त्र की कुशल नही है। क्रान्ति की प्रक्रिया ही जनतात्रिक हो जानी चाहिए।

क्रान्ति की प्रक्रिया

आज तक क्या था ? यही कि क्राति की प्रक्रिया भी तानाशाही की हो, क्रान्ति के बाद की सत्ता भी तानाशाही की हो और उसमें से फिर जनतन्त्र का विकास हो।

अब जब क्रान्ति में से शस्त्र का निषेध हो गया है, तब कैसी प्रक्रिया की आवश्यकता है ? जब तक आप सरकारी फौज को अपनी तरफ नही मिला लेते, तब तक सशस्त्र क्रान्ति नही हो सकती। अब देखिये कि फौज को मिला देने का क्या परिणाम होता है ? अपने देश की ही बात ले लीजये। यहाँ की फौज जिस सरकार के हाथ में है, वह लोक-नियुक्त सरकार है। वह जार की सरकार नही है, अंग्रेजो की सरकार नही है, किसी नवाब या राजा की भी सरकार नही है। यानी किसी ऐसी सत्ता की सरकार नही है, जो लोक-नियुक्त सत्ता न हो। सत्ता लोक-नियुक्त है और उसकी यह सेना है। अब कल मैं जाता हूँ और सेना में बगावत कर देता हूँ, तो सेना को मैं क्या सिखाता हूँ ? यही कि, जो लोक-नियुक्त सत्ता हो, उसके प्रति भी वफादार और ईमानदार रहने की जरूरत नही है।

गाधी साधन-शुद्धि की बात किया करते थे, पर हम समझते थे कि ये तो पारमार्थिक बातें है, व्यवहार मे इनका कोई स्थान नही।

व्यवहार ऐसी वस्तु है कि वह किसीके हाथ कभी लगनेवाली ही नही है। हर कोई उठता है और कहता है कि वह अव्यावहारिक है। अव्यावहारिक का अर्थ ? व्यवहार के अनुरूप नही है। जो नित्य बदलता रहता है, जिसको हम रोज बदलना चाहते हैं, वह कभी जीवन के सिद्धान्तो का नियामक नही हो सकता। इसलिए यह व्यवहारवाद, बिलकुल ही अव्यावहारिक है।

हमारे देश मे आज दो तरह के प्रवाह चल रहे हैं। प्रान्तवाद-भाषावाद और संप्रदायवाद। ये आज हमारे देश की लोकशाही को कलुषित कर रहे है। पूँजीवाद

तो उसे कलुषित कर ही रहा है, ये जातिवाद, संप्रदायवाद, भाषावाद उसे अत्यधिक कलुषित कर रहे हैं। आज हमारे यहाँ पक्षनिष्ठा, भाषा-निष्ठा, गैर जाति-निष्ठा—तीनो का दौरदौरा है। ये बातें यदि सेना में गयी, तो जाने क्या अनर्थ होगा ?

स्पष्ट है कि इस देश में जो व्यक्ति सशस्त्र क्राति का प्रयास करेगा, वह देश मे अराजकता पैदा करेगा। अराजकता शासन-मुक्ति नही है। अराजकता और वस्तु है, शासन-मुक्ति और। यहाँ पर जो लोग सशस्त्र क्राति की बात करते हैं, उन्होने परिस्थिति का सम्पूर्ण विचार नही किया है और परिस्थिति को बाद मे काबू में रखने की शक्ति भी उन लोगो ने प्राप्त नही की।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आज सशस्त्र क्राति के लिए जनता मे शक्ति नही रह गयी है। हमारे यहाँ सशस्त्र क्राति अनुपयुक्त ही नही, अवाछनीय है। हमारी क्राति अन्तर्राष्ट्रीय होनी चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय क्राति का अर्थ मै बता ही चुका हूँ कि वह हमारे राष्ट्र के लिए सुलभ होनी चाहिए और दूसरे राष्ट्र के लिए अनुसरणीय होनी चाहिए। ऐसी क्राति की प्रक्रिया का विकास आज करना आवश्यक था। मार्क्स के बाद भगवान् की कृपा से गाधी आया, जिसने प्रतिकार की एक ऐसी प्रक्रिया बतलायी, जो सम्पूर्ण रूप से वैज्ञानिक है।

वैज्ञानिकता का अर्थ

यहाँ हम यह भी देख लें कि वैज्ञानिकता का अर्थ क्या है ? विज्ञान केवल पदार्थ-विज्ञान या रसायनशास्त्र ही नही है। इनके सारे नियम मनुष्य के लिए लागू करना अवैज्ञानिक है।

एक बार वैज्ञानिको के सामने एक 'निर्जीव' शव रखा गया और एक 'सजीव' मनुष्य लाकर खडा कर दिया गया और उनसे कहा गया कि इनकी परीक्षा करो, इनमे क्या अन्तर है ?

कहने लगे, "इनमें कुछ भी अन्तर नही है, जो उसमें है, वह इसमे है।"

"सो कैसे ? वह मरा हुआ है, यह जिन्दा है। दोनो मे कोई अन्तर कैसे नही है ?"

बोले, "एक प्रतिशत अन्तर है और क्या ?"

अर्थात् ९९ प्रतिशत तो एक ही है !

यह एक प्रतिशत का अन्तर तुम्हें बहुत ज्यादा मालूम होता है ?

लेकिन इतने में ही तो सारा अन्तर पड गया। मानवीय विज्ञान और पदार्थ-विज्ञान, जीव-विज्ञान और पदार्थ-विज्ञान में बहुत बडा अन्तर है। पदार्थ-विज्ञान बहुत कुछ पूर्णता की ओर कदम बढा चुका है। पर मनोविज्ञान और मानवीय विज्ञान

अभी अविकसित विज्ञान है। जितने मनोवैज्ञानिक है, उनमें वहुत-से प्रतिवर्तनवादी है। परिस्थिति में से मनुष्य का जो मन वनता है, उसीके विचार तक पहुँचे है। परिस्थिति का परिवर्तन करनेवाला मन कैसा होता है, वह कहाँ से आता है ?

मानवीय विज्ञान क्या है ? मानवीय विज्ञान है—भेद का निराकरण, अभेद की स्थापना। इसी दिशा में हमे जाना है। अत हमें इस दिशा में जो ले जायगा, वह विज्ञान है। इस दिशा में हमे जो नही ले जाता, वह विज्ञान नही है।

संघर्ष नहीं, सहयोग

मै थोडी देर के लिए मान लेता हूँ कि हाँ, सघर्ष ही जीवन का नियम है। लेकिन वह नियम किसलिए है, जीवन सम्पन्न करने के लिए है या जीवन का नाश करने के लिए ? अन्तत सघर्ष में से भी तो जीवन ही सम्पन्न होना चाहिए न ? जिस संघर्ष में से जीवन सम्पन्न होता है, उसे संघर्ष नाम भले ही दे दीजिये, लेकिन असल में वह सहयोग ही है।

ताश के खेल में जव तक खिलाफ खेलनेवाला नही होता, तव तक खेल ही पूरा नही होता। सरकार और विरोधी पक्ष मिलकर पालियामेण्ट का विधान पूरा होता है। खेल में दो पक्ष होते है, वे परस्पर सहयोगी होते है। 'वे संघर्ष में खड़े हुए' कहलाते अवश्य है, लेकिन खेल पूरा होने के लिए वे दोनो एक-दूसरे के सहयोगी पक्ष होते है। आप अगर सघर्ष को इस दृष्टि से देखें, तो मुझे कोई शिकायत नही है।

हिंसा अनिवार्य नहीं

मार्क्सवादी क्रान्ति की व्याख्या करते हुए एक ने लिखा है—'एक आकस्मिक सामाजिक उथल-पुथल, जिसमे रक्तपात अनिवार्य नही है।'

मार्क्सवादी क्रान्ति में रक्तपात होगा ही, ऐसी वात नही है। यानी हिंसा अनिवार्य नही है। फिर इस अहिंसात्मक सघर्ष का क्या अर्थ है ? यह भी विरोधाभास ही है। अहिंसात्मक भी है और सघर्ष भी है ! इसका अर्थ यही है कि यह प्रतिकार सहयोगात्मक है। प्रतिकार मे जिस दिन अहिंसा जोड दी जाती है, उस दिन प्रतिकार भी सहयोगात्मक वन जाता है। यह जो सहयोगात्मक प्रतिकार, सेवात्मक प्रतिकार होता है, इसीका नाम है 'सत्याग्रह'। सत्याग्रह की प्रक्रिया सहयोगात्मक प्रतिकार की प्रक्रिया है—जैसे खेल में दो पक्षो को मिलाकर खेल होता है। आप सारी सृष्टि को ही लीला मान लें। लीला का अर्थ यही है। लीला यानी खेल। कोई स्वपक्षीय नही, कोई प्रतिपक्षीय नही। हम एक-दूसरे को परास्त करना नही चाहते, एक-दूसरे से सहयोग इसलिए करना चाहते है कि दोनो में गुणात्मक परिवर्तन हो। यही तो द्वन्द्वात्मक

भौतिकवाद है कि दोनो में गुणात्मक परिवर्तन हो। इसलिए हम कहते है कि सह-योगात्मक सघर्ष होगा।

अब सवाल इतना ही है कि यह सघर्ष यदृच्छा से होगा या बुद्धिपूर्वक होगा? यदृच्छा से होगा, तो मनुष्य नियति का एक अश बन जाता है। उसमें उसका व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है। मनुष्य की मानवता ही समाप्त हो जाती है। यदि पुरुषार्थ है, तो उसमें मनुष्य की अपनी बुद्धि होनी चाहिए। इस चेतना का 'सशस्त्र क्रान्ति' में अभाव पाया जाता है। सशस्त्र क्रान्ति की अन्तिम प्रतिष्ठा, अन्तिम शक्ति कहाँ होती है? शेक्स-पियर का दूसरा रिचर्ड कहता है न—"हमारी जो कलाई की ताकत है, वही हमारी सदसद्विवेकबुद्धि है और हमारी तलवार ही हमारा कानून है।" सशस्त्र युद्ध चाहे कैसा भी हो, अन्त में यहाँ आकर वह रुक जाता है। शस्त्र-शक्ति ही उसका मुख्य अधिष्ठान है।

शक्ति का अधिष्ठान कहाँ?

रामदास स्वामी ने कहा, "भगवान् का अधिष्ठान हो!" लेकिन भगवान् का अधिष्ठान कहाँ हो? हृदय में हो? और हाथ में तलवार हो? "क्या भगवान् काफी नही है?" तो कहते है, "नही, भगवान् के सरक्षण के लिए तलवार की जरूरत है।" तब तो तलवार ही बडी है, भगवान् तो बडा नही हुआ। और फिर जिसकी तलवार बडी हुई, वही भगवान् हो गया।

अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरं धनुः।

हिन्दू महासभा के जमाने में एक नेता कहा करते थे कि "आगे-आगे वेद चलेगा और पीछे-पीछे धनुष-बाण। वेद का सरक्षण करने के लिए धनुष-बाण की जरूरत है।"

तब तो वेद का प्रामाण्य ही समाप्त है। धनुष-बाण ही प्रमाण है, क्योकि वेद तो धनुष-बाण की शरण आ गया।

दूसरे ने कहा कि "एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में कुरान।" तो फिर कुरान बडा है या तलवार बडी है?

तीसरे ने कहा कि "एक हाथ में क्रूसेड की बन्दूक—धर्म-युद्ध की तोप और दूसरे हाथ में बाइबिल।" तो बाइबिल का स्वत कोई मूल्य ही नही!

चौथा कहता है कि "कमर में कृपाण और सिर पर ग्रथ साहब!" तो कृपाण की महिमा है!

प्रश्न यह है कि हम अंत मे शक्ति का अधिष्ठान कहाँ मानते है। हम अपने आदर्श को श्रेष्ठ मानते हैं या बाहुबल को? सशस्त्र क्रान्ति यहाँ आकर रुक जाती है। इसलिए सशस्त्र क्रान्ति जैसी अवैज्ञानिक और अव्यावहारिक प्रक्रिया ससार में आज

दूसरी है ही नही। यह गाधी और मार्क्स का सवाल नही है। हमें तटस्थ होकर विचार करना है और सोचना है कि आज के जागतिक सदर्भ में कौन-सी क्रान्ति वैज्ञानिक और व्यावहारिक हो सकती है ?

भेद का निराकरण ही हमारी कसौटी

हमारी कसौटी क्या है ? हम भेद का निराकरण करना चाहते हैं, अभेद की ओर बढना चाहते हैं। यही हमारी कसौटी है। इसके अनुरूप हमारी क्रान्ति की प्रक्रिया होनी चाहिए। गाधी ने कहा, "सहयोगात्मक प्रतिकार करो।" तब यह प्रश्न उठा कि क्या प्रतिकार भी सहयोगात्मक हो सकता है ? गाधी ने उसे **'हृदय-परिवर्तन'** नाम दिया।

"दूसरे की बीमारी को अपनी समझो, उसकी सेवा करो।" "बीमारी में मैं शुश्रूषा करता हूँ, इसलिए कि 'तेरा' दु ख 'मेरा' दु ख है।" समाज और ससार आज यहाँ तक पहुँच गया है।

अज्ञानी के साथ हमें सहानुभूति है। "तेरा प्रश्न मेरा प्रश्न है। तेरा अज्ञान मेरा अज्ञान है। दोनो मिलकर उसका निराकरण करेंगे।" शिक्षण और विद्या के क्षेत्र में हम यहाँ तक पहुँच गये।

गाधी कहता है, "और एक कदम आगे बढो। दूसरे के अपराधो को भी अपने अपराध मानो।" तुम्हारी सहृदयता, तुम्हारा तादात्म्य दूसरो के साथ यहाँ तक हो। तुम्हें अपराध मे सहयोग नही करना है, अपराध की क्षमा भी नही करनी है, लेकिन जिसने अपराध किया हो, उस अपराधी को अपना दूसरा स्वरूप मान लेना है। वह भी 'मैं हूँ', ऐसा मान लो।

कोई सन्त ही ऐसा कर सकता था ! यह करुणा की प्रक्रिया है। इस क्रान्ति मे करुणा की प्रक्रिया क्यो है ? इतना व्यापक हृदय भगवान् ने केवल सत को ही दिया है कि वह पापी, अपराधी और अन्यायी के लिए भी अपने हृदय में करुणा रख सके। यह सत की ही भूमिका होती है।

लेनिन का अनुभव

रूस की क्रान्ति के कुछ साल के बाद जब लेनिन की नयी आर्थिक नीति आयी, तो लोगो ने "पूछा कि तुम्हारी पहली योजना तो अच्छी थी, पर तुम्हारी यह जो नयी योजना है, उसमें समाजवाद कही दिखाई ही नही देता ?" उसने जवाब दिया, "हाँ, मैं जानता हूँ। इसमे समाजवाद नही है।"

लोगो ने पूछा, "तो तुम समाजवादी योजना क्यो नही बना रहे हो ?"

उसने जवाब दिया, "आज मेरी परिस्थिति नही है। वह सदर्भ नही है।"

लोगो ने चकित होकर कहा, "अरे ! समाजवाद के नाम पर तुमने क्रान्ति की और बहुसख्य जनता ने समाजवादी क्राति में, कम्युनिस्ट क्राति में, तुम्हारा साथ दिया। फिर भी तुम कहते हो कि समाजवाद की स्थापना नही हो सकती ?"

लेनिन ने कहा, "बहुसंख्य जनता क्राति में शामिल होती है, पर इतने से वह साम्यवादी और समाजवादी नही बन जाती।"

"क्यो नही बन जाती ?"

उसने जवाब दिया, "क्राति उसके स्वार्थों के अनुकूल होती है, इसलिए बहुसख्य वर्ग क्रातिकारी बन जाता है। प्रतिष्ठित वर्ग समाज-परिवर्तन नही चाहता। समाज मे जो वर्ग विपन्न, दरिद्री और अप्रतिष्ठित होता है, वही समाज-परिवर्तन चाहता है।"

ब्राह्मण भला क्यो जाति-भेद का निराकरण चाहेगा ? उसका तो चरणोदक पीते हैं लोग। चमार चाहता है जाति-निराकरण। मार्क्स ने आखिर यह क्यो कहा कि एक ही वर्ग का, श्रमजीवी किसान और मजदूरो का, ही सगठन करूँगा। ऐसा उसने इसीलिए कहा कि जो गरीब, दरिद्र और अप्रतिष्ठित वर्ग होता है, उसकी भूमिका क्राति के लिए अनुकूल होती है। गरीब गरीबी का निराकरण करना चाहता है, पर अमीर अमीरी का निराकरण करना नही चाहता। इसलिए गरीबो का सगठन होता है, क्योकि उनका स्वार्थ क्रान्ति के अनुकूल होता है।

क्रान्ति कब सफल होती है ?

बहुजन का स्वार्थ बडा स्वार्थ है, वह नि॰स्वार्थ नही। स्वार्थ विशाल हो जाने से व्यापक नही बनता। सर्वोदय बहुसख्यावाद नही है। सर्वोदय का सकल्प सबके उदय का है। केवल बहुसख्या का स्वार्थ होने से ही वह नि॰स्वार्थ नही बन जाता। साम्यवादी घोषणा-पत्र में मार्क्स और एगिल्स ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि बहुजनो की क्राति तभी सफल होती है, जब बहुजनो का स्वार्थ और सर्व-जन का स्वार्थ एक हो जाता है। बहु-जन का स्वार्थ ही जब सर्व-जन का स्वार्थ हो जाता है, तब वह ऐतिहासिक परिस्थिति प्राप्त होती है, जिस परिस्थिति में क्राति सफल होती है।

बहुजन के स्वार्थ और बहुजन के द्वेष पर भी जो क्राति आधार रखेगी, उसके सामने हमेशा प्रति-क्राति की विभीषिका बनी रहेगी। आखिर प्रतिक्राति का जन्म कहाँ से होता है ? प्रति-क्राति के बीज कहाँ होते है ?

लेनिन ने कहा कि किसान और मजदूरो के स्वार्थ के अनुकूल मेरी क्राति थी, इसलिए किसान और मजदूर मेरे साथ आये, लेकिन इतने से वे समाजवादी नही बन गये। स्वामित्व और सपत्ति की भावना का उनके मन मे से निराकरण नही हुआ। उन्हें समाजवादी बनाने के लिए मुझे कुछ भावरूप प्रक्रियाओ का आश्रय लेना पड़ेगा। एक शिक्षण की प्रक्रिया है और दूसरी प्रक्रिया है श्रमदान की।

लेनिन से पूछा गया, "तो समाजवादी योजना तुम्हारे पास नही है ?"

उसने कहा, "राज्य के कानून में नही है।"

"सविधान में है ?"

"सविधान में भी नही है।"

"तुम कहते हो कि कानून भी समाजवादी नही और सविधान भी समाजवादी नही बना सकते। तो फिर तुम समाजवाद का विकास करोगे कैसे ?"

उसने कहा, "मेरी योजना में एक ही समाजवादी वस्तु है, उसका नाम है—'सेबॉटनिक'। 'सेबॉटनिक' का अर्थ है, प्रति शनिवार को नागरिको द्वारा स्वेच्छा से श्रमदान। इसीमें से आगे चलकर काम की प्रेरणा का सवाल हल होनेवाला है। नागरिको में स्वयप्रेरणा और स्वयकर्तुत्व, दोनो इसीमें से जागृत होनेवाले है।"

अपराध का प्रतिकार : अपराधी को क्षमा

हमारी मूल बात यह थी कि हमारी क्रान्ति की प्रक्रिया में जो प्रेरणा होगी, वह बहुजनो के स्वार्थों की भी न हो और द्वेष की भी न हो। क्रान्ति की प्रेरणा जब मानवीय प्रेरणा होगी, तभी वह क्रान्ति वैज्ञानिक हो सकती है, अन्यथा नही। मानवीय प्रेरणा सहानुभूति की प्रेरणा होती है, जिसे विनोबा ने 'करुणा की प्रेरणा' कहा है और गाधी ने 'अहिंसा की प्रेरणा' या 'प्रेम की प्रेरणा' कहा था। इसकी व्यक्तिगत भूमिका क्या है ? यही कि दूसरे के अपराधो को अपना अपराध मानो। हम कहते है कि सन्त अपराध को क्षमा करते है, लेकिन गाधी ने यह नही कहा कि 'बुराई का प्रतिकार मत करो'। उसने हमें बुराई का अप्रतिकार नही सिखाया।

गाधी ने कहा, "जैसे रोग हैं, जैसी बीमारियाँ है, वैसे ही अपराध है।" हम कहते है कि बीमारी का प्रतिकार करो, आग का प्रतिकार करो, ज्वालामुखी का विस्फोट हो, तो मनुष्यो को हटा लो। गाधी कहते है कि "मनुष्य के अन्दर की बुराई का भी प्रतिकार क्यो नही ? मेरे अन्दर भी अपराध है, तो दूसरे के अपराध भी मेरे अपराध हैं, इसलिए दूसरे के और मेरे, सबके, अपराधो का प्रतिकार करना है, निराकरण करना है।" दोष, त्रुटियो और अपराधो की क्षमा नही होती, उनका प्रतिकार ही होना चाहिए।

वह धर्म भी है, कर्तव्य भी है। अपराध का प्रतिकार करना है, पर अपराधी को क्षमा करना है।

हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया

गाधी और तिलक, दोनो ने गीता पर लिखा है। तिलक ने अपने प्रति-सहयोग के सिद्धान्त का आधारभूत श्लोक माना है—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (४:११)—'जो जिस भाव से मेरे पास आता है, उसी भाव से मैं उसे प्राप्त होता हूँ, उसी भाव से उसके साथ पेश आता हूँ।' इसमे से तिलक ने सिद्धान्त निकाला—'शठं प्रति शाठ्यम्'। अर्थात् 'जो शठभाव से आपके पास आये, उससे आप शठ ही बनें।'

परन्तु ऐसे प्रसग पर गाधी कहते हैं कि मनुष्य के लिए शुद्ध दया ही शुद्ध न्याय है। क्यो ? मैं जब कोई कार्य करता हूँ, तो मेरी भूमिका क्या होती है ?

माँ के सामने खडा हूँ, तो माँ से कहता हूँ, "माँ, गलती तो हो गयी, अपने अचल में मुझे छिपा ले, अपनी गोद में मुझे जगह दे। गलती फिर से न हो, ऐसी शक्ति दे। तेरा प्रेम होगा, तो उस गलती से शायद आगे चलकर बच जाऊँगा।"

इसी तरह हम भगवान् से कहते हैं, "भगवन्, अबकी दफा माफ करो। हे हरि, हमारी लाज रखो। हमारी गलती निभा लो!"

अर्थात् मनुष्य अपने लिए क्षमा चाहता है, दूसरे के लिए न्याय। गाधी कहता है, "हृदय-परिवर्तन का अर्थ है अपने लिए न्याय और दूसरे के लिए क्षमा।" यह सहृदयता का, सहानुभूति का लक्षण है। दूसरे के दु:ख का अनुभव करता हूँ, दूसरे के सुख का अनुभव करता हूँ, तो दूसरे के अपराधो का भी मैं अनुभव करता हूँ। याने अपराधी के लिए भी मेरे हृदय में सहानुभूति है। यह आधुनिकतम अपराध-चिकित्सा कहलाती है।

प्रश्न है कि समाज में से अपराध-निराकरण कैसे हो ? आज का वैज्ञानिक कहता है कि अपराध-निराकरण की दो प्रक्रियाएँ हैं : (१) समाज में अपराध के लिए अवसर न रहे, ऐसी परिस्थिति पैदा की जाय, और (२) अपराधी का उद्धार हो।

गांधी : मार्क्स का उत्तराधिकारी

गाधी इससे सिर्फ एक कदम आगे बढता है। अन्याय का निराकरण होगा, अन्याय का प्रतिकार होगा और अन्यायी का उद्धार होगा। यह मानवीय प्रक्रिया है। अब इसे कोई अवैज्ञानिक कहे, तो अवैज्ञानिकता का आरोप सह लेने के लिए हम नम्र-भाव से तैयार हैं। हमारे लिए मनुष्य विज्ञान से श्रेष्ठ है। यन्त्र बहुत बडा होगा, परन्तु

यन्त्र से विज्ञान बडा है और मनुष्य विज्ञान से बडा है। हमने मनुष्य को केन्द्र में मान लिया है। हम जो परीक्षण करेंगे, वह हमेशा अपने सामने मनुष्य को केन्द्र में रखकर करेंगे। इसलिए जब मैं यह कहता हूँ कि क्रान्ति की प्रक्रिया वैज्ञानिक है, वैज्ञानिक होनी चाहिए, तो विज्ञान की आज जहाँ तक प्रगति हुई है, उस प्रगति से लाभ उठाकर वैज्ञानिक क्राति में भी हम आगे कदम बढाते हैं। यह पीछे कदम नही है। लोग कहते हैं कि हम घडी की सूइयाँ पीछे की तरफ ले जा रहे हैं। ऐसा नही। हम घडी की सूइयाँ आगे की तरफ ले जा रहे हैं। आज घडी की सूई आकर रुक गयी है, वहाँ से आगे कोई सोच नही सकता था, वहाँ गाधी आया और मार्क्स का उत्तराधिकारी बनकर आया। मार्क्स ने सारे मानवीय तत्त्वो का सग्रह किया। लेकिन मार्क्स का विज्ञान उसके भौतिकवाद के सिद्धान्तो के कारण पूँजीवाद की प्रतिक्रिया के रूप में आया। इसलिए वह उस प्रतिक्रिया के साथ कुछ पूँजीवाद के स्वरूप को भी लेकर आया।

मार्क्स से मेरा मतलब है—दुनिया का क्राति-विचार। मार्क्स एक सकेत है। दुनिया में क्रान्तिकारी विचार जिस मुकाम पर आकर पहुँचा है, उससे आगे अब क्रान्ति का विचार मानवीय विज्ञान की दृष्टि से हमको करना है और मानवीय विज्ञान की दृष्टि से एक ऐसी प्रक्रिया की खोज करनी है कि जिस प्रक्रिया से भेद का निराकरण हो, अभेद की स्थापना हो, पर भेद के निराकरण के साथ मानव का निराकरण न हो। अगर भेद के निराकरण के साथ, बुराई के निराकरण के साथ बुरे आदमी का ही निराकरण हो जाता है, तब तो वह निराकरण ही नही हुआ, वह तो अज्ञान के निराकरण के साथ विद्यार्थी का ही निराकरण हो गया! बीमारी के निराकरण के साथ रोगी का ही निराकरण हो गया! यह तो कोई प्रक्रिया ही नही हुई। प्रक्रिया ऐसी चाहिए कि जिस प्रक्रिया में मानव्य की रक्षा तत्त्वत नही, वस्तुत. हो। केवल मानव्य की रक्षा नही, अपितु मानव्य का अधिष्ठान जो मानव है, उसका भी सरक्षण होना चाहिए।

फोकनेर का सन्देश

आज ससारभर के कवि और साहित्यिक भी यही विचार कर रहे है। यानी आधुनिकतम साहित्य की प्रवृत्ति आज यही है। सन् १९४९ मे विलियम फोकनेर को जब नोबेल पुरस्कार मिला, तो उसने अपने भाषण में कहा कि "ससार में अब तक सर्वत्र मनुष्य एक ही चीज की राह देख रहा है। यही कि 'कब बम गिरता है और कब मैं मरता हूँ!' इसलिए मनुष्य के व्यक्तित्व का उच्छेद हो गया है, उसका व्यक्तित्व पूरी तरह से बिखर गया है। जो डरता है, उसमें मानवता और व्यक्तित्व नहीं रह जाता है। आज सब जगह मानव डरा हुआ है। फिर भी मैंने अपना यह ग्रन्थ इसीलिए लिखा कि मैं मनुष्य को यह आश्वासन देना चाहता हूँ कि मनुष्य कभी नष्ट होनेवाला

ही नही है। दुनिया में चाहे प्रलय हो जाय, लेकिन मनुष्य कभी नष्ट नही होगा। मैं आशा का सन्देश बनकर आया हूँ। मेरा साहित्य मनुष्य का आशा-स्थल होगा। वह मनुष्य को यह आश्वासन और यह प्रत्यय दिलायेगा कि मनुष्य का सहार हरगिज नही हो सकता।"

यह प्रतिज्ञा ठीक है, आशा ठीक है, आश्वासन ठीक है, लेकिन प्रश्न यह है कि प्रयोग क्या होगा, प्रक्रिया क्या होगी? आश्वासन एक हो, आशा अलग हो और प्रक्रिया उसके खिलाफ हो, तो कैसे चलेगा? पर आज तो वही हो रहा है। आकाक्षा शान्ति की है, सयोजन युद्ध का है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे सारी तैयारी युद्ध की भूमिका पर हो रही है। अन्न-समस्या का प्रतिकार युद्ध की भूमिका पर, आग का प्रतिकार युद्ध की भूमिका पर, बाढ का प्रतिकार युद्ध की भूमिका पर करने की बात कही जाती है। युद्ध का सयोजन हो, शान्ति की आकाक्षा हो, इसमें से शान्ति के अनुकूल क्रान्ति की प्रक्रिया विकसित हो नही सकती। और हम तो चाहते हैं कि शान्ति के अनुकूल क्रान्ति की प्रक्रिया का विकास दुनिया मे हो। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यह आकाक्षा है। इसलिए यही व्यावहारिक प्रक्रिया है। मानवीय विज्ञान के, यानी भेद के निराकरण के और अभेद की स्थापना के अनुकूल, बुराई का निराकरण और बुरे व्यक्तियो का उद्धार—इस सास्कृतिक मूल्य के अनुरूप यही एक प्रक्रिया हो सकती है। इसलिए यही सास्कृतिक प्रक्रिया है, यही वैज्ञानिक प्रक्रिया भी है और अन्तर्राष्ट्रीय भी। यह प्रक्रिया अन्तर्राष्ट्रीय इसलिए है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय आकाक्षा और ऐतिहासिक आवश्यकता के अनुरूप है। वैज्ञानिक इसलिए है कि भेद का निराकरण और अभेद की स्थापना के लिए वह सबसे अधिक अनुकूल है।

वर्ग-संघर्ष का प्रश्न

अब वर्ग-सघर्ष का प्रश्न और रह जाता है। हम वर्ग-समन्वय मे विश्वास करनेवाले नही हैं। वर्ग-समन्वय 'युष्मत्' 'अस्मत्' प्रत्यय हैं। उसका समन्वय नही हो सकता। 'तमः प्रकाशवत् विरुद्धस्वभावः।' गरीब गरीब रहे और अमीर अमीर रहे और दोनो समन्वय करें, यह कभी हो नही सकता। बकरी बकरी रहे, शेर शेर रहे। बकरी भी शेर हो जाय और शेर भी थोडा-बहुत बकरी हो जाय, तो वे दोनो साथ रह सकते हैं। इसलिए वर्ग-निराकरण की आवश्यकता है। दूसरी प्रक्रिया हो ही नही सकती। अगर वर्ग-सघर्ष भी होगा, तो वह सहयोगात्मक होगा और यदि सहयोगात्मक होगा, तो केवल एक वर्ग के स्वार्थ का और एक वर्ग के द्वेष का सगठन आज क्रान्ति की प्रक्रिया नही हो सकती। एक ही वर्ग के स्वार्थ का और एक ही वर्ग के द्वेष का सगठन आसान जरूर है, क्योंकि गरीबो की भूमिका क्राति के अनुकूल है। लेकिन आवश्य-

कता को जब हम अवसर में परिवर्तित कर देते है, विवशता जिस दिन व्रत हो जाती है, उस दिन मानवीय क्रान्ति का आरभ होता है ।

दरिद्रता आज गरीब आदमी की विवशता है । दरिद्रता को जिस दिन हम असग्रह के व्रत में बदल देते है, उस दिन मानवीय क्रान्ति का आरम्भ होता है । सघर्ष कब तीव्रतर बन सकता है ? जब भूखा अपनी भूख में से शक्ति प्राप्त करेगा । आज भूखे की भूख उसमें दीनता और विवशता पैदा करती है । भूखे की भूख जिस दिन उसके उपवास मे, या कभी-कभी भूख-हडताल मे परिणत हो जाती है, यानी भुखमरी जिस दिन उपवास मे, प्रायोपवेशन में परिणत हो जाती है, उस दिन उसमें से शक्ति पैदा होती है । विवशता को भी हम पुरुषार्थ में परिणत कर सकते हैं ? तभी, जब विवशता को मनुष्य अवसर मे बदल देता है । आज जो दरिद्रो की दरिद्रता है, वह उनकी विवशता है । आकाक्षा इनमें अमीरी की है और मजबूर है, इसलिए गरीब हैं । इस आकाक्षा को आप जब तक नही बदलेंगे, इनका हृदय-परिवर्तन जब तक नही होगा, तब तक एक वर्ग के सगठन से जो क्रान्ति होगी, वह मानवीय क्राति नही होगी । इस दृष्टि से अहिंसक क्राति मे वर्ग-निराकरण तो है, लेकिन वर्ग-सघर्ष उस अर्थ में नही है, जिस अर्थ में लोग आज तक उसे समझते आये है । वर्ग-सघर्ष यानी वर्ग का प्रतिकार, व्यक्तियो का प्रतिकार नही । व्यक्तियो का सहयोग है, मानव का सहयोग है । इसमें मानव का उद्धार है । केवल अमीरी और गरीबी का प्रतिकार है ।

निष्कर्ष

तो, हमने देखा कि आध्यात्मिकता का नैतिकता से क्या सम्बन्ध है । क्या इस नैतिकता की भूमिका पर क्राति का आधार रख सकते है ? क्या नैतिक क्रान्ति दुनिया में कभी हो सकती है ? आज तक जो क्रान्तियाँ हुई, उन्होने क्या नैतिकता का विचार नही किया ? उन्होने विचार किया । लेकिन नैतिकता को कम पाया और वैज्ञानिकता को अधिक पाया । वैज्ञानिकता को अधिक क्यो पाया ? विज्ञान सार्वत्रिक, सार्वभौम है और हमारी नैतिकता साम्प्रदायिकता के कारण परिसीमित हो गयी है । इसलिए लोगो ने यह समझा कि नीति सार्वभौम नही हो सकती ।

क्या नीति वैज्ञानिक हो सकती है ? क्या नीति भी सार्वभौम हो सकती है ? जितना विज्ञान सार्वभौम है, उतनी ही मानवता सार्वभौम है । तो फिर, क्या नीति सार्वभौम नही हो सकती ? सार्वभौम नीति समाज में आज भी है, जिसे हम मानवता कहते हैं । वही सार्वभौम नीति का अधिष्ठान है ।

यह व्यक्त कैसे होती है ? दूसरे के दु ख में हम दु खी होते हैं, दूसरे के सुख मे हम

सुखी होते हैं। हमें दूसरे के साथ प्रेम करने में आनन्द आता है। हम द्वेष का निराकरण करना चाहते हैं। द्वेष में किसीको आनन्द नही आता। इसलिए मनुष्य का जो आध्यात्मिक अधिष्ठान है, वही उसकी नैतिकता में अभिव्यक्त होता है। इस नैतिकता को क्या हम प्रतिकार और क्रान्ति के क्षेत्र के लिए लागू कर सकते हैं ? हम अवश्य लागू कर सकते हैं। आज तक हम यही तक पहुँचे हैं कि हम दूसरे के दु ख को अपना दु ख समझे, दूसरे की बुराई को अपनी बुराई समझें, दूसरे के अज्ञान को अपना अज्ञान समझें। गाधी कहता है कि हम इससे भी एक कदम आगे बढेंगे। दूसरे के पाप को और दूसरे के अन्याय को भी अपना अन्याय समझेंगे। उसका प्रतिकार अपना कर्तव्य समझेंगे। अपने अपराध और अपने पाप के निराकरण के लिए जो साधना हम करते हैं, वही साधना हम दूसरो के अपराध और पाप के निराकरण के लिए भी करेंगे। यह प्रक्रिया सहयोगात्मक बन जाती है। यह प्रतिकार, यह सघर्ष भी प्रेममूलक होता है और सेवात्मक होता है। प्रेममूलक और सेवात्मक प्रतिकार ही 'सत्याग्रह' कहलाता है। प्रतिकार सहयोग में परिणत हो जाता है। इस तरह से क्रान्ति की प्रक्रिया नैतिकता में से, आध्यात्मिकता मे से निष्पन्न होती है।*

●

---

* विचार-शिविर, अहमदाबाद में २३-८-'५५ का प्रात-प्रवचन।

क्रान्ति-विचार : मार्क्सवादी प्रयोग का अवलोकन : ६ :

मुझसे पूछा गया है कि मैंने यह क्यो कहा कि कार्ल मार्क्स गरीब जनता के लिए पहला मसीहा बनकर आया ?

जो लोग दलित हैं, पीडित हैं, शोषित हैं, उनका पहला उद्धारकर्ता था मार्क्स। उनके लिए वह पहला मसीहा बनकर आया। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि दस अवतारो के साथ एक तरह से वह ग्यारहवाँ अवतार बनकर ही आया था।

मार्क्स की विशेषता

मार्क्स को गरीबो का मसीहा कहने का मुख्य कारण यह है कि गरीबी और अमीरी का निराकरण हो सकता है, होना चाहिए और होकर ही रहेगा, यह बात किसी भी पैगबर ने, किसी भी धर्मप्रवर्तक ने, किसी भी ऋषि ने या अवतारी पुरुष ने कार्ल मार्क्स के पहले नही कही थी। यह एक ऐसी बात थी, जिसे मैं कार्ल मार्क्स की बहुत बडी विशेषता मानता हूँ।

सभी धर्मों में दान का आदेश है। कहा गया है कि जो दु खी है, जो दरिद्री हैं, उनकी सहायता करो, मदद करो। जो कुछ तुम कमाते हो, उसमें से उन्हे दान दो। उनके दु ख का निवारण करने की कोशिश करो। राजाओ से यह भी कहा गया है कि तुम राज्यो के दान कर दो। बहुत बडे-बडे अमीरो से कहा गया है कि तुम सर्वस्व दान कर दो। फलतः किसीने सर्वजित् यज्ञ किया, किसीने विश्वजित् यज्ञ किया। इस तरह किसीने सर्वस्व दान भी दिया। हरिश्चन्द्र राजा ने राज्य भी दिया। लेकिन हरिश्चन्द्र के दान से 'राजा' नाम की सस्था का निराकरण नही हुआ। इसी प्रकार बडे-बडे सपत्तिधारियो ने अपना सर्वस्व दान दिया, लेकिन उसके कारण विश्व से अमीरी और गरीबी के निराकरण का रास्ता नही मिला।

दान का आदेश सभी धर्मो मे है, गरीबो के साथ सहानुभूति का आदेश सभी धर्मो में है; लेकिन अमीरी और गरीबी के निराकरण का आदेश नही है। मार्क्स की अपनी यह बिलकुल नयी बात थी। सबसे पहले उसने यह बात कही और उसके बाद यह कहा कि अमीर लोग यदि यह कहते हैं कि अमीरी नैसर्गिक नियमो से आयी और गरीबी भी नैसर्गिक नियमो से आयी, तो जिन नैसर्गिक नियमो के अनुसार अमीरी-गरीबी आयी, उसी सृष्टि के क्रम में यह भी नियति है कि आगे चलकर अमीरी और गरीबी का निरा-

करण होनेवाला है और वह उनके पुरुषार्थ से होनेवाला है, जिन्हें आज हम 'गरीब' कहते हैं। इसलिए जो दलित लोग यह समझते थे कि हमको तो उम्रभर इन्ही अमीरो के भरोसे पर जीना पडेगा या तो इनकी कृपा पर या इनकी दान-वृत्ति पर निर्भर रहना पडेगा, उनमे नये पुरुषार्थ की प्रेरणा पैदा हुई। उनमें नयी आशा पैदा हो गयी।

इस बात को समझाने के लिए मार्क्स ने यह कहा कि "आज तक का मानव-इतिहास ही ऐसा होता आया है और इसी ऐतिहासिक घटना-क्रम में यह बात होनेवाली है। अमीरी और गरीबी भगवान् की बनायी हुई नही है। धर्म में उसका विधान नही है और यदि धर्म मे विधान है, तो जिस धर्म ने अमीरी-गरीबी को मजूर कर लिया होगा, वह गरीब के लिए तो अफीम की गोली है।" मार्क्स की यह बात मेरी बुद्धि में बहुत जँचती है।

बाइबिल मे लिखा है कि गरीब तो हमेशा रहेंगे ही। भगवान् ने ही गरीबी बनायी, इसलिए कि हमें दान करने के लिए मौका मिले! मान लीजिये कि मुझे बीमारो की शुश्रूषा करने का शौक है, तो किसीको इसलिए बीमार कर दिया कि मुझे सेवा का मौका मिले! पुराने धर्मों का भाष्य जब किया गया, तो उन्होंने कहा कि "भगवान् ने गरीबी इसलिए बनायी कि हमें दान के लिए अवसर रहे।"

नये अर्थशास्त्र का निर्माण

मार्क्स ने कहा कि हमें ऐसा समाज बनाना चाहिए कि जिसमें न गरीबी रहेगी, न इस प्रकार के दान के लिए अवसर रहेगा। यानी अमीरी भी नही रहेगी। यह मैंने कार्ल मार्क्स की बहुत बडी विशेषता मानी है। उसने हमारे अर्थशास्त्र को क्राति से सबद्ध कर दिया। उससे पहले अर्थशास्त्र था, लेकिन एक ने उसे 'स्वार्थशास्त्र' का नाम दिया और दूसरे ने 'अनर्थशास्त्र' का। मार्क्स ने खुद उसे 'सामाजिक विपत्ति का शास्त्र' कहा था। मार्क्स ने हमारे सामने एक नया अर्थशास्त्र रखा। पर, उसका यह अर्थशास्त्र अर्थशास्त्र हो नही सकता था। उस जमाने में अर्थशास्त्र की एक विशिष्ट परिभाषा हो गयी थी। उस परिभाषा के अनुसार मार्क्स ने जो कुछ कहा, उसका समावेश अर्थशास्त्र में हो ही नही सकता था। क्योंकि उसकी बातें क्रातिकारी थी और जो क्रातिकारी शास्त्र होता है, उसका पोथी-पडित हमेशा विरोध करते हैं।

पहले के दो प्रकार के अर्थशास्त्री

मार्क्स ने हमें एक बात यह बतायी कि ऐतिहासिक घटना-क्रम के अनुसार और सृष्टि के विकास-क्रम के अनुसार गरीबी और अमीरी ससार में आयी और अमीरी का तथा गरीबी का, दोनो का, निराकरण अवश्य होनेवाला है। और वह गरीब के पुरुषार्थ

से होनेवाला है। इसे मैंने 'वर्ग-सघर्ष' कहा था, 'एक वर्ग का सगठन' कहा था। दूसरी एक और बात उसने हमारे सामने रखी, जो अर्थशास्त्र की बात थी। उसने अर्थशास्त्र में कुछ क्रान्तिकारी तत्त्वो का समावेश किया। उसके पहले दो तरह के अर्थशास्त्री थे। एक तो थे--पुराण-मतवादी, जिन्हें लोग 'जीर्णमतवादी' कहते हैं और कम्युनिस्ट जिन्हे 'बुर्ज्वा' कहते है। यानी वे हैं--पूंजीवादी अर्थशास्त्री। उनके बाद के कुछ 'क्लासिकल' (अधिमानित) अर्थशास्त्री कहलाते हैं। मार्क्स ने उनको अशिष्ट (वलगर) अर्थशास्त्री कहा। ये बहुत स्थूल अर्थशास्त्री हैं। पहले अर्थशास्त्रियो में एडम स्मिथ और रिकार्डो आते है। एक सिद्धान्त है--श्रममूल्य का। यानी श्रम ही मूल्य है। परिश्रम ही वास्तविक आर्थिक मूल्य है। दूसरा है--'धन वह है, जिसके बदले में कुछ मिल सके।' जिसके बदले मे कुछ मिलता है, वह सपत्ति है और जिसके बदले में कुछ नही मिलता, वह सपत्ति नही है। या तो सपत्ति के बदले मे हमको पैसा मिले या सपत्ति के बदले मे दूसरी कोई चीज मिले। लेकिन जिसके बदले में कुछ नही मिलता है, वह सपत्ति नही है। यह कितना अनर्थकारी सिद्धान्त था, यह समझाने की आवश्यकता नही है। रूसो और टॉल्स्टॉय ने इसका काफी मजाक उडाया है। उन्होने कहा कि यह खूब कहा! हवा के बदले में कुछ नही मिलता, तो हवा का कोई मूल्य नही है? पानी अगर मुफ्त मिल जाय, तो उसका कोई मूल्य ही नही है? एक लेखक ने यहाँ तक लिखा है कि अब ब्रैण्डी की बोतल बाइबिल से महँगी मिलती है, इसलिए उसका मूल्य बडा हो गया! जिसकी कोई कीमत नही लगती, उसका कोई मूल्य नही, जिसके बदले मे कुछ मिलता है, उसीका मूल्य है, यह विनिमय का सिद्धान्त बहुत गलत सिद्धान्त माना गया। हर वस्तु या तो विक्री के लिए बनेगी या विनिमय के लिए बनेगी। अर्थात् विनिमय के लिए उत्पादन और विक्रय के लिए उत्पादन, यही इसका परिणाम निकला।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त

मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त निकाला। उसने पुराने अविमानित अर्थशास्त्रीय (क्लासिकल) श्रममूल्य के सिद्धान्त को मान लिया। लेकिन उस रूप में नही, जिस रूप में अधिमानित अर्थशास्त्री मानते थे। उस रूप मे वह मान भी नही सकता था, क्योंकि वह तो क्रान्तिकारी था। क्रान्ति के लिए उसने पुराने अर्थशास्त्रियो का श्रम ही मूल्य है, यह सिद्धान्त मान लिया। लेकिन उसने कहा कि श्रम का जो मूल्य है, उसका आज तक बदला नही मिलता है। श्रम मैं करूँ, लेकिन मेरी गुलामी मे मुझे जिन्दा रखने के लिए जितना बदला मिलने की जरूरत है, सिर्फ उतना ही बदला मुझे मिलता है।

शोषण कैसे होता है ?

किसान है, उसका बैल है। बैल किराये की गाडी मे चलता है। उसे तीन रुपये रोज किराया मिलता है। तीन रुपये रोज में से ढाई रुपये रोज की कम-से-कम मेहनत है। पर बैल को जिन्दा रखने के लिए जितना जरूरी है, उतना ही सिर्फ खिलाता है ! निर्वाह के लिए जितना आवश्यक है, उतना ही बैल को देता है और बैल की मेहनत का बचा हुआ सारा फल किसान ले लेता है। यह 'शोषण' कहलाता है।

कई शास्त्र में 'शोषण' इसे कहते है। अर्थशास्त्र में मार्क्स ने 'शोषण' नाम से जिसकी तरफ अगुलि-निर्देश किया, वह शोषण यही है कि एक आदमी की मेहनत का पूरा बदला उसको नही मिलता। इसका परिणाम होता है—१०० में से ९० आदमियों के लिए काम ही काम और १०० में से १० आदमियो के लिए आराम ही आराम ! फलत एक ऐसा समाज बनता है, जिसमें १०० मे से ९० आदमियो के लिए काम, एक विवशता, एक आवश्यकता हो जाती है और १०आदमियो के लिए आराम एकाधिकार हो जाता है। वे आरामतलब होते है, आराम पर ही जीनेवाले होते है, आराम-जीवी होते हैं, विश्राम-जीवी होते है और बाकी लोग श्रम-जीवी होते हैं। श्रमजीवी और विश्राम-जीवी, दो वर्ग बन जाते है। १०० में से १० विश्राम-जीवी, १०० में से ९० श्रम-जीवी—इस प्रकार इन दोनो के वर्ग हो जाते हैं। यह अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त मार्क्स का सिद्धान्त कहलाता है।

हराम की कमाई

मार्क्स के अर्थशास्त्र ने हमें यहाँ तक पहुँचाया। यह बहुत बडा क्रान्तिकारी सिद्धान्त था। उससे पूछा गया कि "क्या इसका मतलब तुम यो करते हो कि मनुष्य जो कुछ कमाता है, उस पर उसका अधिकार नही ?" मार्क्स ने जवाब दिया, "ऐसा मैं कहाँ कहता हूँ ? मै तो यह कहता हूँ कि बगैर मेहनत की जो कमाई है, उस पर मनुष्य का अधिकार नही"—अर्थात् हलाल की कमाई पर मनुष्य का अधिकार है, हराम की कमाई पर नही। हराम की कमाई से मतलब है वह कमाई, जो मनुष्य को अपनी मेहनत से नही मिलती है, दूसरो की मेहनत से मिलती है। मार्क्स की परिभाषा में यह 'अनर्जित सम्पत्ति' कहलाती है। इस पर मनुष्य का अधिकार नही है।

कम्युनिस्ट घोषणापत्र में कहा गया है कि "अपनी मेहनत से मनुष्य जो कमाता है, उस पर उसका अधिकार है और उसी पर उसका अधिकार होना चाहिए।" उसमे यह भी कहा गया है कि "हम सारी सम्पत्ति का निराकरण करना चाहते हैं, ऐसा कोई न समझे। हम केवल उस सम्पत्ति का निराकरण चाहते है, जो मनुष्य ने अपने परिश्रम

से प्राप्त नही की है। उस सम्पत्ति का निराकरण हम नही चाहते, जो मनुष्य को अपनी मेहनत से, अपने परिश्रम से प्राप्त हुई है।"

जितनी ताकत, उतना काम

हमे इससे भी आगे बढना होगा, क्योकि समाजवाद का एक दूसरा भी सिद्धान्त है। वह यह कि 'परिश्रम तो उतना करूँ, जितनी मुझमे क्षमता है, और परिश्रम का प्रतिमूल्य उतना ही लूं, जितनी मेरी आवश्यकता है।' आसान शब्दो में, **'जितनी ताकत उतना काम, जितनी जरूरत उतना दाम।'** यह समाजवाद का एक बहुत बडा सूत्र है, जिसे मैं **'क्रान्तिकारी अर्थनीति'** कहता हूँ। 'मुझमें जितनी क्षमता और योग्यता है, उतना काम मै करूँ, और जितनी मेरी आवश्यकता है, उतना ही मै उसका प्रतिमूल्य लूँ।' अब आप यदि यह कहते है, 'जो मेरी मेहनत की कमाई है, उस पर मेरा हक है' तो फिर 'जितनी मेरी क्षमता है, उतना काम मैं करूँ और जितनी मेरी आवश्यकता है, उतना ही मै प्रतिमूल्य लूं', इससे यह सिद्धान्त ठीक-ठीक मेल नही खाता। इसमे से समाजवादी रचना की अन्तर्विरोधी समस्याएँ पैदा हुई।

प्रतिद्वन्द्विता का हल

सबसे पहली समस्या यह पैदा हुई कि 'जितनी जरूरत है, यदि तुम उतने ही दाम दोगे, तो मै जितनी जरूरत है, उतना ही काम करूँगा। जितनी शक्ति और क्षमता है, उतना काम मैं क्यो करूँ?' प्रेरणा का सवाल उठा। रूस में भी आर्थिक प्रयोग हुए और चीन मे भी। उनमे से एक बात निकली कि प्रतिद्वद्विता नही होनी चाहिए। होड बुरी चीज है। हरएक को काम के मुताबिक ही दाम दिया जाय, तो बडी प्रतियोगिता होगी, बडी मुश्किल होगी। यह सब नहीं होना चाहिए। जब यह सवाल आया, तो रास्ता खोजा गया। मै उसे समझौता कहता हूँ। समझौता और चीज है, समन्वय बिलकुल और चीज है। समन्वय का मतलब समझौता नही है। समझौता दो विरोधी विचारो में होता है। मैंने कुछ छोड दिया, आपने कुछ छोड दिया। अक्सर कुछ आवश्यक भाग मै छोड देता हूँ, कुछ आवश्यक भाग आप छोड देते है। दोनो के आनावश्यक भाग मिल जाते है, लोग इसे 'समझौता' कहते हैं।

समाजवादी परिस्पर्धा

हमारी परिस्थिति कैसी है और परिस्थिति में कितना कदम हम उठा सकते है, यह सवाल रूस के सामने आया। स्टालिन ने इसमे से एक दूसरी बात निकाली। उसने कहा कि हम प्रतियोगिता छोड दें। हमारे यहाँ प्रतियोगिता नही, प्रतिस्पर्धा नही, समाजवादी परिस्पर्धा होगी। प्रतिस्पर्धा मे क्या होता है? मै नारायण को अपने

से आगे नही जाने देना चाहता हूँ। नारायण आगे जाता है, तो उसकी टाँग तोड सकूँ तो अच्छा ही है, न तोड सकूँ तो ऐसा उपाय काम में लाना चाहता हूँ कि जिसमें मैं आगे बढूं, और नारायण पीछे रह जाय। यह होड, प्रतिस्पर्धा, प्रतियोगिता कहलाती है। यह पूंजीवाद का सिद्धान्त है। परिस्पर्धा क्या है? मैं, नारायण और प्रबोध, इन तीनो मे प्रबोध सबसे सुन्दर अक्षर लिखता है तो मैं और नारायण, दोनो प्रबोध की बराबरी करने की कोशिश करते हैं। जो उत्कृष्ट है, सबसे अच्छा है, उसकी बराबरी करने की कोशिश बाकी सब करें, यह समाजवादी परिस्पर्धा कहलाती है। तो रूस ने परिस्पर्धा का सिद्धान्त मजूर किया। इसका प्रतिनिधि 'स्टेकेनाव' हुआ। लेकिन उसमें से सिद्धान्त क्या निकला? वही सिद्धान्त निकला, जिसका डर था। दाम के लिए काम करने की जो गुलामी थी, वह तो गयी, लेकिन उसकी जगह आया, 'जैसा और जितना काम, वैसा और उतना दाम'। काम के मुताबिक दाम। यह बीच की परिस्थिति आयी। रूस और चीन में भी आज जो प्रयोग हो रहे हैं, वे इसी सिद्धान्त को लेकर हो रहे हैं।

अब सवाल है कि इससे आगे हम समाजवादी प्रेरणा की ओर कैसे कदम बढायें?

अगला कदम : श्रम हमारा कर्तव्य

पूजीवाद में क्या था?—कम-से-कम काम, ज्यादा-से-ज्यादा दाम। इससे तो वे आगे चले गये। जितनी ताकत उतना काम, जितनी जरूरत उतना दाम—यह हुआ समाजवाद का सिद्धान्त। उसे वे समाजवाद मे अभी विशेष चरितार्थ नही कर सके। इसलिए समाजवाद के आदर्श एक कदम पीछे, पूजीवाद की पद्धति से दो कदम आगे, ऐसे मुकाम पर आकर वे लोग पहुँचे हैं। इसका मुख्य कारण यह था कि उस सिद्धान्त में थोडी-सी त्रुटि रह गयी थी। उन्होंने सिद्धान्त माना कि श्रम तो मूल्य है और अतिरिक्त श्रम का मूल्य जो ले लेता है, वह 'शोषण' करता है। इसलिए शोषण के निराकरण के लिए श्रम के अतिरिक्त मूल्य का परिहरण होना चाहिए। वह किसीको नही मिलना चाहिए, उसका निराकरण होना चाहिए। लेकिन क्या श्रम ऐसा मूल्य रहेगा कि जिसका प्रतिमूल्य उस व्यक्ति को मिलना चाहिए? अपनी मेहनत की कमाई पर भी क्या मनुष्य का हक होगा? यहाँ हमारा सुझाव यह है कि श्रम भी प्रतिमूल्य के लिए नहीं होगा। श्रम हमारा कर्तव्य होगा और श्रम का फल सारे समाज का होगा। गाधी ने इसे 'शरीर-श्रम का व्रत' कहा। फ्रेंच सोशलिस्ट सेण्ट साइमन ने कहा कि हमारा परिश्रम ही हमारा चारित्र्य होगा, हमारा परिश्रम ही हमारा गुण होगा। भगवद्गीता के शब्दो में हरएक का विशिष्ट धर्म ही हरएक का स्वधर्म होगा।

हमें देखना है कि उत्पादक परिश्रम सामाजिक मूल्य कब बनेगा? जब परिश्रम मेरा व्रत होगा और परिश्रम के फल पर मेरा अधिकार नहीं होगा, यानी उत्पादक का भी

अधिकार नही होगा, उस पर सारे समाज का अधिकार होगा। यानी यदि हम श्रम के मूल्य में एक कदम आगे बढाते है, तो समाजवाद का वह जो आदर्श था कि जितनी क्षमता होगी, उतना तो मैं काम करूँगा और जितनी आवश्यकता होगी, उतना दाम लूँगा—उसमें और श्रम-मूल्य के सिद्धान्त मे जो एक विरोध-सा मालूम होता है, उसका हम समाज मे से निराकरण कर सकेंगे।

निष्कर्ष

मार्क्स ने हमें क्या सिखाया ? उसने समाज को कौन-सी ऐसी बात दी, जिसे हम 'क्रान्तिकारी' कह सकते हैं ? उसने हमें सबसे पहली बात यह दी कि गरीबी और अमीरी भगवान् की बनायी हुई नही है। गरीबी और अमीरी धर्म नही हो सकता और अगर वह धर्म है, तो उस धर्म को भी हमें नशा मान लेना चाहिए। उस धर्म को हमें गलत मान लेना चाहिए। गरीबी और अमीरी जिस विकास-क्रम मे आ गयी, उसी विकास-क्रम में सृष्टि के नियमो के अनुसार और ऐतिहासिक घटनाक्रम के अनुसार उनका निराकरण होनेवाला है और गरीबो के पुरुषार्थ से होनेवाला है। यह एक बहुत बड़ा आशापूर्ण सदेश मार्क्स ने हमें दिया। इस गरीबी और अमीरी के निराकरण के लिए एक नये क्रान्तिकारी अर्थशास्त्र का भी उसने उपक्रम किया। मार्क्स ने हमारे सामने इस नये क्रान्तिकारी अर्थशास्त्र के दो पहलू रखे। एक तो यह कि मनुष्य की जीविका के साथ उसके जीवन मे भी बहुत बडा परिवर्तन होता चला जाता है। लोगो ने यह मान लिया है कि केवल जीविका से ही परिवर्तन होता है। यह मार्क्स का पूरा कहना नही है। लेकिन यह सबने माना है कि मनुष्य की जैसी जीविका होती है, वैसे ही उसके सस्कार बनते हैं और वैसा ही उसका जीवन बनता है। इसलिए जीविका के उपार्जन की पद्धति में जब परिवर्तन होता है, तब क्रान्ति होती है। जीविका के उपार्जन की पद्धति में जो परिवर्तन होता है, वह परिवर्तन मनुष्य करेगा। लेकिन, 'पूँजीवाद में से वह परिवर्तन किन सिद्धान्तो को लेकर होगा ?' तो उसने यह कहा कि केवल प्रतिमूल्य के लिए जो सपत्ति होती है, उसे सपत्ति मानना गलत है। श्रम ही मनुष्य की सपत्ति है, क्योकि श्रम से संपत्ति का निर्माण होता है। श्रम यदि सपत्ति है, तो श्रम का प्रतिमूल्य मनुष्य को मिलना चाहिए। जो श्रम करता है, उसे उसका प्रतिमूल्य मिलना चाहिए। लेकिन आज क्या होता है ? श्रम एक करता है और श्रम का पूरा-पूरा प्रतिमूल्य उसको नही मिलता। 'अतिरिक्त मूल्य' उसमें से निकलता है और जो अतिरिक्त मूल्य है, वह मालिक ले जाता है, इसलिए 'शोषण' होता है। इस शोषण के निराकरण के लिए इस अतिरिक्त मूल्य को मालिक के कब्जे में, मालिक की जेब में, नही जाने देना चाहिए। इस प्रकार की क्रान्ति हमे करनी होगी। यह विचार मार्क्स ने हमें दिया।

मार्क्स के और समाजवाद के विचार में एक बात यह भी थी कि जितनी ताकत हो, उतना काम करो और जितनी जरूरत हो, उतना दाम लो। जरूरत के अनुसार ही दाम यदि मुझे लेने हैं, तो मेरी मेहनत का पूरा प्रतिमूल्य मुझे मिलना चाहिए। हम इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं कर सकते। तब क्या सिद्धान्त होगा? मेहनत मेरा व्रत होगा, मेरा कर्तव्य होगा और मेहनत के प्रतिमूल्य का समाजीकरण हो जायगा। अब कोई उसे राष्ट्रीयकरण कहेगा, कोई उसे समाजीकरण कहेगा। आप उसे चाहे जो नाम दें, विनोबा जैसा मनुष्य कहेगा कि 'संपति सब रघुपति कै आही।' हमारी मेहनत का जो कुछ फल होगा, वह भगवान् का समझा जाय, वह रघुपति का समझा जाय—मेहनत करनेवाले का भी न समझा जाय। इसे गांधी ने 'उत्पादक शरीर-श्रम का व्रत' कहा है।*

●

---

* विचार-शिविर, २३-८-'५५ का सायं-प्रवचन।

सर्वोदय और साम्यवाद : ७ :

आप सब लोग मेरे साथ यह अनुभव करते होंगे कि दिनकर भाई यहाँ आये, यह हमारे लिए बहुत अच्छी बात हुई। बौद्धिक औदार्य हम सर्वोदय के विचारको में बहुत कम है। आप यह न समझें कि दादा धर्माधिकारी को मै उनसे अलग कर रहा हूँ। सर्वोदय के सिद्धान्त में, सर्वोदय के विचार मे, बौद्धिक प्रामाणिकता का यह सबसे बडा लक्षण है कि जितनी निष्ठा बढती जाय, उतना आग्रह कम होता चला जाय। विचार-पद्धति की भी एक आसक्ति होती है। वह कम होती चली जाती है, सत्य की निष्ठा बढती चली जाती है। लोगो ने यह मान लिया था कि अब दुनिया में यही दो प्रतिमल्ल रह गये है—एक साम्यवादी और दूसरे गाधी के ये सत्याग्रहवादी लोग। इनमें से किसी एक ने दूसरे को परास्त कर दिया, तो बाकी के तो सब पहले से ही परास्त हो चुके हैं।

यहाँ हम सह-विचार के लिए आये है, कुश्ती के लिए नही। इस दृष्टि से मै उनका बहुत उपकार मानता हूँ।

साम्यवाद का प्रश्न

दिनकर भाई ने यहाँ तक हमें पहुँचाया है कि बगैर कशमकश के यदि परिवर्तन हो जाय, तो इससे अच्छी चीज और कोई हो नही सकती। अगर मिश्री से हमारी खाँसी मिट जाती है, तो फिटकरी की जरूरत नही है। फिटकरी हमें खानी पड़ेगी या नही, यह हमारी और उनकी निर्णय-शक्ति का और निरीक्षण-शक्ति का भेद है। इसका निर्णय किसी प्रयोगशाला में नही हो सकता। इसकी एक ही प्रयोगशाला है—क्राति की प्रक्रिया और सामाजिक जीवन। वही पर इसका निर्णय होगा। पूंजीवाद ने रक्त चूस लिया और जो मानवता के छूंछ फेंक दिये है, वही आज हमारा साधन है, वही सामग्री है। लेकिन नयी क्रान्ति के लिए नये मानवो का निर्माण कैसे हो? जैसे आम आप पाल में पका लेते है, वैसे आदमी नही पकाये जा सकते। उन्हे क्रान्ति के ही क्षेत्र मे आना होता है, वहाँ प्रयोग करने होते है, उसीमे से मनुष्य तैयार होते है। यहाँ तक हमें लाकर दिनकर भाई ने इतना कहा कि अगर यह हो सकता है, तो वाञ्छनीय है, इष्ट है। लेकिन तुम कहो कि हिंसा निषिद्ध है, तो उतना हम मानने को तैयार नही। कम-से-कम तुम उसे 'आपद्धर्म' के रूप में तो मानो। जैसे, सर्जन मुझसे कहता है कि "दादा, इस वक्त तू अगर उँगली कटवा लेता है, तो तेरा पैर बचता है, इस वक्त

तू उँगली अगर नही कटवायेगा, तो आगे पैर ही काटना पड़ेगा और फिर शरीर ही काट लेना पडेगा। इसलिए उँगली काटने का मौका तो आज है या फिर कभी नही है। तो अब बता, नश्तर लगाऊँ या न लगाऊँ ?" हमारे सामने साम्यवाद का यह सवाल है। इस सवाल का जवाब दलील से नही दिया जा सकता, शास्त्रार्थ से नही दिया जा सकता, प्रयोग से ही दिया जा सकता है।

क्रान्ति की प्रक्रिया कैसी हो ?

क्रान्ति कृत्रिम रूप से नही हो सकती। वह किसी पर लादी नही जा सकती। मार्क्स ने हमें एक बात सिखा दी कि जिसका स्वार्थ क्रान्ति के अनुकूल होता है, उसका सगठन यदि कर लो, तो क्रान्ति की प्रक्रिया स्वाभाविक और सुलभ हो जाती है। जो गरीब है, जो श्रम-जीवी है, उन्हे गरीबी का निराकरण करना है। इसलिए उनका सगठन कर लो। इसमे मैंने एक ही बात जोडी थी कि गरीब के पुरुषार्थ की प्रेरणा में, उसकी चेतना मे, क्रान्तिकारी तत्त्वो का भी समावेश हम कर सके। क्रान्ति की प्रक्रिया में ही ऐसी योजना होनी चाहिए कि जो क्रातिकारी हो, उसकी चेतना मे क्रान्ति के मूल्यों की प्रेरणा हो। क्रातिकारी पक्ष का तो हृदय-परिवर्तन पहले से होना चाहिए। लेनिन का ही हृदय-परिवर्तन न हुआ होता, तो क्या वह क्राति करता ? क्रातिकारी का अपना हृदय-परिवर्तन और मत-परिवर्तन हो ही जाता है। जिसका हृदय-परिवर्तन और मत-परिवर्तन हो चुका है, वह 'क्रातिकारी पक्ष' कहलाता है। अब मेरा कहना यही है कि जिस जनता के लिए और जिस साधारण नागरिक की तरफ से हम क्राति करते हैं, क्राति की प्रक्रिया में ही कोई ऐसी योजना हो कि उस साधारण नागरिक का हृदय-परिवर्तन भी साथ-साथ होता चला जाय। पुरुषार्थ की इस प्रेरणा के साथ-साथ ही उसमे यह नवचेतना भी आती चली जाय।

अहिंसा और विवशता

दिनकर भाई ने कहा कि विवशता में से यदि आप अहिंसा का रास्ता लेंगे, तो वह पहले से ही दूषित हो गया। बात तो ठीक है। शस्त्र होते तो ? उत्तम पक्ष शस्त्र माना जाता। नही है, इसलिए नि शस्त्र प्रतिकार। तो यह आपकी अहिंसा ही गौण हो गयी। आपका सत्याग्रह ही गौण हो गया। वे कहते हैं कि प्रतिपक्षी के पास शस्त्रास्त्र हैं, सेना है, जनता के पास नही है, इसलिए हम विवश हैं। और, जो विवश हैं, कमजोर हैं, उनका हथियार यदि अहिंसा बन जाय, तो अहिंसा में आगे चलकर कभी भी कोई शक्ति नही आ सकती। गाधी जिसे कमजोरो की अहिंसा कहा करता था, उसमें क्राति-कारी शक्ति नही आ सकती। मैं दिनकर भाई की बात अपनी भाषा में रख रहा हूँ।

इसका निराकरण मैंने यह रखा कि मनुष्य की जो विवशता होती है, उस विवशता को वह जब अवसर में बदल देता है, तब उसमें क्रान्ति की चेतना आती है।

हिंसा का समर्थन कोई नहीं करता

जो लोग शस्त्र को निषिद्ध नही मानते, सशस्त्र क्राति को जिन्होंने निषिद्ध नही माना है, ऐसे लोगो ने एक परिस्थिति मे शस्त्र को या हिंसा को अनिवार्य भले ही मान लिया हो, लेकिन आज की दुनिया में शस्त्र को और हिंसा को वाछनीय तो कोई भी नही मानता। वे कहते हैं कि हिंसा कभी-कभी आवश्यक हो जाती है, भले ही वह अपने में अनिष्ट हो। अहिंसा से काम यदि हो सके, तो इष्ट है, वाछनीय है, नहीं हो सकता, तो हम यह नही करेंगे कि हम अपना उद्देश्य ही छोड दे और चुप बैठे रहें तथा समय चूक जायें। मैं समझता हूँ कि हमको ऐसे लोगो से विवाद करने की कोई आवश्यकता नहीं है। दुनिया मे हिंसावादी कोई नही होता। जो हिंसा से काम लेता है, वह अपने काम के लिए हिंसा की आवश्यकता मानता है और यह भी मानता है कि वह कम-से-कम हिंसा करेगा। जहाँ-जहाँ मनुष्य ने हिंसा की है—मैं सिर्फ साम्यवादियो, समाजवादियो की बात नही करता—अत्याचारी-से-अत्याचारी मनुष्य भी हिंसा का समर्थन इसी आधार पर किया करता है कि परिस्थिति में जितनी कम-से-कम हिंसा मैं कर सका, उतनी मैंने की है। यानी इस सिद्धान्त को वह मानता है कि हिंसा कम-से-कम करनी चाहिए। इससे क्या सिद्धान्त निकला? यही कि हिंसा के विना काम कर सकूँ, तो उत्तम है; पर यदि हिंसा करनी ही पडे, तो कम-से-कम करूँगा। अर्थात् जहाँ तक हो सके, हिंसा से हमको बचना है। इसलिए मैंने कहा कि ऐसी हालत मे क्राति की यदि हम कोई ऐसी प्रक्रिया खोज सकें कि जो शस्त्र-निरपेक्ष हो सके, तो वह अधिक वांछनीय, अधिक शास्त्रीय और आज की परिस्थिति मे अधिक अनुकूल प्रक्रिया होगी।

विवशता अवसर में बदलें

मानव-प्रकृति के अनुकूल, अपने सामाजिक आदर्शों के अनुकूल और आज की सामाजिक आकाक्षा के अनुकूल हम निःशस्त्रीकरण चाहते हैं। दुनिया से शस्त्र की सत्ता का अंत हम कर देना चाहते हैं, इसलिए हम विवशता को अवसर में परिणत कर देना चाहते हैं। गांधी ने यह बात इस देश मे करने की कोशिश की। चाहे बौद्धिक भय हो, चाहे वैचारिक भय हो, चाहे भावनात्मक भय हो, भय जहाँ पर आता है, वहाँ किसी प्रकार की अहिंसा नही रह सकती। सद्विचार तो वहाँ बिलकुल नहीं रह सकता। शारीरिक भय सस्कार से आता है। धम्म से अगर यहाँ बंदूक बज जाय और गोली चले, तो हम सब अपने-आप सिहर जायेंगे, मन से चाहे भले ही डरे न हों। इतना भय तो

मानने को मै भी तैयार हूँ। लेकिन यदि हमारी बुद्धि में अपने और दूसरे के विचार के बारे में कही भय छिपा हो, तो वह हमारी सारी क्राति की प्रक्रिया को ही दूषित कर देगा। गाधी ने क्या किया? देश का नि शस्त्रीकरण हो गया था। हमारे हाथो में हथियार नही थे। सशस्त्र क्रातिवादियो ने कहा कि वगैर हथियारो के क्राति नही हो सकती। अग्रेजी फौज में वगावत भी नही हो सकती। अत सशस्त्र क्राति की सारी चेष्टाएँ आतकवाद मे खो गयी। किसी भी क्राति में, कम्युनिस्ट क्राति में भी, आतकवाद क्रातिकारी नही माना गया है। वैज्ञानिक क्राति की प्रक्रिया मे आतकवाद का कोई स्थान नही होता। हमारे यहाँ के जो सशस्त्र क्रातिकारी थे, वे तो आतकवादी वन गये और वे दूसरे दरवारी क्रातिकारी माने गये, जो विधानवादी थे। 'समझाओ और मधुर युक्तिवाद करो', यह विधानवादियो का सिद्धान्त था। ऐसे वक्त, जनता को जव विवशता का अनुभव हो रहा था, गाधी आया और उसने कहा, "मेरी वात मानोगे?" अव लोग क्या करे? दूसरा कोई रास्ता ही नही था। कहा, "मानने को तैयार है।"

"अहिंसक वनोगे?"

अहिंसा के भी हमने मानो खाने वना लिये थे। जव हम मछलियाँ चुगाते है, तव अहिंसा के खाने में चले जाते है। लेकिन अहिंसावादी होते हुए भी आदमियो का वाजार में वैठकर शोपण करते है, तो वाणिज्य के खाने में चले जाते है। गोल्डस्मिथ ने गाया था—ईमान वहाँ पर खतम हो जाता है, जहाँ व्यापार वहुत दिनो तक फैलता है।

हम लोगो को यह आदत थी। गाधी से कहा कि तुम स्वराज्य की लड़ाई की हद तक हमसे अगर 'अहिंसा' कराना चाहते हो, तो ठीक है। अग्रेजो के लिए अहिंसा हम मानते है। इतनी अहिंसा का स्वीकार हमने गाधी के जमाने में किया।

हमें जितनी अहिंसा मधी, उतनी सफलता मिली। अग्रेजो को हमने अहिंसा से ही जीता, यह दावा किसीका नही है। कोई कहता है, जागतिक परिस्थिति पैदा हुई, ऐतिहासिक घटना-चक्र इस तरह से आया। यह मव हम मान लेते है। लेकिन जितना कुछ अहिंसा का अश हमारे जीवन में आ सका, उतनी ही सफलता मिली, उससे अधिक नहीं।

निर्भयता की युक्ति

गाधी ने हमसे कहा कि भाई, तुम्हारे पास हथियार तो है नही, और तुम यह कहते हो कि अग्रेजो की फौज मे भी हम वगावत नही करा सकते, असल मे फौज तो अग्रेजो की है नही, फौज तो हमारी है। भारतवासियो की फौज, भारतवासियो का पैसा, भारतवासियो के हथियार और भारतवासियो की ही गरदन—यह अग्रेजो का हिसाव

था। हाथ भी हमारे, हथियार भी हमारे और कटनेवाली गरदन भी हमारी, हथियार खरीदनेवाले पैसे भी हमारे ! इससे अधिक सस्ता राज दुनिया मे होगा कहाँ ? फिर भी उस सेना मे हम बगावत कर सकते है, ऐसा नही पाया गया, तो मेरे पास एक युक्ति है। **जिसके हाथ में हथियार नहीं है, वह अगर हथियार से डरना छोड़ दे, तो हथियार बेकार हो जाते है।** हथियारो का प्रतिकार करने के लिए दो ही उपाय हैं—एक आकारात्मक और दूसरा गुणात्मक। एक तो हमारे पास जो हथियार हो, वे गुण मे और परिणाम मे श्रेष्ठ हो या फिर हमारे पास जो शक्ति हो, वह गुण में अधिक हो, श्रेष्ठ हो। जो शक्ति हमारे पास हो, वह प्रतिपक्षी की शक्ति से श्रेष्ठ हो या फिर प्रतिपक्षी की शक्ति को ही हम अपनी शक्ति बना सके। जनता के पास सरकार से ज्यादा और अच्छे हथियार होगे, यह तो हो नही सकता। तो फिर सरकार के जो हथियार है और सरकार की जो फौज है, वही जनता की फौज है, इसलिए उसे अपनी तरफ मिला लो। यह प्रक्रिया 'सशस्त्र क्राति की 'प्रक्रिया' कहलाती है। गाधी ने कहा कि आखिर इसका मतलब तो यह हुआ कि भरोसा हमारा हथियार की शक्ति पर रहा। हथियार की शक्ति का प्रतिकार करने की कोई हथियार से श्रेयस्कर शक्ति हमारे पास नही आयी। इसका मतलब होगा कि शस्त्र-शक्ति का कोई नैतिक पर्याय हम नही खोज सके और उसका प्रयोग अपने जीवन में नही कर सके। प्रश्न है कि फिर हम आरभ कहाँ से करे ?

आरम्भ कैसे करें ?

गाधी ने कहा कि शस्त्र से डरना छोड देने से इसका आरभ होगा। जिसके हाथ मे शस्त्र नही है और जो शस्त्र से नही डरता, उसकी सिर्फ जान ही ली जा सकती है और जान तो चाकू से भी ली जा सकती है। फिर उसके लिए मशीनगन की क्या जरूरत है ? जब नि:शस्त्र व्यक्ति कहता है कि तू मेरी जान ले ले, तो वह जान लेने से घबराता है ! इसलिए हमारे बहुजन-समाज की एक बहुत बडी शक्ति यह हो सकती है कि वह हथियारो का भय छोड दे।

हथियारबद आदमियो के सामने हथियार काम करता है ! निहत्थे आदमी के मन में हथियार होगा, तब तक दूसरे का हथियार तो काम करने ही वाला है। क्योकि मेरे मन मे ऐसा लगा रहता है कि क्या करूँ, मेरे हाथ मे हथियार नही है, होता तो मैं भी मजा चखा देता ! तू मुझे मार रहा है और मैं मार खा रहा हूँ, इसमें मेरी बहादुरी तो है, लेकिन मेरे हाथ मे भी ऐसी लाठी होती, तो मजा चखाता ! मन में ऐसा भाव होता है, तो उसी मात्रा में अहिंसा कमजोर पड जाती है। गाधी ने विचार मे अहिंसा की बात कही थी। मतलब यही है कि विचारपूर्वक हमने उस साधन का स्वीकार

किया हो। यह हमारा इस वक्त सबसे अच्छा उपलब्ध साधन है, इसका स्वीकार हमने विचारपूर्वक कर लिया हो। इसमें ऋषियों-मुनियों की कोई बात नही है। कोई भी आदमी इसे कर सकता है। शर्त इतनी ही है कि वह बहादुर हो। यह मन का धर्म है। जिसके चित्त में जितनी शक्ति होगी, उतना वह स्वीकार करेगा।

गांधी की प्रक्रिया का विनोबा द्वारा प्रयोग

गाधी ने एक क्षेत्र में यह प्रक्रिया बतलायी, दूसरे क्षेत्र में इसी प्रक्रिया का प्रयोग विनोबा कर रहे हैं। वे कहते हैं कि हमे सपत्ति का निराकरण करना है, वर्ग का निराकरण करना है। वर्ग और सपत्ति का अधिष्ठान क्या है, इसका आधार क्या है? स्वामित्व की भावना और अपनी सपत्ति रखने की भावना। मैं अपनी सपत्ति रखूंगा और अपना स्वामित्व रखूंगा। तेरे पास सपत्ति नही, तेरे पास स्वामित्व नही। जिनके पास स्वामित्व है और जिनके पास सपत्ति है, उनकी सत्ता है। मार्क्स ने कहा है कि राज्य उन लोगो का उपकरण हो जाता है, जिनके हाथ मे मालकियत होती है। मालिक और सत्ताधारी, ये दोनो परस्पर पोषक और सहायक बन जाते हैं। यही पूंजीवादी सदर्भ कहलाता है। पूंजीवाद के सदर्भ मे जो सत्ताधारी पक्ष होता है, उसका हम बहुत अधिक उपयोग नही कर सकते। इसलिए विनोबा ने कहा कि क्राति आज तो सत्ता-निरपेक्ष ही हो सकती है। सत्ता-निरपेक्ष का अर्थ लोगो ने बहुत कुछ दूसरा कर लिया था। शासन-मुक्त को सत्ता-निरपेक्ष से एकदम जोड दिया था। सत्ता-निरपेक्ष के दो अर्थ हैं। एक तो यह कि हमे शासन-मुक्त समाज की ओर जाना है, इसलिए विधायक नागरिक-शक्ति और नागरिक-चारित्र्य का विकास करना है। दूसरा यह कि आज के सदर्भ मे सत्ता का उपयोग भी शान्ति के लिए यदि करना हो, तो वह जनशक्ति के अधिष्ठान के बिना नही हो सकता। अत. उसके लिए जनशक्ति का विकास करना होगा। गाधी ने विवशता को अवसर मे बदल दिया। कहा कि "अपनी नि शस्त्रता को तुम अहिंसक वीरता मे बदल देते हो, तो तुम्हारी विवशता मे से शक्ति पैदा होती है।" विनोबा कहता है कि हम दरिद्रता को ही अगर अपरिग्रह की मनोवृत्ति में बदल देते है, तो आज जो हमारी 'विवशता' है, वह हमारा 'अवसर' बन जाती है।

अमीरों का हृदय-परिवर्तन

लोग कहते हैं कि अमीरो का हृदय-परिवर्तन जल्दी नही होगा, तो विनोबा कहते हैं कि अमीरो के हृदय-परिवर्तन का ठीका मुझ पर छोड दीजिये। बहुसख्य गरीब हैं, जो गरीबी का निराकरण करना चाहते हैं। उनका, अगर सौ मे से नव्वे का, हृदय-परिवर्तन हो जाता है, उनमें से सम्पत्ति और स्वामित्व की भावना का निराकरण हो

जाता है, तो सौ में से दस की सपत्ति और स्वामित्व की भावना मे यह शक्ति नही रह जाती कि वह समाज मे ठहर सके। अमीरो का हृदय-परिवर्तन करने के लिए, उनमें सपत्ति और स्वामित्व की तरफ से एक नया रुख पैदा करने का प्रयास करना होगा। उनका तो एक सस्कार बन गया है। इसलिए वैसी परिस्थिति बनानी पडेगी। उन पर जो दवाव आयेगा, वह जिसे आप मामूली अर्थ में 'दवाव' कहते हैं, वैसा नही होगा। परिस्थिति में जव परिवर्तन होता है और उस परिस्थिति के अभिमुख मनुष्य को होना पडता है, मैं उसे 'समयज्ञता' कहा करता हूँ, 'दवाव' नही।

पूँजीवादियों की भूमिका

हैरी पालिट कम्युनिस्ट पार्टी का एक अध्वर्यु रहा है। पिछले महायुद्ध के समय इसने एक किताब लिखी, 'हाऊ टु विन द पीस' (शान्ति कैसे जीते ?)। उसमे पूंजीवादियो की भूमिका का सवाल आता है। उस वक्त रूस और इग्लैण्ड एक ही पक्ष मे लड रहे थे। इग्लैण्ड के जितने पूंजीवादी थे, वे भी रूस की विजय चाहते थे और हिटलर की पराजय चाहते थे। तो इनकी भूमिका प्रगतिशील हो गयी। पालिट ने उस वक्त लिखा कि अब वह जमाना आ रहा है कि जव इग्लैण्ड जैसे देश के पूंजीपति भी अपना हित इसमें समझेंगे कि पूंजीवाद का निराकरण होना चाहिए। उनका स्वार्थ क्राति के विलकुल अनुकूल तो नही होगा, लेकिन अप्रतिकूल वन जायगा, क्योकि वर्ग-रचना वदल रही है। वर्ग-रचना की जो कल्पना मार्क्स ने की थी, उसके वाद वर्गों का नक्शा धीरे-धीरे वदलता रहा है। उस नक्शे के मुताविक अव वह जमाना आ रहा है कि आज तक जिनका स्वार्थ क्राति के प्रतिकूल था, उनमें से वहुतो का स्वार्थ क्राति के अप्रतिकूल हो जायगा। यानी अमेरिका और रूस का सह-अवस्थान हो सकेगा, सह-अस्तित्व रह सकेगा।

भूदान की प्रक्रिया का वास्तविक अर्थ

इसलिए विनोवा कहते हैं कि जिस तरह से अग्रेजो को मालूम हो गया कि उनका साम्राज्य अधिक दिन रहनेवाला नही है, राजाओ को जैसे मालूम हो गया कि हमारी ये रियासतें ज्यादा दिन रहनेवाली नही हैं, उसी तरह से जो समयज्ञ पूंजीपति हैं, उनके ध्यान में समय की गति आयेगी, कालपुरुष के पद-चिह्न वे देख लेंगे। उन्हें एक तरफ से इसका ज्ञान करा देना, समय का भान करा देना और दूसरी तरफ से जिनका स्वार्थ क्राति के अनुकूल है, उनमें सार्वत्रिक यानी सार्वजनिक क्राति की प्रेरणा पैदा करना, उन्हीमें से स्वामित्व और सपत्ति की भावना का निराकरण कर देना—यही दान की प्रक्रिया का असली अर्थ है। 'भूमिदान', 'सपत्ति-दान' और 'श्रम-दान' के

द्वारा हम भूमि, सपत्ति और श्रम, तीनो को बाजार से उठा लेना चाहते है और मनुष्य के लिए स्वायत्त बना देना चाहते हैं। जो चीज बाजार मे सौदा बन गयी है और जो चीज मनुष्य की विवशता का कारण हो गयी है, उसे अवसर में परिणत कर देने की प्रक्रिया भूमिदान-यज्ञ की प्रक्रिया है।

यह है आज की वैज्ञानिक परिस्थिति मे और आज के आर्थिक सदर्भ में भूमिदान की भूमिका। इन सिद्धान्तो के अनुरूप आज इस देश में विधायक रूप से तथा जनता के स्वतन्त्र पुरुषार्थ से सत्ता-निरपेक्ष पद्धति द्वारा आर्थिक क्राति करने का एक प्रयोग हो रहा है। दुनिया में क्राति का समर्थन और प्रतिपादन करनेवाले जितने लोग हैं, उनका यदि सक्रिय सहयोग हमे न मिले, तो भी उनकी शुभाकाक्षा के अधिकारी तो हम बन ही सकते है।*

---

* विचार-शिविर में २२-८-'५५ को गुजरात के साम्यवादी नेता श्री दिनकर मेहता के प्रवचन के उपरान्त किया गया प्रवचन।

क्रान्ति का अर्थ

: ८ :

हम इस परिणाम पर पहुँच चुके है कि क्राति का साधन मनुष्य-स्वभाव के अनुकूल होना चाहिए। मनुष्य-स्वभाव मनुष्य की विशेषता में है। पशु के साथ मनुष्य की जो समानता है, वह मानवता नही है। मनुष्य की मानवता उसकी विशिष्टता का नाम है। दूसरे किसी प्राणी मे जो बात नही पायी जाती, और मनुष्य में पायी जाती है, वही मनुष्य की विशेषता है। मनुष्य निसर्गानुगामी नही है, प्राकृत नही है। मनुष्य सस्कृत है और उसका आज का बहुत-सा स्वभाव सस्कारजन्य है। मनुष्य के लिए केवल शरीर-धर्म जैसी कोई वस्तु रह नही गयी है। मल-मूत्र-विसर्जन से लेकर खान-पान और कामोपभोग तक सभी व्यवहारो को हमने सस्कारो से मर्यादित कर दिया है। सस्कार से सयम का आरम्भ होता है और सयम से सह-जीवन का आरम्भ होता है। मनुष्य की सह-जीवन की सहज प्रेरणा, सह-जीवन के लिए व्रतो की आवश्यकता, सयम की आवश्यकता आदि का विचार हम कर चुके हैं।

चारित्र्य का आरम्भ

दूसरो के साथ रहने से ही मनुष्य के चारित्र्य का आरम्भ होता है। इस चारित्र्य का सबसे बडा लक्षण यह है कि दूसरे की सहूलियत हम पहले देखते हैं, अपनी सहूलियत बाद मे। सभ्य वह है, जो दूसरे की सुविधा का विचार अपनी सुविधा से पहले करता है। इसका अत्यन्त प्राथमिक सूत्र यह है कि दूसरो को जिलाने के लिए जो जीता है, वह 'सभ्य' कहलाता है। दूसरे के जीवन में रुकावट न पैदा करना, 'अहिंसा' है। दूसरे के जीवन मे मदद पहुँचाना भावरूप अहिंसा या 'प्रेम' है। इसका आरम्भ अपने-पन से, ममत्व से होता है और इसकी परिणति तादात्म्य में होती है। ममता से आरम्भ और तादात्म्य मे परिणति। इसलिए उसमें प्रभुत्व भावना के लिए स्थान नही है। सृष्टि के साथ भी हम प्रभुत्व सबध की स्थापना नही करेगे। दूसरे प्राणियो पर प्रभुत्व की स्थापना नही करेंगे और मनुष्य के प्रति भी प्रभुत्व की भावना नही होगी। सत्ता और प्रभुत्व के लिए स्नेह और अहिंसा में कोई स्थान नही है।

समन्वय : हमारा लक्ष्य

प्रभुत्व की भावना दूसरे के जीवन में रुकावट पैदा करती है, जिसे हम 'अन्याय' कहते हैं। न्याय और अन्याय की यह सरल परिभाषा है। दूसरे के जीवन में जब हम दखल पहुँचाते है, तो अन्याय करते हैं। दूसरे के जीवन मे दखल नही पहुँचाते, तो

न्याय करते है। लेकिन अहिंसा न्याय से एक कदम आगे है। भावरूप अहिंसा दूसरे के जीवन मे मदद पहुँचाती है। यही मनुष्य का स्वभाव है। इसमें सामाजिक परिस्थिति से जितनी रुकावटे पैदा होती है, वे सामाजिक अन्तर्विरोध कहलाती हैं। सामाजिक अन्तर्विरोधो का निराकरण हमें करना है। विरोध का परिहार ही 'समन्वय' कहलाता है। समन्वयात्मक जीवन की स्थापना के लिए जीवनगत विरोधो का परिहार हमें करना है। व्यक्तिगत विरोध, समाजगत विरोध, व्यवसायगत विरोध, इन सारे विरोधो का परिहार हमे करना है। विरोधो के परिहार के लिए हम सकल्पपूर्वक जो आचरण करते है, उसीको हम 'व्रत' कहते है। सामाजिक मूल्यो के विकास में बाधा पहुँचानेवाले विरोधो के परिहार के लिए और सामाजिक मूल्यो के विकास के लिए व्यक्ति जो सकल्पपूर्वक आचरण करता है, वह व्यक्ति का व्रत कहलाता है। सामुदायिक रूप से जो आचरण होता है, वह 'सामुदायिक' या 'सामाजिक व्रत' कहलाता है।

हम सोच यह रहे हैं कि क्या क्राति की ऐसी कोई प्रक्रिया हो सकती है, जो अपने में एक सामाजिक व्रत हो सके? हमारा प्रतिकार भी ऐसा हो, जो दूसरे के जीवन में सहायता पहुँचाये। सशस्त्र और हिंसक क्रातिकारी भी ऐसा नही मानते कि मनुष्य परिस्थिति का ही एक अग है। यह बडे आनन्द का विषय है। लेकिन एक सम्प्रदाय ऐसा है, जिसकी प्रतिच्छाया कभी-कभी हम लोगो पर भी पडती है, और दूसरे क्रातिकारियो पर भी पडती है कि मनुष्य भी परिस्थिति का ही एक अग है। यदि मनुष्य को आपने परिस्थिति का ही एक अग मान लिया, तो परिस्थिति के निराकरण के साथ व्यक्तियो का भी निराकरण करना पडेगा। हम मनुष्य को परिस्थिति से ऊपर मानते हैं। मनुष्य प्राकृत नही है, अपनी परिस्थिति का नियता है, उसकी नियति भी कर्मजन्य होती है, दैव भी उसके कर्म से ही पैदा होता है। पुरुष स्वतन्त्र है, जिम्मेवार है। इसलिए वह परिस्थिति से ऊपर उठ सकता है, यह हर क्रातिकारी को मानना होगा। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि परिस्थिति का निराकरण करने के लिए व्यक्ति का निराकरण करने की आवश्यकता नही है। हमारे प्रतिकार में व्यक्ति के निराकरण का समावेश नही हो सकता।

हृदय-परिवर्तन का मूल आधार

एक ने कहा कि 'मै सोचता हूँ, इसलिए मै हूँ'। यह 'आत्मवादी' मानव कहलाता है। दूसरे ने कहा कि 'मै हूँ, इसलिए मै विचार करता हूँ'। यह 'वस्तुवादी' मानव कहलाता है। दो सम्प्रदाय बन गये। एक ने कहा कि परिस्थिति को मैं बनाता हूँ, दूसरे ने कहा कि परिस्थिति मुझे बनाती है। ये दोनो वाद आत्यन्तिक है। एक सिरे के वाद हैं। इन एक सिरे के वादो को छोडकर जो उनमें सत्य है, उसे हमे ग्रहण

करना है। परिस्थिति का परिणाम पुरुष पर होता है, लेकिन अन्त मे पुरुष की सत्ता परिस्थिति पर चलती है। व्यक्ति की सत्ता वस्तु पर चलती है। हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त का यह मूल आधार है।

प्रतिवर्तनवाद

एक पक्ष कहता है कि हमें परिस्थिति बदल देनी चाहिए, तो व्यक्ति अपने आप बदल जायेंगे। यह बात तो वह आगे के लिए मानता है, लेकिन आज के लिए वह क्या मानता है? यही कि आज तक जो परिस्थिति थी, उससे आज का पूँजीवादी बना है, उसीसे आज का गरीब बना है। इसलिए आज का गरीब और आज का पूँजीवादी, ये तो नही बदल सकते। जब परिस्थिति भिन्न हो जायगी, तब ये बदल जायेंगे। लेकिन केवल इतना ही यदि कोई मान ले, तो वह क्रातिकारी नही बन जाता, वह 'बिहेवियरिस्ट', (प्रतिवर्तनवादी) हो जाता है। परिस्थिति जैसी होगी, वैसा मनुष्य होगा। मनुष्य में कोई कर्तृत्व नही रह जाता।

कुत्ते के कान खडे थे। मालिक को शौक हुआ कि कान गिरा हुआ कुत्ता ज्यादा खूबसूरत दिखाई देगा। इसलिए उसने शेर को पिंजरे में बन्द कर कुत्ते के सामने रख दिया। कुत्ता शेर को देखता रहता था और कान गिरा देता था। एक पीढी में आदत हुई, दूसरी पीढ़ी मे आदत हुई, तीसरी पीढी में गिरे कान के कुत्ते आ गये। यह 'बिहेवियरिज्म' ('प्रतिवर्तनवाद') कहलाता है।

वे कहते है कि इस तरह से परिस्थिति बदलने के बाद मनुष्यो को हम बदल देंगे। लेकिन कोई क्रातिकारी इस बात को पूर्णतः नही मानता। सशस्त्र क्रातिकारी भी अधिक-से-अधिक इतना ही कहता है कि परिस्थिति बदल जायगी, तो मनुष्य उसके साथ कुछ मात्रा में बदलेगा। परिस्थिति बदलने से अगर व्यक्ति बदल सकता है, तो फिर परिस्थिति पर जोर दो, व्यक्तियो के निराकरण पर जोर मत दो। फिर तो व्यक्तियो के निराकरण की आवश्यकता ही नही रहती। इतना ही एक कदम आगे बढने के लिए हम कहते है। यह वैज्ञानिकता का एक पहलू हुआ। अब वैज्ञानिकता का दूसरा पहलू लें।

साध्य और साधन

साध्य के अनुरूप साधन होना चाहिए। शस्त्र आवश्यक है, इष्ट है या अनिष्ट है, इस बात को थोडी देर के लिए छोड दें। मार्क्स जब से आया, क्राति में वैज्ञानिकता जब से आयी, तब से ऐसा कोई नही मानता कि चाहे जिस साधन से चाहे जो साध्य प्राप्त हो सकता है।

साध्यानुकूल साधन का ही नाम 'साधन-शुद्धि' है।

अब साध्य क्या है, और उसके अनुकूल साधन का मतलब क्या है? लोकमान्य

तिलक माडले जेल से जब छूटकर आये, उस वक्त देश में बडी चर्चा थी कि हिन्दू किसे कहा जाय। लोकमान्य से भी पूछा गया कि हिन्दू किसे कहना चाहिए ? उन्होंने एक मामूली-सी परिभाषा बता दी—'प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु साधनानां अनेकता'।—'जिसमें अनेक प्रकार के साधन होते हैं, वह हिन्दू-धर्म है।' यह तो उन्होंने हिन्दुत्व के लक्षण मे कहा, लेकिन दूसरे कुछ लोगो ने कहा, "लोकमान्य तिलक ने एक बडी मार्के की बात कह दी है—'साधनानां अनेकता'—अनेक साधनो से एक साध्य प्राप्त होता है। 'साधनानां अनेकता' का उन्होंने अर्थ कर लिया—'साधनानां अनिश्चयः'—साधनो का अनिश्चय। जिस वक्त जो साधन हाथ आया, उस वक्त उस साधन से काम ले लिया। इस प्रकार से वे अवसरवादी बन गये। साधनो का कोई निश्चय उनके मन में नही रहा।

साधन में साध्य छिपा हो

बेचारे गाधी पर ऐसे लोगो का बडा आक्षेप यह था कि यह आदमी साधन को साध्य से ज्यादा महत्त्व देता है। पर, विवेकानन्द ने इसके पहले ही कहा था, "तुम तो साधन की चिन्ता करो, साध्य अपनी चिन्ता आप कर लेगा।" विवेकानन्द की बात अलग है। वे गाधी की तरह क्राति के और व्यवहार के क्षेत्र में तो आयें नही थे और न वे राजनैतिक क्षेत्र में ही आये थे।

साधन-निश्चय का सबसे बडा लक्षण यह है कि साधन में साध्य छिपा हुआ होना चाहिए। साधन ऐसा चाहिए कि जिसमें साध्य प्राप्त करने की शक्ति निसर्गतः हो, वैज्ञानिक रूप से हो। इसलिए साधन का निश्चय बुद्धिपूर्वक करना पडता है। साध्य का निश्चय मनुष्य जिस प्रकार बुद्धिपूर्वक करता है, उसी प्रकार साधन का निश्चय भी बुद्धिपूर्वक करना पडता है।

साध्य-साधन में साधर्म्य हो

पुरानी परिभाषा में इसे 'सत्कार्यवाद' कहा है। सत्कार्यवाद का अर्थ यह है कि मुझे यदि घडा बनाना है, तो मिट्टी ही लेनी होगी, मक्खन चाहिए, तो दूध ही बिलोना होगा, पानी नही। साध्य हमारे साधन मे छिपा हुआ होना चाहिए। साध्य और साधन में साधर्म्य होना चाहिए।

हमारा साध्य क्या है ? हम मनुष्यो का सह-जीवन स्थापित करना चाहते है। सह-जीवन का अर्थ यह है कि मै आपके लिए जिऊँ, आप मेरे लिए जिये। मै आपके जीवन में मदद पहुँचाऊँ, आप मेरे जीवन में मदद पहुँचायें। यही 'सहयोग' कहलाता है। यही हमारा 'साध्य' है।

प्रश्न है कि यह यदि साध्य है, तो क्या इसके अनुरूप साधन हो सकता है ? जो इसके अधिक-से-अधिक अनुरूप होगा, वह अधिक-से-अधिक शास्त्रशुद्ध साधन होगा। क्राति का साधन ऐसा हो, जिसकी प्रेरणा बन्धुत्व में से आये और जिस साधन से बधुत्व का विकास हो। यदि क्राति का साधन ऐसा होगा, तो वह शास्त्र-शुद्ध माना जायगा।

एक बहुत बडे वेदान्त-शास्त्री से मैंने पूछा था कि "आखिर सिद्धि और साधना में क्या अन्तर है ?" उन्होंने कहा कि "जब तक प्रयत्न करना पडता है, तब तक साधना है, वही जब स्वभाव बन गया, तो सिद्धि हो गयी।" तैरना सीखना और तैरने में क्या फर्क है ? जब तक तैरने के लिए कोशिश करनी पडती है और डूबने से बचने की कोशिश करनी पडती है, तब तक तैरना सीख रहा हूँ। तैरना सहज हो गया, डूबने से बचने की कोशिश नही करनी पडती, तो सिद्धि हो गयी, तैरने लगा। साधन में जो आचरण प्रयत्नपूर्वक करना पडता है, वह जब स्वभावसिद्ध हो जाता है, तो उसे 'सिद्धि' कहते हैं। फिर कोई विचार नही करना पडता। 'सिद्धि' के लिए जो प्रयोग और प्रयत्न होता है, उसे हम 'साधना' कहते हैं। उसके लिए जो प्रयोग और प्रयत्न होता है, उसीका नाम 'मार्ग' भी है। जहाँ से हम 'प्रयत्न' का आरम्भ करते हैं, वह साधन का पहला सिरा है और जहाँ उसकी 'परिणति' होती है, वह अन्तिम सिरा ही 'साध्य' कहलाता है। 'साधन' के अतिम सिरे का नाम 'साध्य' है।

साध्य और साधन में साधर्म्य होना चाहिए। क्राति के तत्र और क्राति के शास्त्र के लिए यह गाधी की देन है। क्रान्ति के तत्र मे भी क्रान्ति होनी चाहिए, क्रान्ति के साधन में भी क्रान्ति होनी चाहिए। क्रान्ति के साध्य के अनुरूप क्रान्ति का साधन होना चाहिए। यह गाधी की मौलिक और अनूठी देन है। दूसरे क्रान्तिकारियो ने इसे स्वीकार नही किया है। इसलिए वे तर्क-वितर्क में पड जाते है। उनके चित्त में 'वा' 'न वा' इसीलिए आ जाता है कि कही शस्त्र भी लेना पडे तो ! उन्होंने शस्त्र को विषम नही माना, पर हमारी सिद्धि की दृष्टि से शस्त्र विषम साधन है। वह हमारे साध्य के प्रतिकूल है।

अहिंसा की क्रान्ति ही व्यावहारिक

जागतिक परिस्थिति यानी आज के अन्तर्राष्ट्रीय सदर्भ और मानव-जाति की आकाक्षा के अनुरूप आज अहिंसा के सिवाय दूसरा साधन नही हो सकता। दूसरी बात यह कि हमारी राष्ट्रीय परिस्थिति और आज की हमारी शक्ति या सामर्थ्य जितनी है, उसकी दृष्टि से अहिंसा की क्राति ही व्यावहारिक क्रान्ति हो सकती है।

'वैज्ञानिकता' भी अहिंसक क्रान्ति मे ही हो सकती है। हमारे साध्य के अनुरूप साधन अहिंसक क्राति की प्रक्रिया के सिवा दूसरा हो ही नही सकता। हमारा साधन

स्नेहमूलक भी होना चाहिए और स्नेहप्रवर्तक भी। स्नेह में उसका मूल हो और उसके प्रयोग से स्नेह बढता चले, इस प्रकार का वह साधन होना चाहिए।

अहिंसा के प्रकार में अन्तर

अहिंसा मे विभिन्न पहलू है। पहला पहलू यह कि अहिंसा एक सामाजिक मूल्य है। पुराने जमाने की अहिंसा और गाधी की अहिंसा मे केवल मात्रा का अन्तर नही है, प्रकार का अन्तर है। दधिचि, शिवि की अहिंसा में और गाधी की अहिंसा में प्रकार का भेद है। आज तक दुनिया मे अहिंसा के जितने सस्थापक और प्रवर्तक हुए, उनमें और गाधी मे सबसे बडा अन्तर यह है कि गाधी ने अहिंसा को राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में दाखिल किया यानी उसको समाजव्यापी बना दिया।

इस देश के धर्म-शास्त्री और वेदान्तशास्त्रियो ने मनुष्य के व्यक्तित्व की दो फांके कर दी थी। एक पारमार्थिक, दूसरी व्यावहारिक। आचरण में दो भेद हो गये। व्यक्तित्व मे दो भेद हो गये। गाधी ने अपनी अहिंसा को पारमार्थिक मूल्य के साथ-साथ सामाजिक मूल्य में परिणत कर दिया, इसलिए उसने हमारे चित्त को फिर से समय बनाने की चेष्टा की। मनुष्य का व्यक्तित्व फिर से समग्र हो जाय, इसकी कोशिश उसने अहिंसा को सामाजिक मूल्य मे परिणत करके की।

अहिंसा की व्रत में परिणति

जो अहिंसा एक सामाजिक मूल्य है, वह व्रत में परिणत होती है। व्रत में परिणत होने से मनुष्य के चित्त की शुद्धि होगी, उसके व्यक्तित्व का विकास होगा। इसलिए व्यक्तिगत मोक्ष तो होने ही वाला है। लेकिन व्यक्तिगत मोक्ष उसका मुख्य प्रयोजन नही है। फिर भी सामाजिक मूल्य के रूप में जब वह आती है, तब व्यक्तिगत मोक्ष भी उसकी प्रेरणा हो सकती है। ये दो भिन्न-भिन्न प्रेरणाएँ नही है।

व्यक्तिगत मोक्ष अलग और सामाजिक मोक्ष अलग, ऐसी दो भिन्न-भिन्न सत्ताएँ मनुष्य के व्यक्तित्व में नहीं हो सकती। इसलिए जिन गुणो का अनुष्ठान मनुष्य अपने मोक्ष के लिए करता है, उन्हें जब वह सामाजिक मूल्य में परिणत करने लगता है, तो व्यक्तिगत मोक्ष और सामाजिक मोक्ष, दोनो एक साथ चलते है। उनमें विरोध की कल्पना नही होती। गाधी ने इस प्रकार सामाजिक मूल्य को एक व्रत में परिणत कर दिया। यह हुआ अहिंसा का दूसरा पहलू।

अहिंसा का तीसरा पहलू है। सहयोग में तो हम समझ सकते है कि अहिंसा का सामाजिक मूल्य है, लेकिन क्या प्रतिकार में भी सामाजिक मूल्य के नाते अहिंसा दाखिल हो सकती है? क्या प्रतिकार अहिंसक हो सकता है और वह एक सामाजिक मूल्य बन सकता है? वह एक मनुष्य का धार्मिक कर्तव्य बन सकता है? सत्याग्रह

की नीति और सत्याग्रह के सिद्धान्त के बारे में मनुष्य के स्वभाव की दृष्टि से, विज्ञान की दृष्टि से, क्रान्ति के साध्य की दृष्टि से, तीनो दृष्टियो से हम विचार कर चुके हैं। अब और एक दृष्टि से अहिंसा का विचार प्रस्तुत है।

सह-भोजन और सह-उत्पादन

दूसरे के जीवन में मदद पहुँचाने मे सह-भोजन आता है। भोजन को केवल एक व्यक्तिगत शरीर-धर्म माननेवाले, केवल व्यक्तिगत सयम को माननेवाले तो इस मुकाम पर पहुँच गये थे कि जिस तरह से शौच आदि शरीर-धर्म है,वैसे ही भोजन भी एक शरीर-धर्म है। शौच के लिए यदि आप किसीको निमन्त्रण नही देते, उसके लिए कुकुम-पत्रिकाएँ नही भेजते, तो भोजन के लिए और विवाह के लिए उसकी क्या आवश्यकता है ? यह एक तरह का अतिरेक है। इस तरह किसी सामाजिक मूल्य का विकास नही होता। हमें देखना यह है कि सयम तो अवश्य हो, लेकिन सयम हमें समाज-विमुख या लोक-विमुख न बनाये। अत सयम का सामाजिक मूल्य यह हुआ कि मैं अपने खाने से पहले दूसरो के खाने की फिक्र करता हूँ। इसमें सयम आ जाता है। दूसरे को खिलाऊँगा, तब खाऊँगा। इस तरह अहिंसा आ गयी। अहिंसा के साथ सह-भोजन आ गया।

सह-भोजन मे अब हम एक कदम और बढाते हैं और वह है सह-उत्पादन। सह-उत्पादन अलग वस्तु है और स्वावलम्बन अलग। आजकल स्वावलम्बन का बोल-बाला है। अपना कुर्ता मैं बना लूं, अपनी धोती मैं बना लूं, अपना भोजन मैं पका लूं, अपना जीना मैं जी लूं, अपना मरना मै मर लूं—यह स्वावलम्बन नही है। यह हम स्वावलम्बन का गलत अर्थ समझ रहे हैं। 'स्वावलम्बन' शब्द सापेक्ष है। आज तक समाज में कुछ लोग परोपजीवी थे—दूसरो के श्रम पर जीनेवाले। उन लोगो की प्रतिष्ठा समाज मे थी। गुरुदेव रवि ठाकुर ने उन्हे बडा सुन्दर नाम दे रखा था—'अवकाशभोगी'। इन लोगो के लिए स्वावलम्बन की नीति का प्रतिपादन किया गया। जो लोग परोपजीवी थे, दूसरे की मेहनत के भरोसे जीते थे, उनसे कहा गया कि "तुम अपना काम खुद नही करते हो, भला यह भी कोई जीना है ? एक दिन तुम कहोगे कि साँस लेने के लिए भी उपकरण मिल जाय, तो अच्छा है।" मनुष्य को इतना परावलम्बी और परोपजीवी नही बनना चाहिए। हम परोपजीवी न बनें, पर हम सबको परस्परोपजीवी तो बनना ही है। परोपजीवन अलग वस्तु है, परस्परोपजीवन अलग वस्तु है। इसलिए मैंने सह-उत्पादन की बात कही। हमें केवल श्रमनिष्ठ ही नही बनना है, हमें समाज में उत्पादक परिश्रम की प्रेरणा उत्पन्न करनी है। इसके बिना काम की प्रेरणा का सवाल हल नही होता।

सह-उत्पादन का अर्थ

सह-उत्पादन का अर्थ क्या है ? मान ले, नारायण कातता है। धोती के लायक सूत उसने कात लिया। वह मेरे पास आकर कहता है, "यह सूत मेरा काता हुआ है। मैं धोती के लिए आपको यह देना चाहता हूँ।"

"तू क्यो देना चाहता है ? तेरी अपनी धोती फटी हुई है।"

"आप यदि मेरे कते हुए सूत की धोती पहनेंगे, तो मेरी आत्मा को अधिक सतोष होगा।"

यह 'सह-उत्पादन' कहलाता है। 'आप' और 'मैं' मिलकर काम करते है, लेकिन अपने लिए नही, 'आप' अपने लिए नही। 'मैं आपके लिए' और 'आप मेरे लिए'। उसमे स्नेह की प्रेरणा आ जाती है। वह मनुष्य के लिए बहुत स्वाभाविक है। हमारे दिल बिगड गये है। इसलिए हम समझते है कि यह बहुत असंभव चीज है। लेकिन दुनिया में यह रोज होती है। नित्य के व्यवहार में होती है। इसके बिना मनुष्य को चैन नही। शादी में कोई न आये, तो आपको अच्छा नही लगता और गमी में कोई न आये, तो भी आपको अच्छा नही लगता। सह-उदय जब तक न हो तब तक दुःख का निराकरण नही होता। सह-उत्पादन का असली मतलब यह है कि मै जितना उत्पादन करूँ, वह अपने लिए नही, समाज के लिए करूँ। समाज का मूर्त्तरूप है पडोसी। मैं आपके लिए उत्पादन करता हूँ, आप मेरे लिए उत्पादन करते हैं, तो फिर सग्रह की भावना का अपने-आप निराकरण हो जाता है। प्रबोध मेरे खाने के लिए केले लाता है और मै चाहता हूँ कि वह मेरे साथ बैठकर खाये। हम एक-दूसरे से खाने का आग्रह करते है। प्रबोध कहता है, "आप खाइये"। मैं कहता हूँ, "भाई, तुम खाओ"। क्या हम दोनो में से किसीको केले छिपाकर रखने की प्रेरणा होगी ?

सग्रह की प्रेरणा क्यो होती है ? मनुष्य स्वार्जित सपत्ति पर अपना अधिकार क्यो बतलाना चाहता है ? उत्पादन वह अपने लिए करता है। समाज अव्यक्त है। अव्यक्त के लिए उत्पादन करने से मनुष्य के व्यक्तित्व का निराकरण हो जाता है। व्यक्तित्व का निराकरण होने से उसकी विभूति ही क्षीण हो जाती है। हमारा व्यक्तित्व व्यक्ति की विभूति है और समष्टि की विभूति समाज है। हर मनुष्य का व्यक्तित्व समाज की एक विभूति है। हम उसका निराकरण करना नही चाहते, उसका विकास करना चाहते है। उत्पादन विभूति के विकास की प्रक्रिया है। सारा-का-सारा हमारा व्यक्तित्व जिस-जिस क्रिया से प्रकट होता है, ऐसी एक प्रधान क्रिया उत्पादन है।

लोग कहते है, "कला के लिए कला"। मैं भी मानता हूँ, कला के लिए कला।

लेकिन मनुष्य आखिर कला अभिव्यक्त क्यो करता है ? मेरे मन में चित्र है, मै उसे वाहर क्यो प्रकट करता हूँ ? मूर्ति मेरे मन मे है, पर उसे मै अभिव्यक्त क्यो करता हूँ ? जितनी भी अभिव्यक्ति होती है, वह सवकी सव दूसरो के लिए होती है।

उत्पादन की प्रेरणा

अभिव्यक्ति आगे चलकर अहकार में जव परिणत हो जाती है, तव वह प्रदर्शनात्मक वन जाती है। फिर प्रसाधन और प्रदर्शन जीवन के उद्देश्य वन जाते है। लेकिन प्रसाधन और प्रदर्शन से पृथक् मनुष्य की अपने-आपको अभिव्यक्त करने की जो सामाजिक प्रेरणा है, उत्पादक परिश्रम, उत्पादन की प्रेरणा, उसका एक वहुत वडा अग है। यह प्रेरणा मनुष्य में निहित है। हमने उत्पादन को अप्रतिष्ठित बना दिया है, इसलिए उत्पादन की प्रेरणा नही रही। किन्तु क्या शौक के लिए हम श्रम नही करते ? आखिर 'हॉवी'—शगल—क्या है ? यही कि वढईगिरी का काम पेट के लिए मत करो, शौक के लिए करो। पेट के लिए वगीचे में माली का काम मत करो, शौक के लिए काम करो। इसका यही मतलव हुआ कि वह प्रेरणा मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा है। यह जो उत्पादन की प्रेरणा मनुष्य में स्वाभाविक है, उसमें से उसके गुण का विकास होना चाहिए, उसकी सामाजिकता का विकास होना चाहिए। उत्पादन तो अवश्य अधिक होना चाहिए, लेकिन उसमें से उत्पादक का भी विकास होना चाहिए।

जीविका से वृत्ति में परिवर्तन

हम इतने वस्तुनिष्ठ वन गये है कि मानव को भूल गये। जीविका के साथ-साथ मनुष्य की वृत्ति भी वदल जाती है। यह परिवर्तन किस प्रकार होता चलता है, उस पर हम एक दृष्टि डाल लें।

लोग कहते हैं कि किसी जमाने में मनुष्य शिकार करके जीता था। जव वह शिकारी रहा होगा और जव वह गाय आदि चरानेवाला चरवाहा रहा होगा, तव से उसके जीवन में, जिस दिन उसने खेती शुरू की होगी, उस दिन इतना फर्क जरूर पडा होगा कि उसे अपने पडोसी का भरोसा करना पडा। जव तक पडोसी का भरोसा न हो, तव तक गाँव में कोई नही रह सकता और खेती नही कर सकता। गाँव उनका वनता है, जो एक-दूसरे की सहायता का भरोसा कर सकते हैं, नही तो एक-दूसरे के निकट कैसे रह सकते है ? पडोस में खेती उन्हीकी हो सकती है, जो एक-दूसरे का भरोसा कर सकते हैं। जानवरो को डराने के लिए खेतो में 'मनई' या हौआ' होता है। वह आदमियो के लिए नही होता। यानी विशेष आशका पशुओ की ओर से होती है, मनुष्यो की ओर से उतनी नही होती। लोग कहते है कि खेती के साथ मनुष्य की

संस्कृति का आरम्भ हुआ। ऐसा इसीलिए हुआ कि पडोसी का विश्वास करना वहाँ से आरम्भ होता है। किसी एक जगह रहना और पडोसी का विश्वास करना वहाँ से शुरू हुआ, इसलिए मनुष्य के जीवन मे उतना परिवर्तन हो गया।

पूँजीवाद का सन्दर्भ

इसके वाद पूँजीवाद का सदर्भ आया। पूँजीवाद के सदर्भ का अर्थ है—मनुष्य की कीमत कुछ नही, मनुष्य से वस्तु महँगी और पैसा सवका सिरमौर है। क्रान्ति इससे उल्टी है। मनुष्य सर्वोपरि, वस्तु सुलभ और पैसे का कोई स्थान न हो। सिक्के का चलन होगा या नही, यह विलकुल अलग सवाल है। सम्पत्ति का पैमाना, सम्पत्ति का नाप पैसा न हो। पैसे ने मनुष्य की तवीयत कैसी वदल दी, देखिये—

अदालत में एक मुकदमा पेश है। एक आदमी कहता है, "फलाँ आदमी मेरी स्त्री का अपहरण कर ले गया।"

"तुम क्या चाहते हो ?"

"मै हरजाना चाहता हूँ।"

उसे १०,००० रुपये मिल गये।

दूसरा मुकदमा आया।—"हम मिल में काम करते थे, हमारा हाथ टूट गया।"

"तुम क्या चाहते हो ?"

"पाँच हजार रुपया हरजाना चाहता हूँ।"

तीसरा मुकदमा आया।—"हम वाजार में जा रहे थे, इसने हमे जूते मार दिये, हमारी इज्जत ले ली।"

"तुम क्या चाहते हो ?"

"सात हजार रुपया हरजाना चाहते है।"

पत्नी के वदले भी पैसा, अवयव के वदले भी पैसा, इज्जत के वदले भी पैसा ! भला कभी किसीने ऐसी कल्पना भी की थी कि पैसा जीवन में यह स्थान ले लेगा ! इज्जत के वदले पैसा आ गया, तो कल फिर भगवान् के वदले पैसा, वोट के वदले पैसा, लोकशाही के वदले पैसा और आत्मा के वदले भी पैसा—यह एक के वाद एक क्रम आ ही जायगा !

इस प्रकार जीविका-उपार्जन की पद्धति मनुष्य की वृत्ति को वदल देती है। इसलिए उत्पादन की पद्धति ऐसी हो, जिसमे मनुष्य की मनुष्यता का विकास हो, उसके सामाजिक गुण का विकास हो। जो उत्पादन हो, वह एक-दूसरे के लिए हो।

यन्त्रीकरण : प्रमापीकरण

यन्त्रीकरण जितना ज्यादा होगा, सामाजिक प्रेरणा उतनी ही कम होती चली

जायगी। यन्त्रीकरण से मेरा मतलब केन्द्रीकरण ही है। यन्त्र की एक हैसियत है, एक विशेषता है कि वह सब चीजे एक-सी बनाता है। फौज को ले लीजिये। फौज में यह सबसे अधिक देखने में आता है। बटन एक-से ! पोशाक एक-सी ! इसीको 'चमू-करण', 'रेजिमेंटेशन' कहते हैं। 'प्रमापीकरण' और 'चमूकरण' में बहुत अन्तर नही रह गया। यन्त्र से प्रमापीकरण होता है। सब एक तरह के लोग हो जाते हैं। एक यन्त्र में हजार जूते निकालने हैं, तो वे सब एक-से निकलेंगे। इसीलिए धीरे-धीरे मनुष्य में एक प्रकार का यन्त्रीकरण आ गया। समाज मे भी उसके परिणामस्वरूप यन्त्रीकरण होता है और जितना यन्त्रीकरण का विकास होता है, उतना सामाजिक गुणो का ह्रास होता है। यह पूर्णतः वैज्ञानिक सत्य है।

बटन दबाने का अर्थशास्त्र

कल दिनकर भाई ने कहा था कि मार्क्स का भौतिकवाद और यान्त्रिक भौतिकवाद, यान्त्रिक जडवाद, ये दो भिन्न वस्तुएँ हैं। यान्त्रिक जडवादियो ने सारे समाज का यत्रीकरण ही करना शुरू कर दिया। इसका आजकल बड़ा सुन्दर नाम रख दिया गया है 'स्वयचालित'। यानी अपने-आप काम होनेवाली प्रक्रिया—हर काम अपने-आप होगा। उसका चित्र भी बडा सुन्दर बनाया है। एक दफ्तर में चार लडकियाँ बैठी हुई है। वे चारो एक ही काम करती हैं। वे बटन दबाती हैं। एक लडकी के बटन दबाने से क्या होता है ? चित्र निकल रहे हैं। दूसरी लडकी के बटन दबाने से क्या होता है ? दुनिया के नक्शे निकल रहे हैं। तीसरी लडकी के बटन दबाने से क्या होता है ? एक उपन्यास की प्रतियाँ निकल रही हैं। चौथी लडकी के बटन दबाने से क्या होता है ? मेरी लिखी हुई चिट्ठी की प्रतियाँ बन रही हैं। क्रिया एक ही है और परिणाम अलग-अलग हो रहा है। लोग बडे खुश हैं कि बस, एक सिर्फ 'पेनलबोर्ड' चाहिए, जिसमें 'पुशबटन' लगे हो। इसका नाम है—बटन दबाने का अर्थशास्त्र। इसमें कुछ नही करना पड़ता। सवाल यह था कि लोगो को केवल परिश्रम, गधा-मजूरी से बचाने के लिए यत्र आया। इसलिए यत्र में सब प्रकार की प्रगति है, सास्कृतिक विकास है। लेकिन अब कहाँ-से-कहाँ पहुँच गयी चीज ? अब सिर्फ बटन दबाने की ही जरूरत रही।

मानवीय मूल्यों का ह्रास

अब एक दूसरी युक्ति निकाली है कि बटन ही दबाना है, तो नारायण देसाई और प्रबोध चौकसी की क्या जरूरत है ? बिजली का दिमाग बनाइये। हिसाब तो होता ही है मशीन से। जब हिसाब हो सकता है, तो क्या मशीन से बटन दबाना नही हो सकता ? रेलगाडियो का और ट्रेनो का कट्रोल अगर स्वयचालित मस्तिष्क से हो

सकता है, तो बटन दबाना उससे क्यो नही हो सकता ? ऐसी दुनिया अगर बनी, तो उसका अन्तिम स्वरूप क्या होगा ? मनुष्य का व्यक्तित्व-विलीनीकरण होगा और आर्थिक केन्द्रीकरण होगा। ऐसी स्थिति में सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो ही नही सकता। आर्थिक केन्द्रीकरण की परिणति तानाशाही मे होने ही वाली है और लोक-सत्ता की मृत्यु मे उसका परिणाम निकलनेवाला है। इसमें मनुष्य के किसी भी सामाजिक गुण के विकास की योजना नही है। ससार के वैज्ञानिको का आधुनिकतम विचार यह है कि केन्द्रीकरण यदि होगा,तो मनुष्य की सत्ता का और मानवीय मूल्यो का ह्रास होनेवाला है। इसलिए हमे यदि उत्पादन की पद्धति में यत्रीकरण भी करना हो, तो यत्रीकरण की मर्यादा को समझकर करना होगा। सयोजन में यत्रीकरण के लिए भी यदि स्थान हो, तो इतनी योजना अवश्य होनी चाहिए कि उससे मनुष्य के सामाजिक गुणो का विकास हो। यही मनुष्य का सास्कृतिक विकास कहलाता है।

व्यक्तित्व-विकास के तीन प्रकार

मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास मे तीन प्रकार के विकास आते हैं। एक तो उसके गुण का विकास होना चाहिए, दूसरा, उसकी कला का विकास होना चाहिए और तीसरा, उसकी शारीरिक शक्ति का विकास होना चाहिए। मनुष्य के शरीर की जो प्रतिकार-क्षमता है, वह भी उसके परिश्रम से विकसित होनी चाहिए। ऐसा न हो कि वह बिलकुल मखमल और रेशम का जीव बन जाय।

तो, व्यक्तित्व के विकास मे तीन बातें हुई—

१ गुण का विकास होना चाहिए। यह 'सास्कृतिक विकास' कहलाता है।

२. कला और कारीगरी का विकास होना चाहिए।

३ शारीरिक शक्ति का भी विकास होना चाहिए। कम-से-कम इतनी तो योजना हो कि वह उससे क्षीण न हो।

उत्पादन और संजीवन

यदि यह सब होगा, तो उद्योग और परिश्रम मे मनुष्य की रुचि भी होगी। यानी उत्पादन और सजीवन, जीवन के दो अलग-अलग भाग नही रह जायेंगे। उत्पादन और सजीवन में भेद अवश्य होगा, लेकिन आज दोनो कृत्रिम है। उत्पादन अपनी मर्जी का नही है, इसलिए उत्पादन का उत्पादक-परिश्रम 'सजा' है। जो काम अपनी मर्जी का नही होता, जो मोल के लिए किया जाता है, उसे 'मजदूरी' कहते है और जो दूसरो की मर्जी के लिए बगैर-कीमत किया जाता है, वह 'बेगार' कहलाता है। इस तरह आज की मेहनत या तो 'मजदूरी' है या 'बेगार' है। जो अपनी मर्जी का काम है, जिसे हम 'सजीवन', 'मनोविनोद' या 'दिल बहलाव' कहते है, वह हमे अलग रखना

पड़ता है। इसलिए वहुत-सी कलाएँ मनोरजन के साथ चली जाती हैं। वे उत्पादन में से निकल जाती हैं। उद्योग और कला में कोई सामजस्य नही रह जाता। इसलिए कम्यु-निस्ट देशो मे आज एक वडा भारी प्रश्न है—'काम मे मनुष्य को आनद कैसे आये ?' और 'कलात्मक काम और श्रमात्मक काम का अतर कैसे दूर हो ?' श्रमात्मक काम करनेवाले कुछ लोग केवल वटन दवाते हैं, कलात्मक काम करनेवाले वटन वनाते हैं। जिन दो-चार आदमियो ने मिलकर वटन खोजे और वनाये होगे, सिर्फ उन्हीमें कला रह गयी और वाकी के मनुष्यो के व्यक्तित्व में कला का ह्रास होता चला जाता है।

मेरे अक्षर खराव हैं, नारायण जल्दी लिख लेता है, वह कुछ अच्छे, वडे अक्षर लिखता है। मुझे वडी ईर्ष्या होती है। मैं उसके जैसे अक्षर तो वनाने की कोशिश नहीं करता। कहता हूँ कि शिविर में एक नियम यह होना चाहिए कि वगैर टाइपराइटर के कोई लिखे ही नही। तो मेरे और नारायण के अक्षर एक-से हो गये। जितने उसके अच्छे, उतने मेरे अच्छे। कारण, अक्षर एक ठप्पे के हो गये। अव मेरी उँगलियो की कोई आवश्यकता नही रह गयी। थोडे दिनो के वाद टाइपराइटर पर चलाने के लिए एक ही उँगली रह जाय और वाकी चार उँगलियाँ गल जायँ, फिर भी कोई वहुत ज्यादा नुकसान होनेवाला नही है। एक उँगली की आवश्यकता है, तो एक उँगली रहे। दूसरी उँगलियो की जरूरत नही रह जायगी।

यंत्र से कला का विकास असम्भव

कला का विकास यत्र से हो ही नही सकता। शिक्षण-सस्थाएँ चलानेवाले जानते हैं कि कला के विकास को यदि उत्पादन के साथ जोडना है, सयोजन के साथ यदि शिक्षण को जोड देना है, तो उत्पादन का उपकरण ऐसा होना चाहिए, जिससे मनुष्य की कला का विकास हो। उसके शरीर मे जितनी कलात्मकता है, उसका विकास हो। गाधी और विनोवा के विषय में कुछ लोगो ने यह माना था कि ये विज्ञान के विरोधी हैं, यत्र के विरोधी हैं। पर ऐसी वात नही है। मानवीय मूल्य की स्थापना को इन लोगो ने अपना प्रधान उद्देश्य माना है। इसलिए यत्र को वे मनुष्य की जगह नही लेने देंगे। आज लोक-सख्या का प्रश्न वार-वार आता है। पर, जितना-जितना यत्र मनुष्य की जगह लेता चला जायगा, उतना-उतना यह प्रश्न अधिक तीव्र होनेवाला है। लोगो ने एक वार विनोवा से पूछा था कि "यत्र से तुम्हारा क्या विगडता है ?" तो उन्होंने जवाव दिया, "जवाहरलालजी से मैंने एक दफा कहा था कि आप सयोजन कीजिये, सवको खाना दे दीजिये, सवको पीने के लिए शरवत और चाय दीजिये और वचे हुए समय मे खेलने के लिए ताश भी दे दीजिये। इतना यदि आप कर सकते हैं, तो कीजिये।" यन्त्र यदि इतना कर भी ले, तो वह मनुष्य को मार देगा, मनुष्य की जगह ले लेगा, मनुष्य के व्यक्तित्व को, मानवीय मूल्यो को समाप्त कर देगा।

पशु-शक्ति का भी विकास हो

विज्ञान से मूल्य की स्थापना हो ही नही सकती । यह विज्ञान की मर्यादा है । विज्ञान परिस्थिति में परिवर्तन कर सकता है, लेकिन जिसे भावरूप मूल्यो की स्थापना कहते है, वह विज्ञान से हो ही नही सकती । उत्पादक परिश्रम के विषय में हमारी पहली माँग इतनी ही है कि यन्त्र को यदि दाखिल करना हो, तो उसे तभी दाखिल किया जाय, जब उत्पादन का साधन और पद्धति ऐसी हो, जिसमें मनुष्य की शक्ति का उपयोग हो, कला का विकास हो । दूसरी बात यह कि पशु की शक्ति का उपयोग और विकास भी हो ।

लोग कहते है कि गाधीवाले अवैज्ञानिक हो गये है। वे इसका एक मजेदार उदाहरण भी देते है । कहते है कि वे लोग मोटर की जगह बैलगाडी को लाना चाहते है । उनकी मोटर वैज्ञानिक है, क्योकि मनुष्य ने बनायी है और बैल अवैज्ञानिक हो गया, क्योकि उसे भगवान् ने बनाया है !

नतीजा यह हुआ है कि बैल और घोडे हमारे जीवन मे से धीरे-धीरे निकलते चले जा रहे है ।

मानव की दोहरी सत्ताएँ

एक बार एक बडे आदमी ने हमें चाय पीने के लिए बुलाया । उन्होने हमसे कहा कि "सविधान में ही गोहत्या-बदी आ जानी चाहिए । ऐसा नही होगा, तो हम उपवास करेंगे ।" मैं तो पक्ष में ही था । मैंने कहा, "आप ठीक कह रहे हैं, गोहत्या का प्रतिबध करानेवाला कानून बन ही जाना चाहिए ।" लेकिन हमारे एक मुँहफट मित्र खडे होकर कहने लगे, "लेकिन आप तो डालडा के कारखाने चलाते है ?"

कहने लगे, "मैं गाय के घी-दूध के सिवा कुछ नही खाता हूँ ।"

मित्र ने कहा, "हाँ, यह तो आप करते ही हैं। खादी के सिवा आप कुछ नही पहनते और कपडे की मिले चलाते है । गाय के घी-दूध के सिवा और कुछ नही खाते और डालडा के कारखाने चलाते हैं ! बिलकुल भारतीय सस्कृति के अनुरूप काम ! आप बहुत ठीक करते है !"

ऐसे व्यावहारिक और पारमार्थिक, दो अलग-अलग सत्ताएँ उसके व्यक्तित्व में दिखाई देती थी ।

आर्थिक संयोजन और पशु

आर्थिक सयोजन में जिस पशु के लिए स्थान नही होगा, उस पशु का सरक्षण

कानून ही नही, विधाता भी नही कर सकता। आज मनुष्य की हत्या का निषेध है। गाधी की हत्या जिसने की, उसे भी फाँसी की सजा हुई। एक भिखारी की हत्या जो करेगा, उसे भी फाँसी की ही सजा मिलेगी। मनुष्य के जीवन का समान मूल्य कानून ने मान लिया है। लेकिन क्या इस देश के भूखे और नगे आदमी को वह कानून बचा सका है? कानून ने मनुष्य को अवध्य करार दिया, लेकिन उसे भी कानून नही जिला सका। आर्थिक सयोजन में जिस दिन पशु हमारे जीवन में दाखिल हुआ होगा, उस दिन मनुष्य ने एक बहुत बडा सास्कृतिक कदम उठा लिया। उसके जीवन का विकास हुआ। हम जो यह कहते हैं कि गाय इस देश में अवध्य रहनी चाहिए, और कानून से भी अवध्य रहनी चाहिए, उसका मुख्य कारण यही है। अब तक मनुष्य ही हमारे जीवन में शामिल थे। एक मनुष्येतर प्राणी को हमने अपने जीवन में शामिल किया और केवल धर्म मे सकेत नही रखा, प्रत्यक्ष व्यवहार में, आर्थिक क्षेत्र में भी हमने उसे स्थान दे दिया। आर्थिक क्षेत्र में जो जानवर नही रहेगा, उसे कौन बचायेगा? जैसे, बकरे को कोई नही बचा सका। काशी के साडो का बुरा हाल है।

एक-एक पशु की समाप्ति

मनुष्यो को अवध्य करार दिया, यह बहुत अच्छी बात है। उसके बाद एक मनुष्येतर प्राणी को अवध्य करार देने का हमने जो सास्कृतिक कदम उठाया है, उसके साथ कानून भी कदम मिला ले। लेकिन वह प्राणी, वह जीव, तब तक नही जी सकता, जब तक आर्थिक सयोजन में उसका स्थान न हो। मोटर-साइकिल और साइकिल के आते ही घोड़ा चला गया। आज फौजो में भी घोडा नही है। हमारे जीवन में से वह जा रहा है। राजस्थान में ट्रैक्टर आये और मोटर-साइकिलें आयी, और ऊँट जाने लगा। हाथी तो पहले से ही बेचारा शौक का जानवर था।

अभी उत्तर प्रदेश मे एक शिविर मे गया था। एक व्यक्ति से पूछा कि "अब आप घोडा नही रखते?" तो बोले, "घोडा अब नही रख सकते, सिर्फ हाथी ही रख सकते है।" मैंने कहा, "यह तो आप उल्टी ही बात कर रहे हैं? अगर घोडा ही आप नही रख सकते, तो हाथी कैसे रख सकते हैं?"

बोले, "घोडे का खर्च बहुत है।"

मैने पूछा, "हाथी का खर्च नही होता?"

"नही, हकीकत यह है कि जब कही किसीकी बारात होती है, तब हम उसे किराये पर दे देते है। हमे एक बारात के २५ रुपये मिल जाते हैं। महावत का भी खर्च निकल आता है और हाथी का भी।"

इस तरह हमारे सामाजिक जीवन में से एक-एक पशु समाप्त हो रहा है। जो लोग यह कहते हैं कि यह विज्ञान की प्रगति है, यह सस्कृति की प्रगति है, वे हमें धोखे में डाल रहे हैं। इसमे न सास्कृतिक प्रगति है, न वैज्ञानिक प्रगति है। इसलिए हमारे आर्थिक सयोजन में पशु का भी स्थान होना चाहिए।

अत यंत्रो के विषय मे इतनी ही शर्त है कि उत्पादक उद्योग से मनुष्य के गुण का, मनुष्य की कारीगरी का, मनुष्य की कला का और मनुष्य की शारीरिक शक्ति का उपयोग और विकास होना चाहिए। कम-से-कम इनके साथ उसका अनुवन्ध होना चाहिए। दूसरी वात, उत्पादन की पद्धति और उत्पादन के उपकरण ऐसे होने चाहिए कि पशु की शक्ति का सम्पूर्ण उपयोग हो, पशु की कला और गुणो का सम्पूर्ण विकास हो।

गुण-विकास के लिए उत्पादन

अब इसमें एक वात हमे और जोड देनी है। वह यह कि उत्पादन एक-दूसरे के लिए हो, सामाजिक गुणो का विकास होने के लिए हो। हमारा समाज समन्वयात्मक होगा, व्यवसायात्मक नही। इसमें आपके व्रतो में से तीन वातें आयी। एक तो शरीर-श्रम आया, दूसरा स्वदेशी का व्रत और तीसरा असग्रह अप्रत्यक्ष रूप से आया। सह-उत्पादन होगा और उत्पादन यदि एक-दूसरे के लिए होगा, तो सग्रह की प्रेरणा उसमें से निकल जायगी।

चलन का प्रश्न

यहाँ हम चलन-सिक्के या पैसे के प्रश्न पर भी सक्षेप में विचार कर लें।

पैसा वस्तु का प्रतीकात्मक प्रतिनिधि है। पैसे का अर्थशास्त्र मे मूलभूत स्थान यह है कि पैसा जिस अनुपात में वस्तु का प्रतिनिधि होगा, उस अनुपात में उसका मूल्य होगा। दुनियाभर की सरकारो के नोट इकट्ठे हो जायें, तो वे सारे-के-सारे नोट मिलकर भी रोटी का एक टुकडा नही बना सकते। पैसे की यह मर्यादा है। दो अनुत्पादक वस्तुएँ हैं—तलवार और तिजोरी। तिजोरीवाला तिजोरी बना नही सकता, रखता है। तलवारवाला तलवार से काटता है, लेकिन कोई तलवारवाला तलवार नही वना सकता। ये दोनों के दोनो अनुत्पादक हैं। पैसा जब तक वस्तु का प्रतीकात्मक प्रतिनिधि होगा, तब तक पैसे का मूल्य है। जिस दिन पैसा कम या अधिक मात्रा में वस्तु की जगह लेता है, उस दिन पैसा अपने में सौदे की वस्तु बन जाता है। इसे आज आप चलन का भाव कहते हैं। रुपयो का, डालर का भी भाव जब होता है, तब वह पैसा पैसा रहा या वस्तु

हो गया? रुपये का भी भाव जब होने लगता है, तब सिक्के और सौदे की चीज में फर्क ही क्या रह गया? उसका भी तो भाव होने लगा, वह नाप नही रहा। यानी विनोवा जैसे मजाक में कहा करते है, थर्मामीटर में भी तापमान रहने लगा।

चलन केवल विनिमय का संकेत है। यह विनिमय का साधन है। वह जिस अश मे वस्तु का प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व करता है, उसी अश में उसकी कीमत रखी जाती है। उसे विनिमय का माध्यम और वस्तु का प्रतीकात्मक प्रतिनिधि बनना होता है। वस्तु की जगह वह नही ले सकता।

लोगो ने गाधीजी से पूछा था और अब विनोवा से भी वे पूछते हैं कि "क्या आपका मतलब यह है कि वस्तुओ का विनिमय हो जायगा और वस्तु-विनिमय का कोई माध्यम नही होगा?" वस्तु-विनिमय चीजो की अदल-बदल को कहते हैं। मैंने जूता बनाया और आपके पास आया। आप कहते है कि "हमें तो जूते की जरूरत नही है।" मैं कहता हूँ कि "मुझे कपडे की जरूरत है।" आप कहते है, "मुझे जूते की जरूरत नही है, तुम्हें कपडे की जरूरत है, तो मैं क्या करूँ? तुम्हारा जूता मै नही ले सकता।" इसी आपत्ति को लोग हमारे सामने बार-बार रखा करते है।

सर्वोदय-समाज में कांचन-मुक्ति

सर्वोदय-समाज में काचन-मुक्ति की जो कल्पना है, वह वस्तु-विनिमय की कल्पना नही है। हम विक्रय और विनिमय, दोनो को समाज से उठा देना चाहते हैं। गाधी कहता है कि श्रम विनिमय की वस्तु ही नही रहेगा। परिश्रम के बदले में कोई कुछ नही लेगा। मेहनत का बदला कुछ नही। उत्पादक परिश्रम का बदला कुछ नही। बदले के लिए वस्तु नही बनेगी। वस्तु आवश्यकता के लिए बनेगी।

मान लीजिये, आपका गाँव किसानो का गाँव है। उसमें जूतो की ज्यादा जरूरत है, कुरतो की कम। इसलिए जूते ज्यादा बनते हैं, कुरते कम बनते है। ऐसी हालत मे जिसका जूते पर अधिकार है, उसे ज्यादा मिलेगा और जो कुरते बनाता है, उसे कम मिलेगा। आज वस्तु का उत्पादन माँग के अनुसार होता है। वस्तु का मूल्य माँग के पीछे-पीछे चलता है। परन्तु सर्वोदय-समाज में वस्तु आवश्यकता के लिए बनेगी, विनिमय के लिए नही। जितने जूतो की आवश्यकता होगी, उतने जूते चमार बनायेगा। जितने कुरतो की आवश्यकता होगी, उतने कुरते दरजी सियेगा। दरजी ने कुरते सी दिये, चमार ने जूते बना दिये। दोनो की आवश्यकताएँ पूरी होनी चाहिए। इसके लिए आप एक प्रतीक रख देंगे। अब वह आपकी चिट्ठी हो या कौडी हो या प्रत्यक्ष श्रम से

उत्पन्न कोई वस्तु हो, श्रमजन्य वस्तु हो, यह तो समाज की उस समय की परि-स्थिति पर निर्भर रहेगा। लेकिन वस्तु ऐसी होनी चाहिए कि जिसका संग्रह न हो सके। विनिमय का माध्यम ऐसा होना चाहिए कि जो अपने संग्रह की वस्तु न बने। पैसा जिस दिन संग्रह की वस्तु बन गया, उस दिन पैसा चलन नहीं रहा, पैसा संपत्ति बन गया। हम इतना ही चाहते हैं कि चलन चलन रहे, चलन संपत्ति न बने, चलन संग्रह की वस्तु न बने। यह बहुत मजे में हो सकता है।*

---

* विचार-शिविर में २४-८-'५५ का प्रातः-प्रवचन।

छोटे मालिक और क्रान्ति : ९ :

जिनको क्राति में हिस्सा लेना है, उनके सामने दो बातें साफ होनी चाहिए। एक तो यह कि अब इससे दूसरा कोई अच्छा रास्ता नही है, और दूसरी यह कि क्राति यदि सफल हो जाय, तो आज की हमारी जो हालत है, उससे हमारी हालत कुछ अच्छी ही रहेगी।

जो लोग आज भूमिहीन है, उनके बारे में हम कह सकते है कि यह बात ठीक लागू होती है। भूमिदान में उन्हे जमीन मिल जायगी। आज का उनका जो सामाजिक रुतबा है, वह कल ठीक हो जायगा। लेकिन जो छोटे-छोटे भूमि-मालिक है या छोटे बडे भूमि-मालिक है, उनके लिए यह चीज कैसे लागू होती है ? यह बात हमारे सामने विचार के लिए रखी गयी है।

आमूलाग्र परिवर्तन वांछनीय

हम आज सामाजिक प्रगति में एक ऐसे मुकाम पर पहुँच गये है कि आज की स्थिति जैसी है, वैसी नही रह सकती। इसे तो बदलना ही होगा। प्रश्न है कि इसके बदलने की दिशा क्या होगी ? इसकी बदलने की दो दिशाएँ दो तरह के लोगो ने हमारे सामने रखी है। सबको यह अवसर दे दो कि हरएक अपनी-अपनी पूरी ताकत लगाये और अपनी स्थिति सुधार ले। यानी जो जितना कमा सके, वह उतना कमा ले, ऐसा अवसर हरएक को दे दो। समाज में आज तक इसका प्रयोग हुआ। इसे हमने 'प्रति-योगिता' कहा, 'होड' कहा। इसका नतीजा यह हुआ कि कुछ लोग बहुत आगे निकल गये। जो आगे निकल गये, होड मे जीत गये। फिर वे सौ मे से दस ही क्यो न हो। वे अमीर बन गये और कुछ लोग होड मे पीछे रह गये। वे किसी समय परिस्थिति के कारण पीछे रह गये और फिर एक दफा जो पीछे रहे, सो रहे। फिर आगे निकलना बहुत मुश्किल हो गया, ऐसी परिस्थिति बनी। अत आज की परिस्थिति में आमूलाग्र परिवर्तन करना अनिवार्य हो गया है। इसलिए क्राति के सिवा दूसरा कोई चारा नही रह गया। आज जो क्राति हमें करनी है, वह सबके हित की होगी, सबके लाभ की होगी।

अब इसमे जो सबसे नीचे है, उस आदमी का लाभ तो समझ में आता है। लेकिन जो बीच में है, जो बिलकुल ऊपर भी नही है और बिलकुल नीचे भी नही है, ऐसे जो

छोटे-छोटे मालिक हैं, इनकी समस्या हमारे सामने सबसे बडी समस्या है। वर्गों का आज का जो नक्शा है, वह नक्शा ही ऐसा है कि सौ में गैर-मालिक दस होगे, वडे मालिक दस होंगे और वाकी के सब छोटे-छोटे मालिक हैं।

छोटे मालिकों की स्थिति

इन छोटे मालिको की स्थिति क्या है ? छोटी मालकियत अपने मे पर्याप्त नही है। यदि हरएक छोटे मालिक की मालकियत उसके अपने लिए पर्याप्त होती, तो आज समाज में हमें जो असतोप दिखाई देता है, वह दिखाई नही देता। आज छोटे-छोटे किसानो की क्या हालत है ? यही कि जिसके पास तीन-चार एकड जमीन है, उसकी यह कोशिश रहती है कि जमीन वढे। उन लोगों को हमे यह समझाना है कि तुम्हारे पास जितनी मालकियत है, वह मालकियत आज तुम्हारे लिए काफी नही है। इससे ज्यादा मालकियत अगर तुम चाहते हो, तो उसे हासिल करने की कोशिश में समाज में फिर प्रतियोगिता आयेगी। अभी तक प्रतियोगिता का जो नियम जारी रहा है, वही समाज में चलता रहेगा और आज की समाज-रचना को, जिसे आप वदल देना चाहते हैं,उसे वदलने में न हमें सफलता मिलेगी, न आपको। वडे मालिक को हम समझाते है कि वड़ी मालकियत अव रहनेवाली नही है, क्योकि वडी मालकियत तो इन छोटे मालिको के और मजदूरो के भरोसे चलती है। वडे मालिक की मालकियत उसके अपने भरोसे पर नही चलती।

अक्सर यह देखने में आता है कि वडा मालिक छोटे मालिक से यह कहता है कि "मालकियत जायगी, तो सिर्फ मेरी थोडी ही जायगी, तेरी भी तो जायगी। मेरे १०० एकड जायेंगे, तो तेरे १० एकड भी जानेवाले हैं।" और वह डरता है कि "मेरे दस एकड जायेंगे, तो क्या होगा ?" सौ एकडवाला कहता है कि "दस एकड वचाना है न, तो हम सव मालिक-मालिक एक हो जायें।"

सवाल है कि आखिर वे कैसे समझेंगे कि क्राति सफल होने के वाद हमारा लाभ होगा ? प्राय देखा जाता है कि मालिक चाहे एक एकड का हो, चाहे सौ एकड का, जव मौका आता है तव सव मालिक एक हो जाते हैं। अव हमें करना यह है कि गैर-मालिक और छोटे मालिक, इन दोनो को एक-दूसरे के साथ मिला दें। छोटे मालिक और गैर-मालिक यानी भूमि-हीन और छोटे किसान, इन सवको एक-दूसरे से मिला देने की प्रेरणा कहाँ से आयेगी ? उन्हें हम कैसे वतलायेंगे कि क्रान्ति यदि सफल हो जायगी, तो आज की तुम्हारी जो हालत है, उसमे तुम्हारी हालत अच्छी होनेवाली है ? यह वात हम उनके सामने कैसे रखें ? हमारे सामने अव इतना ही सवाल रह जाता है।

ढाँचा बदलना आवश्यक

सबसे पहली बात उन्हे हम यह समझाते है कि आज तुम्हारे पास जितनी मालकियत है, क्या वह मालकियत तुम्हारे लिए काफी है ? आज की तुम्हारी मालकियत बढेगी, तो तुम्हारे जैसे जो दूसरे छोटे मालिक हैं, उनकी भी मालकियत बढ सकती है। लेकिन इसका नतीजा यह होगा कि कुछ छोटे मालिक गैर-मालिक बनेंगे, तभी इन छोटे मालिको की मालकियत बढेगी। केवल बडे मालिको की मालकियत खतम हो जाने से छोटे मालिको की मालकियत नही बढती है।

एक दफा वेतन-आयोग ने मुझसे पूछा, "तुम क्या करना चाहते हो ?" मैंने कहा, "यही कि बडे-बडे लोगो की तनख्वाहें कम कर दी जायें।"

"कितनी तनख्वाहे चाहते हो ?"

मैंने कहा, "कम-से-कम सौ रुपया रखो, ज्यादा-से-ज्यादा हजार रुपया रखो। इससे ज्यादा जिसकी तनख्वाह हो, उसे कम कर दो और बाकी के लोगो मे बाँट दो। हजार से ज्यादा पानेवाले कितने हैं ?" तो सारे प्रान्त में कोई २५-३० लोग ही निकले। उनकी तनख्वाहें बाँटने से इनकी तनख्वाहें बढ नही सकती थी। इसलिए आज की नौकरियो की तनख्वाहो का ढर्रा ही आमूलाग्र बदलना पडेगा, यह बात सबके ध्यान में आ गयी।

स्कूल के मास्टरो और मेहतरो, दोनो ने हडताल की कि हमारी तनख्वाहे बढ जानी चाहिए। मुझसे सरकारी अधिकारियो ने सलाह ली कि "तुम होते, तो क्या करते ?"

मैंने कहा कि "मै होता तो कुछ ऐसा काम करता कि आप मुझे महमूद तुगलक कहते।"

पूछा, "सो कैसे ?"

मैंने कहा कि "इन मास्टरो मे से एक को मै म्युनिसिपैलिटी का अध्यक्ष बनाकर कह देता कि अब तुम तनख्वाह बढा दो। मेहतरो की हडताल होती, तो एक मेहतर को उपाध्यक्ष बनाकर उनसे कहता कि अब तुम दोनो मिलकर तनख्वाह बढाओ। तब वे कहते कि इस म्युनिसिपैलिटी का ढाँचा ही बदलना चाहिए।" आज म्युनिसिपैलिटी की जैसी रचना है, जिस तरह से हमें तनख्वाहें दी जाती हैं, ये सारी रचनाएँ ही हमें बदलनी होगी।

मालकियत का बँटवारा हो

आज छोटे मालिक के मन मे यह स्वप्न है, उसे यह आशा है कि मै अपनी मालकियत

को आज के समाज में बढा सकता हूँ। उसे यह समझा देना है कि तेरी (सभी छोटे मालिको की) मालकियत तो बढ ही नही सकती और जिन छोटे मालिको की मालकियत बढेगी, उसके कारण आज जो छोटे मालिक है, वे गैर-मालिक बनते चले जायेंगे। वे अगर गैर-मालिक बनते चले जायेंगे, तो तेरे मन मे जो झगडा है, वह सारे समाज के मन में पैदा हुए बिना नही रहेगा। इसलिए तुझे अपनी छोटी मालकियत दूसरे छोटे मालिको के साथ मिला देनी चाहिए और गैर-मालिको को अपनी छोटी मालकियत मे शामिल कर लेना चाहिए। आज की तेरी जो हालत है, उससे कही बेहतर हालत हो सकती है। आज तो तेरी मालकियत निर्वाह के लिए भी काफी नही है, लेकिन उस दिन जब सारी छोटी मालकियते मिल जायँगी, तो सबका मिलकर जो उत्पादन होगा, उसके वितरण मे आज की अपेक्षा अधिक न्यायसगत वितरण की योजना बन सकती है। आज तो अपने लिए केवल तू ही जिम्मेवार है, उस दिन सब सबके लिए जिम्मेवार हो सकते है। इस प्रकार की एक प्रेरणा छोटे मालिको के मन में हम पैदा करते है और मेरा अपना अनुभव है कि पढे-लिखे लोगो को यह समझने में भले ही थोडी-बहुत दिक्कत हो, गाँव के आदमी जो छोटे मालिक है, छोटे किसान है, उनकी समझ मे हमारी बात बहुत जल्दी आ जाती है।

क्रान्ति के अनुकूल भूमिका

गरीब आदमी और छोटा किसान जमाने की आकाक्षा के कारण इतना तो जरूर समझ लेता है कि इस क्राति मे कोई ऐसी बात है, जिससे मेरे साथ जो छोटे मालिक है, वे आज से अच्छी हालत मे रहनेवाले है। अपनी, या हरएक की अपनी-अपनी हालत आज या कल अच्छी होगी, यह प्रेरणा कम होती है, अधिक प्रेरणा यह होती है कि जिस वर्ग मे मै रहता हूँ, मेरे जैसे जो दूसरे आदमी है, उनकी कल क्या हालत होगी? इसका विचार जब मनुष्यो के मन मे पैदा होता है, तब 'क्राति के लिए अनुकूल भूमिका और अनुकूल सगठन' उत्पन्न होता है। हरएक व्यक्ति जब अपना ही अपना विचार करता है, तो उसमें से क्राति नही होती। क्राति तब होती है, जब हर आदमी अपने साथ अपने-जैसे दूसरे आदमियो का विचार करता है और वह इसलिए करता है कि सबको मिलकर एक-दूसरे का सरक्षण करना है। एक दिन सारे रिक्शेवाले एक हो जाते है, सारे ताँगेवाले एक हो जाते है, सारे मालिक एक हो जाते है, और इसलिए एक हो जाते है कि उनमें एक प्रकार की समानता होती है। छोटे मालिको में यह जो समानता है, उसके आधार पर हम उन्हें समझाते है कि आज तुम छोटे मालिक हो, लेकिन छोटे मालिको में भी छोटे-बडे है ही। छोटो में भी जो छोटे-बडे है, उन सबको समान बनाने का इसके सिवा कोई दूसरा रास्ता नही है।

समाज में क्रान्ति हो

कुछ भूमिहीन मजदूर आज ऐसे हैं, जिन्हें दिन में दो-दो, तीन-तीन रुपये मिल जाते है। वे हमसे कहते हैं कि "हमें तो आज महीने में १०० रुपये मिल जाते है और तुम्हारी जमीन आयगी, तो मेहनत-मशक्कत भी करो और इसके बाद भी बडी मुश्किल से जो उपज होगी, वह १०० रुपये महीने के बराबर तो होगी ही नही। इसलिए हमें जमीन नही चाहिए। हम तो नागपुर में रिक्शा चलाते है, वही अच्छा है।"

ऐसे मजदूर को समझाना बहुत मुश्किल हो जाता है। उसे यह समझाना पडेगा कि इस रिक्शे का आज जो किराया तुझे मिलता है, वह किराया कितने दिनो तक मिलता रहेगा? यह किराया देनेवाले लोग समाज में कितने दिन रह सकेंगे और उनकी तनख्वाहो की कितनी निश्चितता है? ये सारी बातें जब हम उनके सामने रखते हैं, तब रिक्शावालो के यूनियन मे पहले तो रिक्शे का किराया बढने की माँग होती है और उसके बाद यह माँग होती है कि इस समाज में ही क्राति होनी चाहिए।

आज रिक्शावालो की यूनियन का कहना है कि जब तक ताँगे चलेंगे, तब तक हमारा काम नही चलेगा। किसान कहता है, "अनाज सस्ता हो गया, हम मर गये।" मजदूर कहता है, "अनाज सस्ता हो गया, हम तर गये।" इस तरह के अन्तर्विरोध सिर्फ अमीरो और गरीबो के ही बीच में, मालिको और मजदूरो के ही बीच मे नही हैं। पूंजीवाद के कारण, प्रतियोगिता के कारण, जितने अन्तर्विरोध हैं, वे समाज के अन्तिम स्तर तक, छोट-से-छोटे स्तर तक चले गये है। उनको हम उन्हीकी भाषा मे समझायें और अब तक का अनुभव यह है कि उनकी भाषा में हम यह बात उन्हे समझा सकते है। इस देश का आदमी बहुत चतुर है। विनोबा हमेशा कहते हैं कि हमारे देश का आदमी तो ऐसा है कि वह ब्रह्म और माया को समझता है। फिर वह भला यह नही समझ सकेगा कि गरीबी किस तरह से खतम होती है, अमीरी किस तरह से खतम होती है? जड की बात, मूल बात बडी जल्दी उसकी समझ में आ जाती है। उसे समझाने के लिए हम नैतिक और सास्कृतिक प्रेरणा का भी उपयोग कर सकते हैं। विनोबा तो धार्मिक प्रेरणा का उपयोग कर ही रहे हैं। देहाती के दिल में आकाक्षा के अनुरूप क्राति की प्रेरणा जितनी होती है, उतनी क्राति का सदेश बगैर भाषा के भी उनकी समझ में बहुत जल्दी आ जाता है।*

---

* श्री मनुभाई पचोली और श्री वजुभाई शाह के प्रश्नों के उत्तर में २४-८-'५५ का प्रवचन

राजनीति—सम्प्रदायवाद : जातिवाद

हमारा मल सिद्धान्त है—भेद से अभेद की ओर जाना। भेद से अभेद की ओर जाने का आरम्भ ममता (ममत्व) से होता है और उसका पर्यवसान तादात्म्य में होता है। अर्थनीति, राजनीति, समाजनीति, सभीमें हमारा यह सिद्धान्त अनुगत रहेगा। हम इस सिद्धान्त के आधार पर ही सारे सुधार और क्रान्तियो का विचार करेंगे। लोकशाही का आधार भी हम इसे मानते हैं।

एकता का स्फुरण

आखिर एक मनुष्य दूसरे के साथ रहना चाहता है, इसका आधार क्या है ? आधार यही है कि वह दूसरे के साथ अपनी एकता का अनुभव करता है और यह अनुभव भी उसका बुद्धिपूर्वक नही है, सहज है। यह एकता का ज्ञान एकता का प्रबोध नही है। यह 'एकता की चेतना' नही है। इसे 'एकता का स्फुरण' कहते हैं। स्फुरण से तात्पर्य है, जैसे—'मैं हूँ' इसका भान। मनुष्य बाहर जाने के समय यह नही सोचता कि 'मैं हूँ कि नही' यह पहले देख लूं, फिर बाहर जाऊँ। 'मैं हूँ' का स्फूरण 'नित्य स्फुरण' है। इसी तरह से दूसरे के साथ अपनी एकता का स्फुरण नित्य स्फुरण है।

इसका आरम्भ ममता से होता है। मैत्रेयी से याज्ञवल्क्य ने कहा था—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'—अपने लिए सभी कुछ प्रिय है। जब कोई मर जाता है, तो हम कहते है कि उसके लिए तो ठीक हो गया, पर हम अपने लिए रो रहे हैं। अर्थात् हमारा उसके साथ जो सबध था, उसके लिए हम रो रहे हैं। हमारी जो ममता थी, उसके कारण हम रो रहे हैं। यह आरम्भ की भावना हो गयी।

अब हम देखें कि तादात्म्य की भावना में क्या है ? वह आपको क्यो प्रिय है ? इसीलिए कि आत्मरूप से आप-वह एक ही है। आपमें और उसमें मूलभत एकता है। अत. आप दोनो एक-दूसरे के साथ एकता का अनुभव करते हैं। जहाँ से आरम्भ हुआ, वह 'नैतिकता' है और जहाँ उसकी परिसमाप्ति होती है, उसे 'मोक्ष' कहते हैं, 'आध्यात्मिक अनुभूति' कहते है, 'अपरोक्षानुभति' कहते हैं।

लोकसत्ता और लोकनीति

यह जो तादात्म्य का अनभव है—यह राज्यातीत स्थिति का आधार होता है।

लोकसत्ता का आरम्भ ममत्व से होता है। और जिसे हम 'राज्यातीत स्थिति' या 'शासन-मुक्ति' कहते हैं, का आधार इस अवस्था में होता है कि सभी लोग एक-दूसरे के साथ अपनी एकता अनुभव करते हैं। फिर किसीका राज किसी पर नही रहता। मेरा राज आप पर नही, आपका राज मुझ पर नही। अपना राज अपने पर। 'आपणें' शब्द गुजराती है। 'आपणें'—जिसमे 'मैं' और 'तू', दोनो एक हो जाते हैं। जो 'मैं' का भी बहुवचन नही है और 'तू' का भी बहुवचन नही है। 'मैं' और 'तू' दोनो मिलकर जो बहुवचन है, उनका राज्य 'लोकसत्ता' कहलाता है। हिन्दी मे 'अपन' शब्द पहले था, लेकिन अब 'अपन' के लिए 'हम' शब्द आ गया। 'अपन चलें'—मैं और तू, दोनो चलें यह आज देहाती प्रयोग माना जाता है। खडी बोली से यह 'अपन' चला गया। उसके स्थान पर कहते हैं—'हम चलें'। यह जो 'अपन' का राज्य और 'अपन' की सत्ता है, यही 'लोकसत्ता' कहलाती है। अर्थात् जिसमें 'मैं' और 'तू' का भेद समाप्त हो जाता है। मेरी सत्ता तुम पर नही, तुम्हारी सत्ता मुझ पर नही। अपनी सत्ता अपने पर। यही वास्तविक 'लोकसत्ता' कहलाती है। इस लोकसत्ता का विचार जिस नीति में होता है और इस लोकसत्ता की आधारभूत जो नीति होती है, उसे हम 'लोकनीति' कहते हैं। लोकनीति का अन्त कभी नही होता। राजनीति का अन्त हमारा उद्दिष्ट भी है, हमारा इष्ट भी है।

राज्यशास्त्र की आकांक्षा

राज्यशास्त्र के हर ग्रन्थ के अन्त में यह आकाक्षा प्रकट की जाती है कि एक दिन वह आये, जब कि राज्य की आवश्यकता ही न रहे। कम्युनिस्ट या सोशलिस्ट जिसे राज्य का स्वत सूखे पत्तो की तरह झड जाना कहते है, वह अलग सिद्धान्त है। लेकिन राज्यशास्त्र में हर ग्रन्थकर्ता की यह अन्तिम आकाक्षा रहती है कि भगवान् वह दिन कभी आये, जिस दिन राज्य की समाप्ति हो जाय। राज्यशास्त्रियो ने यह कल्पना कर ली है कि विश्व में एक दिन ऐसा था, जब राज्य-सस्था नही थी। जैसे जाति-भेद के विषय में कल्पना है कि एक दिन ऐसा भी था, जब कोई जाति ही नही थी। एक ही जाति थी। किसी युग में ऐसा था, ऐसा मानते हैं। राज्यशास्त्रियो ने यह माना। हाब्स ने ऐसा माना है कि मनुष्य की कभी ऐसी एक प्राकृत अवस्था थी। जैसे हमने सत्ययुग माना। बाइबिल ने माना कि सभी मनुष्य कभी-न-कभी निरपराध थे। जब पैदा हुए थे, तब आदम और हौआ, दोनो निरपराध थे। उसी तरह कभी ऐसी स्थिति थी कि राज्य-सस्था थी ही नही। उसके बाद मनुष्यो में विकार पैदा हुए, स्वार्थ पैदा हुए। इसलिए राज्य-सस्था की आवश्यकता पैदा हुई। राज्य-सस्था का प्रयोजन क्या है? प्रयोजन यह है कि फिर से ऐसी स्थिति उत्पन्न हो कि राज्य-सस्था की आवश्यकता

न रहे। लोगो का यह खयाल है कि यह एक असम्भव कल्पना है। चाहे असमव हो या सभव, लेकिन राज्य-सस्था का उद्देश्य यही है कि एक दिन ऐसा आये, जिस दिन लोगो को राज्य-शासन की आवश्यकता ही न रहे। शासन किसलिए है ? लोगो को शासनातीत बनाने के लिए। यह राज्य-शासन का शास्त्रीय प्रयोजन है। वैद्य से पूछते है कि 'वैद्यशास्त्र का शास्त्रीय प्रयोजन क्या है ?' तो कहता है कि ऐसी स्थिति पैदा हो कि दवा की आवश्यकता ही न रहे। रामवाण दवा वह है, जिसे एक वार लेने के वाद फिर से लेने की आवश्यकता नही रहती। राज्यशास्त्र में वह शासन-पद्धति अच्छी समझी जाती है कि जिस शासन-पद्धति के वाद फिर शासन की ही आवश्यकता न रहे। राज्यशास्त्र इसीलिए है कि मनुष्यो मे इतना अनुशासन आ जाय कि शासन की आवश्यकता न रहे।

नागरिको मे जव एक-दूसरे से भय पैदा होता है, तव राज्य-व्यवस्था की आवश्यकता होती है। जव इस भय का निराकरण हो जाता है तथा नागरिको मे परस्पर विश्वास की स्थापना हो जाती है, तव राज्य-शासन की आवश्यकता नही रहती। राज्य-सस्था एक अनिवार्य आपत्ति मानी जाती है। आज अनिवार्य है, इसका तात्पर्य यह नही कि वह हमेशा अनिवार्य वनी रहेगी।

अप्राकृतिक विभाजन

मनुष्य के आदर्श हमेशा नैतिक या पारमार्थिक होते है, राजनैतिक या अर्थनैतिक नही। आज तक हुआ क्या है ? दार्शनिको ने इस विश्व को केवल समझने की ही चेष्टा की। जैसी सृष्टि हमारे सामने है, इस सृष्टि को समझने की चेष्टा दार्शनिको ने की और उन्होंने अपने प्रयत्नो के परिणाम हमारे समक्ष रखे। वैज्ञानिको ने प्रकृति के नियमो का केवल साक्षात्कार किया, केवल शोध किया, किन्तु विश्व को वदलने का काम किनके हाथो में रह गया ? अर्थशास्त्रियो के भी नही, राज्य-नेताओ के हाथ मे, जो न तो दार्शनिक थे, न वैज्ञानिक। दर्शनमूढ और विज्ञानमूढ लोगो के हाथो मे समाज और सृष्टि को वदलने का काम आया। आज दार्शनिक अलग है, वैज्ञानिक अलग है और नागरिक अलग है। यह विभाजन ही अप्राकृतिक है, अवैज्ञानिक है, सर्वथा कृत्रिम है। यह मनुष्य के जीवन मे व्यर्थ ही हवावन्द दरवे वना देता है। उसके व्यक्तित्व को समग्र के स्थान पर वहुव्यक्तित्व में वदल देता है। इस प्रकार का व्यक्तित्व लोकसत्ता का आधार नही हो सकता। इस विच्छिन्न व्यक्तित्व में से लोकसत्ता का निर्माण नही हो सकता।

राजा विष्णु का अवतार

सस्कृत के एक श्लोक में कहा गया है कि जो राजा का कार्य करता है, उसे जनता

नही चाहती। जो जनता का काम करता है, उसे राजा छोड देता है। '**इति महति विरोधे, नृपतिजनपदानाम् दुर्लभः कार्यकर्ता।**' ऐसा महान् विरोध है। इसलिए राजा का भी काम करे और प्रजा की भी भलाई करे, ऐसा कार्यकर्ता बहुत दुर्लभ होता है। नरपति का हित अलग है और जनपद का हित अलग है। इन दोनो का समन्वय करने-वाले कार्यकर्ता को 'राजनीति-निपुण' कहते हैं। उसे इधर भी सँभालना है और उधर भी सँभालना है। लेकिन होना यह चाहिए कि राजा का हित गौण और प्रजा का हित मुख्य हो और एक दिन ऐसा आना चाहिए कि जिस दिन राजा का हित प्रजा के हित में विलीन हो जाय। लेकिन हो गया उल्टा। राजा को विष्णु का अवतार समझा गया। 'विष्णु के सिवा पृथ्वी का पति कोई नही', शायद ऐसा कहा गया होगा। पर राजनीति-निपुण लोगो ने उसका अर्थ यह कर लिया कि पृथ्वी का जो मालिक है, वह विष्णु ही है। एक प्रमेय बना दिया कि जो-जो पृथ्वी का मालिक है, जमीदार से लेकर तख्त पर बैठे हुए बादशाह तक, सब विष्णु ही हैं। इस अधिकार को लोग 'ईश्वरदत्त अधिकार' कहने लगे। विष्णु का अवतार हो जाने के कारण काल पर भी राजा की सत्ता चलने लगी। केवल पचतत्त्वो ही पर नही, सृष्टि पर ही नही, जमाने पर भी उसका शासन चलने लगा। कहा जाने लगा—अकबर का जमाना, औरगजेब का जमाना। '**कालो वा कारणं राज्ञः, राजा वा कालकारणम्। इति ते संशयो मा भूत् राजा कालस्य कारणम्।**' राजा ही काल का कारण है और फिर '**यथा राजा तथा प्रजा।**' मनुष्य ने एक बार एक भूमिका को स्वीकार कर लिया। फिर सूत्र के बाद सूत्र बनते गये। फल क्या हुआ? यही कि जिन्हें हम 'लोक' कहते हैं, उसमें कोई शक्ति नही, लोक का कोई अस्तित्व नही और लोक की कोई सत्ता नही। सत्ता का असली अर्थ है 'प्रभावशाली अस्तित्व।'

राज्य का अधिष्ठान : लोकसत्ता

मैंने हवाई जहाज में एक नौजवान से कहा कि "मुझे खिडकी के पास बैठने दो।"

उसने कहा, "बाहर अँधेरा है, क्या देखोगे?"

मैंने कहा, "अँधेरा ही देखूँगा।"

अब वह हैरान है। बोला, "अँधेरा क्या देखोगे? आँखें बन्द कर लो, तो अँधेरा ही दिखाई देगा।"

मैंने कहा, "जिसकी आँखे बन्द होती हैं, उसे तो रोशनी भी नही दिखाई देती और अँधेरा भी नही दिखाई देता।"

आँखें बन्द करने से कुछ अँधेरा दिखाई नही देता है। आँखें खुली रहने से अँधेरे को आदमी देखता है, क्योकि आँख में रोशनी होती है। अँधेरा, मेरी आँखो मे जो रोशनी है, उससे प्रकाशित होता है। यही 'सत्ता' कहलाती है।

अँधेरे पर भी प्रकाश की सत्ता होती है। जब अँधेरा प्रकाशित होता है, दिखाई

देता है, नही तो अँधेरा दिखाई ही नही देता। यदि पूछा जाय कि "अँधेरा है, यह आपने कैसे जाना ?" तो कहा जाता है कि "दिखाई दे रहा है। पर यदि हम उसे लालटेन लेकर देखते है, तो वह गायब हो जाता है।"

अँधेरे के पीछे जो सत्ता है, वह प्रकाश की है। इस तरह से हम भगवान् की सत्ता मानते है। राज्य के पीछे जो सत्ता होती है, वह लोगो की सत्ता होती है। सामाजिक इकरारनामे का जो सिद्धान्त है, उसके मूल मे यह बात है कि राज्य चाहे जितना प्रभावशाली हो, राजा चाहे जितना बडा हो, उसका अधिष्ठान हमेशा 'लोकसत्ता' है। लोगो की सरकार हो या न हो, पर लोकसत्ता यदि न हो, तो राजा का अस्तित्व ही नही। इस बात को सब भूल गये थे। फल यह हुआ कि राजा के हाथ में सब अधिकार सौंप दिये। उसे अपना कल्याणकर्ता माना। कल्याण करने का अधिकार भी हमने उसे दे दिया।

राजा को अनियन्त्रित अधिकार

बचपन में हमने एक कहानी पढी थी कि एक बडा जमीदार था। वह सवेरे उठ नही सकता था। घटियाँ बजती थी, लोग उसे उठाते थे, पर वह उठता नही था। बडा आदमी था। एक दिन उसने अपने नौकर से कहा, "मै कल से सवेरे घूमने जाना चाहता हूँ। तू मुझे सवेरे उठा दिया कर। तभी तुझे तनख्वाह मिलेगी।"

दूसरे दिन नौकर ने उसे बहुत पुकारा, पर वह जगा ही नही।

उठने पर नौकर से बोला, "तूने मुझे जगाया ही नही ?"

नौकर ने कहा, "हुजूर, मैंने आपके कान के पास आकर आवाज दी, पर आप उठे ही नही।"

"फिर तेरी तनख्वाह नही मिलेगी !"

तीसरे दिन नौकर ने जाकर उसे खूब हिलाया-डुलाया, फिर भी वह नही उठा।

चौथे दिन नौकर ने उस पर पानी उँडेल दिया। इस पर वह उठा और नौकर को एक तमाचा मारकर फिर सो गया।

पाँचवे दिन नौकर ने फिर उस पर पानी उँडेला और जब वह उठा, तो नौकर ने ही उसे एक तमाचा लगा दिया। दोनो में कुश्ती हो पडी। तब वह उठ खडा हुआ और उसने यह बात मजूर की, "हाँ, आज तूने मुझे जगाया है !"

इसी तरह का राज्यसत्ता का आधार है। इसे 'दड' कहते है। हमने राजा को यह सत्ता दी। लेकिन हमने अपने को इतना गाफिल और बेवकूफ समझ लिया कि राजा से कह दिया कि "हमारा कल्याण करने की सारी सत्ता हम तेरे हाथ में देते है, कल्याण करने के लिए हम यदि स्वय तैयार न हो, तो तू मार-मारकर हमारा कल्याण कर।

लेकिन, कल्याण का ठीका तेरा है।" यह अनियन्त्रित सत्ता हमने राजा को दे दी। इसे हम 'अनियन्त्रित राजसत्ता' कहते हैं।

तीन सिद्धान्त-शास्त्री

इस सिद्धान्त के निर्माताओ मे तीन नामो का बडा महत्त्व है—हाब्स, लॉक और रूसो। इन्हीकी बदौलत राज्यशास्त्र का व्यापक विकास हुआ है। इनके बाद मार्क्स का प्रमुख स्थान है।

हाब्स—'अनियन्त्रित राजसत्तावादी'।

लॉक—'नियन्त्रित राजसत्तावादी'।

रूसो—'लोकसत्तावादी'। राजसत्ता का निराकरण और लोकसत्ता की स्थापना का आरम्भ।

मार्क्स ने 'लोकसत्ता' शब्द का प्रयोग नही किया, उसने उसे 'दलित मानव की सत्ता', 'दलित अधिराज्य' नाम दिया। उसका असली अर्थ था 'गरीबो का लोकतन्त्र'।

लोकसत्ता का मूल

अब प्रश्न यह है कि इन विचारो की जड कहाँ है? इनमे विरोध कैसे पैदा हुआ? लोकशाही की जड कहाँ है?

हर अच्छे आदमी में कुछ-न-कुछ बुराई होती है। लेकिन दुनिया मे जो बात मानी नही जाती और जो मानी जानी चाहिए, वह यह है कि हरएक दुष्ट मे कुछ-न-कुछ अच्छाई होती है। यह लोकसत्ता का आधार है। जजीर की जो सबसे कमजोर कडी होती है, वह कडी जजीर की मजबूती बतलाती है। साधारण नागरिक लोकसत्ता का आधार है। लोकसत्ता की विभूति है—सर्वसाधारण मनुष्य, जन-समुदाय नही। 'समुदाय' बिलकुल भिन्न चीज है। भीड मे मनुष्य खो जाता है। चतुर समाजवादी और साम्यवादी 'समूह' नही कहते, 'लोग' 'जनता' कहते है।

'लोक' की व्याख्या

शकराचार्य ने 'लोक' की बडी सुन्दर व्याख्या की है—'लोक्यते इति लोकः'। 'लोकयति इति लोक.'। अर्थात् जो दिखाई देते है और जो देखनेवाले है, वे दोनो 'लोक' हुए। जिनके आँखे है, वे लोक है अर्थात् उनमे अपनी चेतना भी होनी चाहिए। मनुष्य केवल एक पिण्डमात्र नही है, उसमे अपनी भी कुछ दृष्टि, अपनी भी कुछ चेतना होनी चाहिए। दोनो बाते उसमे होनी चाहिए। अर्थात् सबको दिखाई भी दे और खुद देखने की शक्ति भी रखता हो। आज क्या है? आज केवल दिखाई देता है, पर देखने की शक्ति उसमे है, यह कोई नही मजूर करता।

लोकसत्ता का आधार

प्रश्न है कि लोकसत्ता में होना क्या चाहिए ? लोकसत्ता मे दो बातें आती हैं—उसमे सबके लिए व्यवस्था हो। लेकिन सबके लिए व्यवस्था होना ही पर्याप्त नही है। उस व्यवस्था में सबका हिस्सा भी हो, सबका त्याग भी हो। सबका हिस्सा है 'वोट', मत और सबका त्याग है 'टैक्स', कर। सोचने की बात है कि 'कर' का सिद्धान्त कहाँ से आता है ? 'कर' क्यो लेते हैं ? इसीलिए लेते हैं कि उसमे सबका त्याग हो, सबका हिस्सा हो। सबका अधिकार होना चाहिए, इसलिए 'वोट' है। 'वोट' अधिकार का प्रतीक है, 'कर' त्याग का। हर नागरिक का त्याग भी हो, हर नागरिक का अधिकार भी हो। व्यवस्था सबके लिए हो, किसी एक के लिए नही। १०० मे से ९० के लिए भी नही।

आस्तिकता या मानव-निष्ठा

लोकसत्ता का आधार क्या है ? यही कि साधारण-से-साधारण नागरिक मे भी सत्प्रवृत्ति है, दुर्जन-से-दुर्जन व्यक्ति मे भी ईमान है। जो सबसे बेईमान, दुष्ट और शोहदा समझा जाता है, उसमे भी ईमान है। समाज मे कुछ अच्छे लोग हैं, कुछ बुरे। अच्छे लोगो में बुराइयाँ हैं और बुरे लोगो मे अच्छाइयाँ हैं। इसीलिए लोकसत्ता के लिए आधार है और अवकाश है। यह बात जो नही मानता, वह लोकसत्ता को नहीं मानता। यदि कोई व्यक्ति यह नही मानता कि साधारण नागरिक सत्प्रवृत्त है, दूसरी रुकावटे उसमें न हो, तो उसकी प्रवृत्ति अच्छी ही रहेगी और दुष्ट-से-दुष्ट मनुष्यो मे भी कुछ सद्‌गुण होते हैं, तो वह व्यक्ति भले ही बहुत बडा नैतिक पुरुष हो, आध्यात्मिक पुरुष हो, सहृदय हो, दयावान् हो, फिर भी वह लोकसत्तावादी नही है। उसका लोकसत्ता में विश्वास नही है। लोकसत्ता में जिसका विश्वास होगा, उसमे ऐसी श्रद्धा, निष्ठा होनी चाहिए कि जो गुनहगार या समाजद्रोही समझे जाते हैं, समाज जिन्हे बहिष्कृत मानता है, उनमे भी मानवता का अश छिपा हुआ है। लोकसत्ता के सदर्भ मे इसे 'आस्तिकता' या 'मानवनिष्ठा' कहते हैं। मनुष्य मे निष्ठा का अर्थ ही है—लोकनिष्ठा, मानवनिष्ठा। यही आस्तिकता है।

देवों और राक्षसों की परम्परा

समाज के विकास मे एक ऐसा मुकाम आया, जहाँ से लोकसत्ता का आरम्भ हुआ। लेकिन उसका अधिष्ठान मनुष्यो के स्वभाव मे है। उसका अधिष्ठान हमारी परपरा मे है। नही तो उसका आरम्भ नहीं हो सकता था। हमें देखना है कि हमारी परम्परा में यह अधिष्ठान कहाँ है ? संस्कृत भाषा मे शैतान के लिए कोई शब्द नही है। 'राक्षस', 'दानव', 'दैत्य' ऐसे अनेक शब्द हैं, लेकिन हमारे इन राक्षसो, दानवो और दैत्यो में कुछ

तो देवो के ही सौतेले-मौसेरे भाई थे और इनमे से बहुत-से तो देवभक्त और शिवभक्त भी थे। ये लोग शैतान नही हो सकते। शैतान के मुकाबले में इनकी कोई हस्ती नही है।

सोचने की बात है कि जिसकी कोख से कृष्ण पैदा हुआ, वह भी कस की बहन हो सकती है। जिसकी कोख से प्रह्लाद पैदा हुआ, वह एक राक्षस हो सकता है। और जिसकी कोख से रावण पैदा हुआ, वह एक तपस्वी ब्राह्मण हो सकता है। यदि किसीने दानवो को और राक्षसो को एक पृथक् योनि मान लिया है, तो वह 'नास्तिक' है। तपस्वी पतित होता है, तो राक्षस हो जाता है। कस, शिशुपाल, हिरण्यकश्यपु, हिरण्याक्ष, रावण-कुम्भकर्ण, ये विष्णु के द्वारपाल जय-विजय थे। ये शाप-भ्रष्ट तपस्वी थे। इसलिए राक्षसो की कोई अलग योनि नही मानी गयी है। पुराणो में वर्णन आता है कि जो-जो राक्षस मरा, वह मरते ही भगवान् में समा गया। उसमें से ज्योति निकली और विष्णु में समा गयी। शिशुपाल का शिरच्छेद होते ही ज्योति निकली और भगवान् में समा गयी। कस मरा, ज्योति निकली और कृष्ण में समा गयी। रावण से ज्योति निकली, राम मे समा गयी। इसके बाद रावण और राम एक हो गये। यह शरीर ही उनके बीच में था। यह एक 'आस्तिकता' है और बहुत बडी आस्तिकता है। हमारे यहाँ शैतान के लिए भी भगवान् की सत्ता की आवश्यकता होती है। प्रकाश के बिना अँधेरा दिखाई नही देता। भगवान् की सत्ता न हो, तो शैतान दिखाई नही देता। शैतान का अपने मे स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। बुराई अभावरूप है, दुर्गुण अभावरूप है। सद्गुण भावरूप है। इसलिए सारे दुर्गुण सद्-गुणो के आधार पर जीते है। दुर्गुण अपने आधार पर कभी जी नही सकता। उसे सद्गुण का आधार लेना पडता है। शैतान जीता है, तो भगवान् के आधार पर जीता है। इसे 'आस्तिकता' कहते हैं। यह लोकसत्ता का आधारभूत तत्त्व है।

आस्तिकता की व्याख्या

पहले वैदिको को 'आस्तिक' कहते थे। निरीश्वरवादी हो, पर वैदिक हो, तब भी 'आस्तिक' कहलाता था। ईश्वरवादी यदि वेदो को न मानता हो, तो 'नास्तिक' कहलाता था। इसके बाद ईश्वरवादी 'आस्तिक' कहलाने लगा, निरीश्वरवादी 'नास्तिक' कहलाने लगा। आज लोकसत्ता के संदर्भ में आस्तिक वह है, जिसका मनुष्य की मूलभूत सत्प्रवृत्ति में विश्वास है, जो यह मानता है कि मनुष्य मूलतः सत्प्रवृत्त है और परिस्थितिजन्य विकारो से ही वह दुष्ट होता है। दुनिया में नष्ट, खोया हुआ, कोई नहीं है। सबका उद्धार हो सकता है। लोकसत्ता में सब लोग नागरिक बन सकते हैं।

आस्तिकता की व्याख्या हुई—दुर्जन की भी सत्प्रवृत्ति में विश्वास, सामान्य मनुष्य की सत्प्रवृत्ति में मूलभूत श्रद्धा। हर दुर्जन में कुछ ईमान होता है। चोरो में भी ईमान होता है। सटोरियो में कोई कागज, कोई दस्तावेज होती है? रूमाल के नीचे उनका हाथ होता है और न मालूम क्या करते हैं। लेकिन वे एक-दूसरे में ईमान रखते हैं। सोचने की बात है कि बाजार मे सटोरिये लोग सत्याचरण कर रहे है। चोर सब ईमान के भरोसे चोरी करते हैं। उनका एक-दूसरे पर विश्वास होता है। तो सटोरियो में जो ईमान है और चोरो मे जो ईमान है, वह क्या प्रतिष्ठित नागरिको में नही आ सका? वह इसीलिए नही आता कि मनुष्यो ने अपने को सप्रदायो मे बाँट लिया है, लोकसत्ता को जैसे तमाशा बना दिया है।

पक्ष और लोकसत्ता

बर्नार्ड शॉ ने इसका बडा सुन्दर वर्णन किया है—'हरएक के द्वारा चुना गया हर कोई', यह आज की लोकसत्ता का स्वरूप है। हरएक को चुनने का अधिकार है और हर किसीको उम्मीदवार होने का अधिकार है। अब लोकसत्ता लोगो की नही, उम्मीदवारो की है। लोग कहते हैं कि अगर 'पक्ष' नही है, तो लोकसत्ता ही नही है और अगर उम्मीदवारी नही है, तो लोकसत्ता ही नही है। आज की राजनीति में सारे पक्ष एक-दूसरे के दोषो का विचार करते है, लोकहित का या समस्याओ के समाधान का विचार गौण हो जाता है।

चुनाव का युद्ध

पक्षसत्ता से मनुष्य की मनोवृत्ति बँट जाती है, उसका सप्रदाय बन जाता है और फिर नागरिकता उम्मीदवारी में परिणत हो जाती है। और फिर चुनाव 'लडा जाता' है। अमेरिकावाले कहते हैं—"मै चुनाव में 'दौड़' रहा हूँ।" वह उस चुनाव को 'रेस', (घुडदौड) समझ रहा है। कोई उसे दौड समझता है, कोई कुश्ती। हमारे विनोबा कहते हैं—"ऐसा करो भाई, दौड भी छोड़ दो, लडाई भी छोड दो। चुनाव 'लड रहा हूँ' मत कहो, चुनाव 'खेल रहा हूँ' कहो। कम-से-कम यहाँ से आरम्भ करो, तो कुछ ठीक होगा। 'चुनाव खेलना' कहोगे, तो इससे कम-से-कम तुम्हारी मनोवृत्ति में तो अन्तर पड ही जायगा।"

हरबोंग का राज्य

आज की लोकसत्ता कैसी है? हर कोई चुना जाता है और सब लोग उसे चुनते है। इस तरह की सरकार बनती है, जिसे हिन्दी म'हरबोग का राज्य' कहते हैं। हरबोग का राज्य, चौपट राज्य। भीड का राज्य। लोकतन्त्र इसमें खो जाता है। एक तरफ तो राज्यसत्ता है—एक मनुष्य की अनियन्त्रित सत्ता। दूसरी तरफ लोक-

सत्ता नही है। सबकी सत्ता का मतलब भीड का राज्य हो जाता है। 'समुदाय का राज्य' आखिर 'भीड का राज्य' में परिणत हो जाता है। पिकविक का एक प्रसिद्ध किस्सा है। एक बार उसका एक दोस्त पिकविक से पूछता है, "जब कभी दिल मे शक हो, तो क्या करें ?"

तो वह उसे एक सूत्र बतलाता है, "जब कभी तुमको, तुम्हारे दिल में शक हो, तो भीड के पीछे चलो।"

"दो भीडे हो, तो क्या करे ?"

"तो जो भीड बडी हो, उसके पीछे चलो।"

भीड के पीछे जाना, बहुमत के पीछे जाना, लोकसत्ता नही है। यहाँ लोगो की सत्ता कही नही है, भीड की सत्ता है। हम भीड की पूँछ पकडकर उसके पीछे चले जाते हैं।

लोकप्रियता का नीलाम

फ्रास की क्राति पर कई पुस्तके लिखी गयी। कुछ पुस्तकें प्रगतिशील लेखको ने लिखी। कार्लाईल, थॉमस पेईन, विलियम कोबेट आदि ने फ्रासीसी क्राति के पक्ष में किताबे लिखी। एडमण्ड बर्क ने उसके खिलाफ। वह जीर्णमतवादी था, लेकिन एक बात उसने बडे पते की लिखी कि "जब इस तरह का भीड का राज्य हो जाता है, तो क्या होता है ? नेता कौन है ? जो लोकप्रियता के नीलाम में सबसे बडी बोली बोल सकता है, वह नेता बन जाता है। एक तरफ से लोकप्रियता का नीलाम होता है, और दूसरी तरफ से उम्मीदवार की उम्मीदवारी का नीलाम होता है। जिस लोकसत्ता का नीलाम हो सकता है और जिस लोकसत्ता मे उम्मीदवारो का नीलाम होता है, वह लोकसत्ता वास्तविक या यथार्थ 'लोकसत्ता' नही है।

स्वराज्य की मूल बात

सभी लोग जानते हैं कि यहाँ जितने अग्रेज आते है, वे यहाँ से जाने के बाद इस देश के बारे में कम-से-कम एक किताब जरूर लिख देते हैं। यह सब गवर्नरो ने भी किया, वाइसरायो ने भी किया। बगाल के एक भूतपूर्व गवर्नर लार्ड रोनाल्ड्स ने एक पुस्तक लिखी है—'हार्ट ऑव हिन्दुस्तान' ('हिन्दुस्तान का हृदय')। इस पुस्तक म वे लिखते हैं कि "देखो, यह गाधी, जिसके पीछे तुम लोग जा रहे हो, क्या चाहता है ? उसके स्वराज्य में रेल नही रहेगी, तार नही रहेगा, बिजली के चिराग नही रहेंगे, टेलीफोन नही रहेंगे। भारत के निवासियो, इतना ही नही, इसके स्वराज्य में दवाखाने नही रहेंगे और वकील नही रहेंगे। जरा सोचो तो ? क्या ऐसा स्वराज्य तुम लोग चाहते हो ?"

काग्रेसवालो को चोट लगी कि ऐसा स्वराज्य तो हम नही चाहते। गाधी यदि दरअसल ऐसा स्वराज्य लाये, तो वडी मुसीवत होनेवाली है। तब लोक-प्रतिनिधि के नाते गाधी ने 'यग इण्डिया' मे इसका जवाब दिया कि "वह तो मेरा अपना, मेरे आदर्श का स्वराज्य है। उसकी स्थापना मैं अवश्य चाहता हूँ, लेकिन काग्रेस के साथ जिस स्वराज्य के लिए आज मैं कोशिश कर रहा हूँ, वह पालियामेण्टरी स्वराज्य है।" यह आधुनिक लोकसत्ता की स्थापना का स्वराज्य है, जिसकी परिभाषा गाधी से पहले तिलक ने की थी, क्योकि हर नेता को इस मामले में बडा तग होना पडा है।

तिलक की व्याख्या

वुद्धिवादी हमेशा कहता है, "तुम्हारे स्वराज्य का अन्तिम चित्र बताओ।" नेता कहता है, "भाई, अन्तिम चित्र तो मेरे पास है और नही होगा, तो तुम बना लेना। पहले अग्रेजो को तो यहाँ से जाने दो।"

वुद्धिवादी कहता है, "नही-नही, तुम्हारा अन्तिम चित्र होना चाहिए।" तो कलकत्ते की काग्रेस में एनीवेसेट की अध्यक्षता मे तिलक ने उसकी व्याख्या कर दी, "आप उसे चाहे 'होमरूल' कहिये, चाहे प्रातिनिधिक स्वराज्य कहिये या अ-ब-क राज्य कहिये, आप चाहे जो नाम दे दीजिये।" परन्तु हम चाहते यह हैं कि 'हमारी विधान-सभाएँ पूर्णरूप से लोक-निर्वाचित होनी चाहिए और सारी कार्यकारिणी सरकारें लोक-सभाओ के प्रति पूर्णरूप से जिम्मेवार होनी चाहिए।' यह उन्होने जड की वात वतला दी थी। अव एक वात यह है कि जो कार्यकारिणी सरकार है, उसकी सत्ता कम है, और जो लोकसभा है, उसकी सत्ता सर्वोपरि है। यह लोकसत्ता ही 'पालिया-मेंट' (ससद्) कहलाती है। पालियामेण्ट इग्लैण्ड मे सर्वोपरि है। सर्वोपरि से मतलब यही है कि उसके ऊपर कुछ नही।

किसीने पूछा था कि "पालियामेण्ट मे क्या ताकत है, पालियामेण्ट क्या कर सकती है?" तो जवाब दिया, "स्त्री को पुरुष बना देना और पुरुष को स्त्री बना देना, वस इतना छोडकर हमारी पालियामेण्ट सब-कुछ कर सकती है।" पालियामेंट की अन्तिम सत्ता का यह अर्थ है।

प्रश्न उठता है कि पालियामेंट सर्वोपरि है या राजा सर्वोपरि है? सत्ता कहाँ होगी? सरकार मे सत्ता है यानी कार्यकारिणी मे है, या लोक-सभा में सत्ता है? वस्तुत लोकशाही मे सत्ता लोक-सभा में होनी चाहिए। सत्ता लोक-प्रतिनिधियो के हाथ में होनी चाहिए।

राज्य और जनता का विरोध

राजा का और लोक-प्रतिनिधियो का झगडा इग्लैण्ड में शुरू हुआ। शायद

तीसरे विलियम राजा के जमाने में एक ऐसा मौका आया कि वह सोचने लगा कि अब क्या किया जाय ? पार्लियामेंट मेरी बात नही मानती। अब मैं क्या करूँ ? मैं कुछ अच्छा काम करना चाहता हूँ, लोगो की भलाई करना चाहता हूँ, तो यह पार्लियामेंट मेरे रास्ते में बडी रुकावट डालती है।

आज आप हर चीफ मिनिस्टर (मुख्य मन्त्री) के मुँह से भी यही बात सुनेगे। आप किसी भी राज्य के चीफ मिनिस्टर से मिलिये। कहेगा, "हाँ, आप तो बिलकुल ठीक कह रहे है। मैं भी यही करना चाहता हूँ।"

"फिर करते क्यो नही है ?"

"लेकिन करे कैसे ? ऐसा बिल ही पास नही होता है असेम्बली में। असेम्बली ही नही मानती।"

"लोकहित तुम क्यो नही करते ?"

"लोक-प्रतिनिधि हमारे रास्ते मे रुकावट डालते है।"

तीसरे विलियम राजा ने भी यही शिकायत की कि "क्या करूँ, यह पार्लियामेट मेरे खिलाफ काम करती है।" तो राजा साहब से पूछा गया कि "आपको रुकावट क्यो होती है ?" बोले, "मैं तो राज्य करना चाहता हूँ, पर पार्लियामेंट लोगो की प्रतिनिधि है और लोग कभी यह नही चाहते कि उन पर कोई राज्य करे।"

बहुमत की सरकार

राजा कहता है, मैं तो राज्य करना चाहता हूँ और जनता कभी नही चाहती कि कोई उस पर राज्य करे।

जनता यह अवश्य चाहती है कि व्यवस्था हो। लेकिन उस पर राज्य हो, यह वह कभी नही चाहती। कोई नागरिक नही चाहता। सभी लोग चाहते हैं कि व्यवस्था तो उत्तम-से-उत्तम हो, पर हम पर हुकूमत कोई न चलाये। विलियम राजा शिकायत करता है कि पार्लियामेंट मे लोगो के प्रतिनिधि हैं और लोगो के प्रतिनिधि हुकूमत नही चाहते। इसलिए रुकावट होती है। इसलिए ऐसी कोई युक्ति निकालो कि पार्लियामेट की सत्ता से मैं बच सकूँ। तो एक लार्ड उसे एक युक्ति बताता है कि "तुम ऐसा करो कि यह शर्त बना दो कि पार्लियामेंट मे जिसका बहुमत होगा, उसीकी सरकार बनेगी। तो फिर पार्लियामेट कभी उपद्रव नही कर सकेगी।"

"यह तो तू एक अजीब बात कह रहा है। यदि बहुमत की सत्ता होगी, तो मेरी सत्ता कहाँ रहेगी ?"

वह बोला, "फिर मालूम हो जायगा तुम्हें। अभी तो तुम मेरी युक्ति मान लो।"

लार्ड बोला, "जिस पक्ष का बहुमत हो, उसीकी सरकार बनने दो। फिर तुम्हारा काम बहुत आसान हो जायगा। तुम्हें कोई कष्ट नही देगा।"

"क्यों ?"

"इसीलिए कि जिसके हाथ में सरकार होगी, उसे बहुमत बनाने की और बहुमत बनाये रखने की जो चिन्ता होगी, उसीमें उसका सारा वक्त निकल जायगा। फिर लोक-कल्याण की ओर ध्यान देने के लिए उसके पास बहुत कम फुरसत रह जायगी। यानी बिस्तर लगाने में ही रात बीत जायगी, तो सोने के लिए मौका ही नहीं मिलेगा।"

पार्लियामेंट के इतिहास का यह एक बहुत रम्य प्रकरण है, जो शायद आपको किसी इतिहास की पुस्तक में न मिले। यहाँ आख्यायिका के रूप में बतलाया गया है कि सारे मूलभूत सिद्धान्त कैसे आये है, लोकसत्ता में क्या-क्या अड़चनें आयी और किस तरह से उनका विकास हुआ।

राजा बोला, "यह युक्ति सबसे अच्छी है।" बस, उस दिन से पार्लियामेंट में सबकी आँखें बदल गयी। पार्लियामेंट में जाते ही अब सोचना पड़ता है कि बहुमत में कैसे आऊँगा ?

बहुमत प्राप्त करने की चिन्ता

नारायण कहता है, "दादा, बबलभाई को वोट देना है।"

मै कहता हूँ, "हाँ, देना है। ये बहुत भले आदमी हैं। बहुत अच्छे आदमी हैं।"

प्रबोध कहता है, "बहुत भले हैं, बहुत अच्छे हैं, लेकिन अकेले वहाँ क्या कर लेंगे ? कोई 'टीम' है उनके साथ ? जब तक उनके साथ कुछ और साथी नही होंगे, तब तक उनका बहुमत नही होगा और जब तक बहुमत नहीं होगा, तब तक बबलभाई वहाँ पार्लियामेंट में कुछ नही कर सकेंगे।"

तो बबलभाई अब खोज रहे हैं कि कौन-कौन हमारे साथी होंगे। और फिर ये साथी ईमानदार रहेंगे या नहीं। दूसरी चिन्ता यह भी है कि ये साथी चुने जायेंगे या नही ? मान लीजिये, उन्होंने प्रबोध चौकसी को साथी बना लिया तो ?

पूछा, "कहाँ से खडे होते हो ?"

कहा, "बडौदा से।"

"बडौदा में तुम्हें कौन-कौन जानता है ?"

"हमारे दफ्तर के लोग जानते हैं।"

"उतने से क्या फायदा ? दूसरे लोगों से जान-पहचान करने का कोई साधन है ?"

"हाँ, हमारे पैर हैं।"

"पैरों से कितना घूमोगे ? तुम तो बिलकुल साधनहीन हो।"

तो साधन-सम्पन्न आदमी खोजना पडता है।

फिर कहते हैं, "यह बतलाओ कि बडौदा में तुम्हारे अपने आदमी कितने है, जिनका तुमसे सीधा संबंध होता है ?"

कहने लगे, "कोई नही। यहाँ तो हमारी जाति के आदमी ही नही हैं !"

"तो फिर किस जाति के आदमी हैं ?"

"यहाँ तो सब ब्राह्मण ही ब्राह्मण हैं।"

"तो फिर ब्राह्मण को ही उम्मीदवार बनाओ।" जिसका परिचय है, जिसके पास साधन हैं, अगर वह खडा होता है, तो जीत जाता है। दूसरा बहुत अच्छा आदमी है, लेकिन जीत नही सकता, तो हमारे किस काम का ?

बहुमत-पद्धति से राजा को लाभ

इस तरह बहुमत के शासन ने राजा को बचा लिया। राजा को उपद्रव से बचाने के लिए और राजा की सत्ता अक्षुण्ण रखने के लिए कैसी बढिया युक्ति निकाल ली कि इन्हें ही चिन्ता लग जाय और ऐसी चिन्ता लग जाय कि फिर राजा की तरफ ध्यान देने के लिए कोई इनके पास बहुत ज्यादा वक्त ही न रह जाय।

कही कोई काण्ड शुरू होता है, तो राजा पार्लियामेंट में आकर कहता है, "देखो जी, वहाँ यह काण्ड शुरू हो गया !"

यहाँ पार्लियामेण्ट मे किसीको फुरसत ही नही। लोग पूछते है, "कैसा काण्ड शुरू हो गया ? क्या है वहाँ ? फौज भेज दीजिये।"

हाँ, तो फौज पार्टी से बाहर रहनी चाहिए। फौज में पार्टी-वार्टी आ जायगी, तो बहुत मुश्किल होगा।

तात्पर्य यह कि राजा को जिन चीजो की जरूरत है, वे सारी चीजे पार्टी के बाहर रह गयी और जितनी गैर-जरूरी चीजे थी, उतनी पार्टी में रह गयी।

पक्ष-पद्धति के दोष

अब पक्ष-पद्धति का परिणाम देखिये। मान लीजिये कि बबलभाई किसी तरह चुनकर पहुँच गये और बन गये मुख्य मन्त्री। इनकी टीम मे मै हूँ, नारायण देसाई है, प्रबोध चौकसी है। हम सब इनके दूसरे नबर हैं। हम इनके साथ रहते हैं—राग में राग, ताल मे ताल मिलाने के लिए। अब थोडी देर के लिए समझ लीजिये कि गोआ का सवाल आया। मैं कहता हूँ, "बबलभाई, बात तो जँचती है।" प्रबोध कहता है कि "गोआ जैसी समस्या हो और हम चुपचाप बैठे रहे, तब तो हम निष्क्रिय साबित होगे। हमारा कोई वजन नही रह जायगा। यहाँ कुछ तो करना ही चाहिए।" बबलभाई कहते है, "तुमने हमारे खिलाफ वोट दिया कि हमारी सरकार गिरी !"

"तो फिर क्या करें ?"

"अव तुम्ही वतलाओ कि तुम्हें गोआ ज्यादा प्रिय है या अपनी सरकार वनाये रखना ज्यादा प्रिय है ?"

"आपकी सरकार वनी रहे। गोआ से यह वहुत वडा सवाल है।"

गोआ की अपेक्षा इसका महत्त्व अधिक है कि ववलभाई की सरकार वनी रहे। तो अव गोआ के प्रश्न पर हमारे देश का क्या कर्तव्य है, यह विचार तो किनारे रह गया। गोआ के प्रश्न पर ववलभाई की सरकार कैसे वनी रहे, यही मुख्य प्रश्न हो गया। विषय के गुण-दोषो पर वोट देना समाप्त हो गया। किसी भी समस्या के गुण-दोषो पर हम विचार नही कर सकते।

जो प्रतिपक्षी होता है, उसे भी एक पक्ष वना लेना पडता है। जो प्रतिपक्षी होते हैं, वे भी सव स्वतन्त्र नही होते। उन्हें भी तो 'विरोधी पक्ष' वनाना पडता है। उनका भी एक पक्ष वन जाता है। प्रतिपक्षी क्या सोचता है ? यही कि मैं अपनी पार्टी के खिलाफ वोट दूंगा, तो आज ही ये लोग कहेंगे कि इस्तीफा दे दो। इस्तीफा दे दूंगा, तो मेरी 'सीट' चली जायगी। सीट चली जायगी, तो फिर से चुनाव में खडा होना पडेगा। एक वार चुनाव लडने के लिए जिंदगी की आधी कमाई खतम कर दी है, दूसरे चुनाव में दूसरी आधी खतम हो जायगी, तो क्या करूँगा ? और अगर मैं खडा ही नही रहा, तो मेरी जगह कोई गलत आदमी आ जायगा, जो लोगो का नुकसान करेगा। यह तो वहुत ही भारी कीमत देनी पडेगी। इसलिए पार्टी जैसा कहती है, वैसी ही राय दे दूं। यह नकशा है, जिससे मनोवृत्ति वनती है।

पक्षनिष्ठा और लोकनिष्ठा

एक वहुत सुन्दर कविता है अंग्रेजी में, जिसमें समाज का अन्तिम दृश्य दिखाई देता है। उस वक्त हरएक आदमी देश के लिए होगा, हर नागरिक देश के लिए देश के पक्ष में होगा और कोई नागरिक अपने पक्ष मे नही होगा। पक्षनिष्ठा मे और देश-निष्ठा मे इस तरह अतर पड जाता है।

पहले क्या था ? राजनिष्ठा और लोकनिष्ठा का विरोध।

अव क्या हुआ ? पक्षनिष्ठा और लोकनिष्ठा का विरोध।

ऐसा नही है कि ये लोग ईमानदार नही होते। यह भी नही समझना चाहिए कि लोगो के कल्याण की कामना इन लोगो मे नही होती। ये वडे ईमानदार होते हैं, इनमें कर्तृत्व वहुत होता है और लोगो के कल्याण की प्रवल इच्छा होती है। लेकिन इनकी मान्यता है कि लोगो का कल्याण हम तभी कर सकते हैं, जव हमारे हाथ में सत्ता हो। सत्ता तभी आ सकती है, जव हमारे साथ 'टीम' हो। टीम भी इतनी वडी चाहिए कि दूसरो की अपेक्षा अधिक सख्या मे हो। इसलिए फिर चिन्ता क्या होती

है कि पहले टीम बनायें, इसके बाद यह चिन्ता होती है कि हमारी टीम काफी बडी हो और उसके बाद यह चिन्ता होती है कि उस टीम के हाथ में लोक-कल्याण करने की सत्ता बनी रहे। इस प्रकार पक्ष-सत्ता और पक्ष-निष्ठा के कारण मनुष्य एक दुष्ट चक्र में पड जाता है।

सम्प्रदाय-निष्ठा

हमारे देश मे केवल पक्ष-निष्ठा ही नही है। हमारे देश में पक्षो के जो कार्यक्रम होते ह, उनमें चोर-दरवाजो से दो-तीन निष्ठाएँ और आ जाती है। आती जरूर है, लेकिन चोर-दरवाजो से आती हैं। सबसे पहली निष्ठा आती है—**संप्रदाय-निष्ठा**। इसमे थोडा-बहुत अग्रेजो का हाथ रहा है, लेकिन इसमें हमारा भी कसूर है। १९०७-१९०८ मे अग्रेजो के सकेत से मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। मुसलमानो ने माँग की कि उन्हें अलग मतदान करने का अधिकार दिया जाय।

दूसरो ने पूछा कि "हमें क्यो न दो ?"

तो कहा, "तुम कौन हो ?"

कहा, "हम हिन्दू है।"

"हिन्दू की क्या पहचान है ? मुसलमान को तो हम पहचान सकते हैं। मुसलमान तो हमको दिखाई देता है।"

यह संप्रदाय का लक्षण है। सप्रदाय अपने में बहुत स्पष्ट होता है। यानी मुसलमान 'व्यक्ति' भी है और मुसलमान 'समाज' भी है।

बाजार में एक आदमी स्टेशनरी की दूकान मे जाता है। वहाँ बहुत-सी चीजें मिलती है। कहता है, "मुझे चार आने की स्टेशनरी चाहिए।" दूकानदार कहता है, "स्टेशनरी तो दूकान में है ही नही। इसमे कागज है, पेंसिल है, स्याही है, लेकिन स्टेशनरी-जैसी कोई चीज नही है।" यहाँ ब्राह्मण है, माली है, तेली है, चमार है, भगी है—हिन्दू कही है ही नही। उसे कहाँ खोजे ?

हिन्दुओ में जाति ही वास्तविकता है और मुसलमान, सिख, ईसाइयों में संप्रदाय ही वास्तविकता है। इस बात को हम भूलते हैं, इसलिए आज की हमारी लोक-सत्ता में वास्तविकता नहीं आ सकी है।

पक्ष-सत्ता का जमाना अब निकल गया है। आज जितने भी पक्ष रह गये हैं, वे वर्ग के कारण रह गये है। अमीरी और गरीबी है, इसलिए अमीरो और गरीबो के पक्ष लेनेवाले कुछ पक्ष अभी है। लेकिन जब वर्ग-निराकरण होगा, उस वक्त आज के पक्षो की कोई आवश्यकता नही रह जायगी। आज हमारे यहाँ जो पक्ष बनते है, उनका नाम कुछ और रखते है, रूप कुछ और होता है। यह 'औपचारिक लोकसत्ता' कैसे

वनती गयी, इसके पीछे वास्तविकता क्या है, लोकसत्ता निष्प्राण क्यो हो रही है ? लोक-सत्ता भी हो जाय और उसमें शक्ति न रहे, यह तो एक भयानक विरोध है। लोकसत्ता की बुनियादें अगर हमें वदलनी हैं, तो हमें यह खोजना होगा कि उन बुनियादो में कौन-सी ऐसी चीजें आ गयी हैं, जिनके कारण हमारी लोकसत्ता खोखली और कमजोर हो गयी है। मूल कारण यह है कि आज का हमारा समाज सम्प्रदायो और जातियो का वनाया हुआ है।

सम्प्रदाय का लक्षण

सम्प्रदाय का लक्षण क्या है ? **जिसमें हम जा सकते हैं और जिसमें से हम निकल सकते हैं, वह संप्रदाय कहलाता है।** इसलाम सम्प्रदाय है। ईसाइयो का सम्प्रदाय है, सिखो का सम्प्रदाय है। इसमें आप जा सकते है, इसमें से आप निकल सकते हैं। सम्प्रदाय हमेशा आक्रमणशील और जयिष्णु होता है। इसमें विजिगीषा होती है। दूसरो को परास्त करने की आकाक्षा होती है। सम्प्रदाय का यह स्वरूप ही है। उसका चाहे जितना सौम्य स्वरूप हो, उसका यह स्वभाव है कि वह अधिक-से-अधिक लोगों को अपने भीतर शामिल करना चाहता है। इसलिए उसमें उदारता भी होती है। वह दूसरो को अपने समान समझता है।

प्रलोभन और जबरदस्ती

मुसलमान हिन्दू को मुसलमान वनने के लिए पात्र मानता है और हिन्दू किसीको अपनी जाति में आने का पात्र ही नही मानता। सम्प्रदायवादी मानता है कि मेरा ही मार्ग सही है। वह समझता है कि और लोग जव तक मेरे रास्ते पर नही आयेंगे, तव तक वे नरक से नही वच सकते। वह दूसरो को उसमें आने के लिए फुसलाता है, शादी का, सम्मान का प्रलोभन देता है। फिर भी जो उसके चकमे में नही आते, उन्हें वह धमकाता है। इस प्रकार आगे चलकर सम्प्रदाय में प्रलोभन और जवरदस्ती आ जाती है। सम्प्रदाय आक्रमशील वन जाता है। इसलिए जितने सम्प्रदाय होते हैं, उनमे आवेश अधिक होता है, उन्माद अधिक होता है। उनमें अपने सिद्धान्त के लिए, अपने धर्म के लिए एक उन्माद, एक आवेश, जनून होता है। इस अन्ध-आवेश के कारण सम्प्रदायवादी कहता है कि "यह समझता नही है, यह वेवकूफ है, इसे मार-पीटकर समझाना चाहिए।" सम्प्रदाय में इतनी आक्रमणशीलता आ जाती है।

तो सम्प्रदाय का वाहरी लक्षण क्या हुआ ? यही कि जिसमे हर कोई आ सकता है, जिसमें से हर कोई जा सकता है। सम्प्रदाय में जो उत्कटता और तीव्रता होती है, उसका लक्षण यह है कि दुनिया में जितने आदमी है, सवको हम अपने में मिला लेना

चाहते है। सम्प्रदाय में उदारता कैसे आयी ? सबको हम 'काबिल' यानी अपने में मिलाने के योग्य समझते हैं।

सम्प्रदायवाद का राक्षस

अब हम देखें कि सम्प्रदाय लोक-सत्ता को दूषित कैसे करता है। वह 'सम्प्रदाय-वाद' कहलाता है। हमारे देश की राजनीति में लोकसत्ता को, लोकनीति को कलुषित करनेवाला एक महान् राक्षस है—सम्प्रदायवाद। यह राक्षस सारी लोकसत्ता की गगा में ही जहर मिलाने की कोशिश करता है। सम्प्रदायवाद क्या है ? जब हम सम्प्रदाय को नागरिकता का आधार बना लेते है, तो **'सम्प्रदायवादी'** बन जाते हैं। मुसलमानो ने माँग की कि हम मुसलमान है, इसलिए हमारा राष्ट्र अलग हो। इसला-मियत ही राष्ट्रीयता है। इसलिए इसलामी नागरिकता भी अलग हो। उन्होंने नागरिक अधिकार माँगे, इसलिए झगडा हुआ। नागरिक अधिकार न माँगते, तो राजनीतिक झगडा न होता। नागरिकता के अधिकारो पर आकर दोनो के स्वार्थ टकराये। पाकिस्तानवाद क्या है ? यही कि हम अपने सम्प्रदाय को नागरिकता का या राष्ट्रीयता का आधार समझ लेते है। आगे चलकर यही द्विराष्ट्रवाद कहलाया। द्विराष्ट्रवाद, पाकिस्तानवाद, सम्प्रदायवाद राजनीतिक शब्द बन गये हैं। इनकी राजनीतिक परिभाषाएँ बन गयी है।

'हिन्दू' शब्द अव्याख्येय

हिन्दुओ के सामने बडा सवाल आया। हमारी निर्वाचन-योजना में लिखा है—'मुस्लिम' और 'गैर-मुस्लिम' निर्वाचन-सघ। हिन्दू मतदार सघ और गैर-मुस्लिम मतदार सघ बने। हमने सबको 'गैर-मुस्लिम' क्यो कहा ? 'हिन्दू' क्यो नही कहा ? 'हिन्दू' कहने में बहुत झगडा हुआ। जैनियो ने कहा कि, "हमे भी अलग दो।" बौद्धो ने कहा, "हमें भी अलग दो।" सिखो ने कहा, "हमे भी अलग दो।" अस्पृश्यो ने कहा, "हमें भी अलग दो।" तो हिन्दू कहने लगे, "नही-नही, तुम तो सब हिन्दू ही हो, तुम हममें शामिल रहो।" उन्होंने पूछा, "हम हिन्दू है ? कैसे हिन्दू है ? 'हिन्दू' किसे कहते है ?" बोले, "हिन्दू किसे कहते है, हम यह नही बतला सकते, लेकिन तुम सब हिंदू हो।" हिंदुत्व की व्याख्या करने की बहुत कोशिश हुई। दस-पन्द्रह साल तक वह चलती रही। किताबें भी लिखी गयी और अन्त में यह सिद्ध हुआ कि 'हिन्दू' शब्द अव्याख्येय है, क्योकि यह सम्प्रदाय नही है। **'हिन्दू' संप्रदाय नहीं है, इसलिए उसकी व्याख्या नहीं हो सकती। यह उसका बहुत बड़ा गुण, सबसे बड़ा गौरव और उसकी सबसे-बड़ी विशेषता है। इसमें अनेक संप्रदाय हं, लेकिन अपने में वह संप्रदाय नहीं है।"**

तब तो मुसलमान भी इसमें आ जाने चाहिए थे। हिन्दुत्व में मुसलमानो का समावेश हो सकता था, लेकिन हिन्दू-समाज मे नही। इसलिए उन्हें हम आत्मसात् नही कर सके।

सम्प्रदायवाद : जातिवाद की संतान

उस समय एक सज्जन ने इस बारे में मुझसे चर्चा की। मैंने कहा कि "पाकिस्तान का बनना कुछ अच्छा नहीं हुआ। गाधी तो चाहता नही था, लेकिन उसे मजूर कर लेना पडा। यह ठीक नही हुआ।"

"क्या करें ? दस करोड मुसलमानो ने एक होकर माँग की, तो उन पर कोई जबरदस्ती राज्य कर सकता था ?"

मैंने ऐसे ही मजाक में कहा, "आपने उन्हें दस करोड होने क्यो दिया ?"

कहने लगे, "हमने होने दिया ?"

"होने नही दिया, तो ये आये कहाँ से थे ?"

"ये मुसलमान तो मध्य एशिया से, अरबस्तान से आये।"

मैंने कहा, "दस करोड आये थे ? हमने तो कभी सुना ही नही था कि इस देश में दस करोड मुसलमान बाहर से आये।"

कहने लगे, "जो भी आये, फिर उनकी सतान बढती गयी।"

मैंने कहा, "सतान बढाने मे उनसे हम कुछ कम नही रहे है। उनकी सतान बढती गयी, और हमारी नही ? किसीकी ऐसी भी सख्या बढती है कि दस करोड हो जाय ?"

तब उन्होने कहा, "यहाँ के लोग मुसलमान बन गये।"

इस देश मे मुसलमानो का सप्रदायवाद हिन्दुओ के जातिवाद की सतान है। **हिंदुओ के जातिवादो से मुसलमानो का संप्रदायवाद इस देश में पनपा। इसलिए जैसा मुस्लिम संप्रदायवाद हिंदुस्तान में है, वैसा दुनिया में और कहीं नहीं है। हिंदुओ में अगर जातिवाद नहीं होता, तो मुसलमानों की संख्या दस करोड़ हो ही नहीं सकती थी।**

कुछ लोग कहते हैं कि "लाठी-काठी सीखो, तो मुसलमानो की सख्या कम हो जायगी।" दूसरे कहते है, "तलवार लो, तो काम हो जायगा।" तीसरे कहते है, "गोश्त खाओ, तो उनसे मुकाबला कर सकेंगे।" इन सब बातो से कुछ नही होनेवाला है। यह बहुत बडा भ्रम है कि मुसलमान हिन्दुओ से शारीरिक शक्ति में अधिक होता है। पुराने जमाने मे राणा प्रताप, शिवाजी और अनेक शाकाहारी ब्राह्मण भी कुछ कम प्रतापी साबित नही हुए है। यह नाहक की चीज है। हमारी कमजोरी व्यक्तिगत या तत्त्वगत नही है, हमारी कमजोरी समाजगत है। **हिन्दू-समाज की**

सबसे बड़ी कमजोरी उसकी जाति-संस्था रही है। वृक्ष जैसे एक हद तक वर्षा से बचाता है और फिर खुद ही वर्षा बन्द होने पर भिगाने लगता है, उसी तरह से जाति-सस्था ने हिन्दू-समाज को किसी जमाने में भले ही बचाया हो, बाद में तो उसने उसे छिन्न-विच्छिन्न ही कर दिया।

जाति का लक्षण : जो जाती नहीं

अब जाति का लक्षण देखिये। जिसमें कोई आ नही सकता और जिसमें से कोई जा नही सकता। विनोबा मजाक मे कहा करते हैं कि जो 'जाती' ही नहीं, वह 'जाति' है। यानी जो ली नही जा सकती और जो छोडी नही जा सकती। सम्प्रदाय वह है, जो लिया जा सकता है और जो छोडा जा सकता है। इसलिए वह आक्रमणशील होता है। जाति व्यवच्छेदक होती है, व्यावर्तक होती है, अलगपन उसमें होता है। क्योकि वह ली नही जा सकती और दी नही जा सकती।

कोई कहे कि "मैं लोगो को ब्राह्मण बनाने जा रहा हूँ" तो लोग कहेंगे, "इसे राँची के पागलखाने में रखो। भला किसीको ब्राह्मण बनाया भी जा सकता है?"

न तो किसीको जनेऊ पहनाकर ब्राह्मण बनाया जा सकता है और न और ही कुछ करके किसीको तेली या माली बनाया जा सकता है। जाति-वाला कहता है कि जब तक जन्मान्तर नही होगा, तब तक जात्यन्तर नही हो सकता। इसलिए जाति जन्मसिद्ध होती है। जन्मान्तर होगा, तभी जात्यन्तर होगा।

मैं कहता हूँ कि "मैं ब्राह्मण हूँ, मुझे कोई वोट नही देता। तो भाई, ब्राह्मणेतरो, मुझे ब्राह्मणेतर बना लो।"

कहते हैं, "भाई, हम नही बना सकते।"

"क्यो?"

"अगले जन्म में माँ-बाप बदलकर आओगे, तो होगा। जनेऊ फेंक देने से नही होगा। चोटी काट लेने से नही होगा। सन्ध्या छोड देने से नही होगा। जन्मान्तर के बिना जात्यन्तर नही है।"

ऊँच-नीच की भावना

लोग कहते हैं कि जाति रहे, पर ऊँच-नीच की भावना न रहे। भगी अपनी जगह श्रेष्ठ है, ब्राह्मण अपनी जगह श्रेष्ठ है। बहुत ही अच्छी बात है। गरीब अपनी झोपडी में श्रेष्ठ है, मैं अपने महल मे श्रेष्ठ हूँ। महलवाला बहुत आसानी से कह सकता है। नागपुर में एक दफा हिन्दू धर्म-परिषद् में सनातनी ब्राह्मणो ने कहा कि "हम अस्पृश्यो को नही छूते, तो वे हमें न छुएँ। हम कब कहते है कि हम उन्हें न छुएँ। वे प्रस्ताव कर लें कि हम ब्राह्मणो को नही छूते।" इस तरह से आप इसका निपटारा

नही कर सकते। जरा इसका विश्लेषण कीजिए कि आखिर जाति क्या है? यह श्रेष्ठ और कनिष्ठभाव इस देश की जाति-संस्था में बद्धमूल है। यह जाति-संस्था के साथ आया है और इसका निराकरण भी जाति-संस्था के साथ ही होगा।

मैं अहमदाबाद में आया। प्रबोध चाय लाया। प्रबोध के चाय लाते ही मैं पूछता हूँ, "प्रबोधभाई, यह चाय कहाँ बनी है?"

"आश्रम में।"

"बनानेवाला कौन था?"

"हमने जाति नही पूछी थी।"

"ब्राह्मण था?"

"नही था।"

"बगैर ब्राह्मण के हम किसीके हाथ का नही खाते।"

अब प्रबोध आकर नारायण से कहता है, "यह दादा तो बडा पवित्र ब्राह्मण मालूम होता है। वह तो ब्राह्मण के सिवा किसीके हाथ का नही खाता।"

पवित्रता की सीढ़ियाँ

दूसरे दिन वह चाय लाकर कहता है, "आज मैं ब्राह्मण से बनवाकर लाया हूँ।"

"कौन ब्राह्मण था वह?"

"यह नही मालूम मुझे।"

"मैं सिर्फ महाराष्ट्रीय ब्राह्मण के ही हाथ का खाता हूँ।"

कहता है, "यह तो और भी पवित्र है!"

अब यह पवित्रता का सोपान देख लीजिये। कैसी सीढियाँ चढता जा रहा हूँ। यह स्वर्ग का सोपान है। "वह तो कहता है महाराष्ट्रीय ब्राह्मण के सिवा और किसीके हाथ का नही लूंगा।"

तीसरे दिन अपने घरवालो से कहता हूँ, "आज से हमारे लिए परान्न वर्ज्य है। मैं सिर्फ अपने घर का ही भोजन करूँगा।" पवित्रता की एक सीढ़ी और चढ गया— "यह तो अपने घर के सिवा कही नही खाता।"

घरवालो से एक दिन कहा कि "सिर्फ माँ और अपनी पत्नी के ही हाथ का खाऊँगा और किसीके हाथ का नही खाऊँगा।"

और एक सीढी ऊपर! लोग आश्चर्यचकित हैं कि कैसा पवित्र पुरुष है यह!

एक दिन कहता हूँ कि "आज से पत्नी और माँ के हाथ का भी नही खाऊँगा। आज से स्वयंपाकी बनूंगा। खुद पकाऊँगा, खुद खाऊँगा।"

बस, अन्तिम सीढी पर पहुँच गया!

दर्शनो के लिए लोग आते है कि ऐसा पुरुष कभी नही देखा। अपने हाथ से भोजन बनाता है, किसीके हाथ का नही खाता।

अब एक ही सीढी रह गयी है कि अपने हाथ का भी न खाऊँ। बस, स्वर्ग सिर्फ दो अँगुली रह गया मेरे लिए! उतना और अगर मैंने कर लिया, तो सीधा स्वर्ग पहुँच जाऊँ!

जाति का मूल : अस्पृश्य भावना

सोचने की बात है, जाति है किस वस्तु में? तीन ही बातों में जाति है। **इसको छुओ मत, इसके साथ खाओ मत और इसके साथ विवाह मत करो।** इन तीनो के सिवा कही जाति नही। इसे **'अस्पृश्य-भावना'** कहते है। गाधी ने इसके प्रतिकार मे लोकशाही की स्थापना के लिए 'स्पर्श-भावना' का विधान किया। जो लोगो से जितना दूर रहता है, जो मनुष्य से जितना परहेज करता है, वह उतना ही अधिक पवित्र माना जाता है। मनुष्य से परहेज करना ही जिस समाज में पवित्रता का लक्षण है, उस समाज में कभी किसी लोकसत्ता और सामाजिकता का विकास नही हो सकता। इसलिए हमारे देश मे लोकसत्ता पिछड रही है। **वर्ग-निराकरण, संप्रदाय-निराकरण, जाति-निराकरण—ये तीनों बातें जब तक नहीं होंगी, तब तक वास्तविक लोकसत्ता की स्थापना हमारे देश में नहीं हो सकती। इसलिए हमें तीनों का निराकरण करना होगा।**

हम वर्ग-निराकरण पर आज इसलिए जोर दे रहे हैं कि जब मनुष्यो की आर्थिक प्रतिष्ठा और आर्थिक स्थिति बदल जाती है, तो वे एक वर्ग में आ जाते हैं। लेकिन इतना ही सिर्फ काफी नही है, इसके लिए यह भी आवश्यक है कि हम जाति-निराकरण करे, सप्रदाय-निराकरण करें। जाति का लक्षण हम देख चुके। जाति व्यावर्तक होती है, यानी वह अपने में किसीको शामिल नही करती। अपने में हम किसीको शामिल क्यो नही करते? इसलिए कि हममें रक्त-शुद्धि की भावना होती है। 'वर्ण-सकर' का अर्थ यही है कि मेरा रक्त शुद्ध है, आपका रक्त अशुद्ध है। इन दोनो का मिश्रण नही होना चाहिए। यह **'वर्ण-संकर'** कहलाता है। शुद्ध रक्त—श्रेष्ठ रक्त! आप कहते हैं कि उसमें श्रेष्ठता, कनिष्ठता का भाव नही होना चाहिए। श्रेष्ठता-कनिष्ठता का भाव इसके साथ मिला ही हुआ है। मेरा रक्त अशुद्ध होते ही 'वर्ण-सकर' हो जाता है। और फिर कहते हैं कि बस, यह तो 'असल' नही है। गयाजी में एक गुफा बहुत सँकरी है, तग है। लोग कहते हैं कि उसमे से जो पार हो जायगा, वह तो 'असल' है यानी अपने बाप का है और जो उसमें अटक जायगा, वह 'असल' नही है। इस कुलीनता-अकुलीनता की भावना के पीछे क्या श्रेष्ठता छिपी हुई नही है? **मनुष्य से परहेज करना जाति-संस्था का आधार है और मनुष्य से जो जितना परहेज करता है, वह उतना श्रेष्ठ माना जाता है।**

जाति सहिष्णु मालूम होती है, लेकिन वह परम असहिष्णु होती है। लोग कहते हैं कि "हम तो किसी पर आक्रमण नही करते।" अरे भाई, तुम किसीको ब्राह्मण बनने के योग्य ही नही मानते हो, तो आक्रमण क्या करोगे? कोई बनना चाहे, तो भी नही बनाओगे तुम। जाति-सस्था का यह लक्षण है कि हम तुमसे श्रेष्ठ हैं, तुम हमारी जाति के नही बन सकते।

अस्पृश्य की मनोवृत्ति

भारतवर्षीय हिन्दुओ के जाति-सस्थावाद से मुसलमानो के सप्रदायवाद को बल मिला है। हिन्दुओ में जाति-सस्था थी, इसलिए हिन्दू-समाज में से धर्मान्तर हुए। आइये, इसके कारणो पर हम विचार करें।

मान लीजिये कि मैं नारायण के घर जाता हूँ। वह कहता है, "दादा, आप हमको बहुत प्रिय हैं। बहुत अच्छा हुआ, आप आज आ गये।"

"हाँ, अच्छा तो हुआ, पर अब मैं अपना सामान कहाँ रखूं?"

"हमारे यहाँ की एक मर्यादा है।"

"क्या मर्यादा है?"

"यही कि आप-जैसे मेहमान को हम सिर्फ आँगन में ही रखते हैं। हमारे कुल की यह मर्यादा है। आपके लिए इतना प्रेम है, जितना अपनी माँ और अपने बाप के लिए भी मेरे मन मे नही है, लेकिन हमारी मर्यादा है, क्या करें?"

"अच्छा भाई, आँगन मे ही रहूँगा। लेकिन धूप लगेगी, तो क्या करूँगा?"

"तो हम अपना फटा हुआ छाता दे देते हैं। धूप होगी, तब लगा लिया करना।"

"बारिश होगी, तो क्या करेंगे?"

"हमारे आँगन में एक पेड है, उसके नीचे बैठ जाया करना।"

"पर भाई, खाना कहाँ से लाऊँगा?"

"खाना तो मेरे यहाँ बनेगा। तुम्हे आँगन मे मिलेगा और मेरे बरतन में नही मिलेगा।"

"तो कैसे मिलेगा?"

"यह केले आदि पत्तो के साफ दोने बहुत अच्छे हैं। ये तो ऐसे हैं कि राजा को भी नही मिले होंगे। ऐसे केले के पत्ते हम तुम्हें दे दिया करेंगे। उनमें खा लिया करो। पानी पीने के लिए मिट्टी का एक बरतन दे दिया करेंगे। तुमको रोज नया पत्ता, रोज नया बरतन। हमे तो रोज नया मिलता ही नही है। और तुम वही सो जाया करना।"

नारायण को मुझसे बहुत स्नेह है। परन्तु यह मुझे इस तरह से रखता है। इतने में, भगवान् न करे, इसके घर में आग लगती है। अब प्रबोध इसके घर की आग बुझाने दौडता है। प्रबोध से मैं पूछता हूँ, "क्यो प्रबोध, तुम मुझसे प्रेम करते हो?"

"हाँ, तुमसे तो बहुत प्यार करता हूँ।"

"फिर नारायण के घर की आग क्यो बुझाते हो ?"

"अरे भाई ! उसको भी प्यार करता हूँ।"

"तो फिर यह कहो कि मुझसे प्रेम नही करते।"

"तुमसे क्यो नही ?"

"यह मुझे अपने घर में पैर नही रखने देता, भगवान् की परम कृपा से इसके घर मे आग लग गयी है और तू बुझाने दौडता है ?"

यह अस्पृश्य की मनोवृत्ति का दिग्दर्शन है। जिस समाज मे इतना अप्रतिष्ठित और अस्पृश्य वर्ग है, उस समाज में जब आग लगती है, तो उसका बचाव करने के लिए आज भी हरिजन दौडकर आते हैं, मैं उन्हे फरिश्ते और देवदूत मानता हूँ।

तीसरा रास्ता ही क्या ?

अबेडकर जब मनुस्मृति जलाते है, तब मुझे जलन नही होती, दु ख नही होता। लेकिन जब हरिजन हमारे सरक्षण के लिए दौडते है, तब मुझे आश्चर्य होता है। मैं सोचने लगता हूँ कि सन्तो ने इस देश में कितने महान् सिद्धान्तो का बीजारोपण किया होगा कि आज भी उन लोगो के अन्दर यह सद्भावना छिपी हुई है कि वे इस समाज के, इस धर्म के सरक्षण के लिए दौडते है। लेकिन सोचने की बात है कि जो जाति मे रह नही सकता, उसके लिए रास्ता क्या है ? जाति-सस्था मे जिसे प्रतिष्ठा मिल ही नही सकती, उसके लिए जन्मान्तर या धर्मान्तर छोडकर तीसरा रास्ता ही क्या है ? आप अपने को उस जगह पर रखिये और फिर सोचिये कि जाति मे रहना जिसके लिए असम्भव है, उसके लिए रास्ता कौन-सा है ? वह क्या करे ? जिनमें उतनी शक्ति है, वे नये पन्थ की स्थापना कर देते है। बुद्ध मे शक्ति थी, महावीर में शक्ति थी, नानक मे शक्ति थी, दयानन्द में शक्ति थी। उन्होंने जाति से बचाने के लिए नये सम्प्रदायो की, नये धर्मों की, नये पथो की स्थापना की। अबेडकर कहते है कि "जाति-सस्था से बचने के लिए हमारे पास दूसरा कोई रास्ता नही है। इसलिए मैं बौद्ध होना चाहता हूँ। नया धर्म स्थापित कर नही सकता, जन्मान्तर तक राह देखने की तैयारी नही है, तब धर्मान्तर के सिवा मेरे सामने कोई चारा नही रह गया है।" नतीजा यह है कि इस देश मे सम्प्रदायो की सख्या अब तक बढती गयी।

प्रति-सम्प्रदायवाद निदान नहीं

जातिवाद, सम्प्रदायवाद का निराकरण, प्रति-सम्प्रदायवाद से नही हो सकता। "इस्लामियत ही राष्ट्रीयता है", मुसलमान ने कहा। हिन्दू-समाज ने जवाब दिया, "हिन्दुत्व ही राष्ट्रीयता है।" यह प्रति-सम्प्रदायवाद है—जवाबी सम्प्रदायवाद। वह

कहता है, "हमारा राज्य जहाँ होगा, वह पाकिस्तान है!" यह कहता है, "हमारी सत्ता जहाँ पर होगी, वही पुण्यभूमि है!" पाकिस्तान का बराबर ठीक-ठीक अनुवाद है—पाक=पुण्य, स्तान=भूमि। मुसलमानो के सम्प्रदायवाद का अनुवाद है, यह हिन्दुओ का प्रति-सम्प्रदायवाद। प्रति-सम्प्रदायवाद से लोकसत्ता की स्थापना हरगिज नही हो सकती है। हमें तो सम्प्रदायवाद और जातिवाद, दोनो का ही निराकरण करना होगा, तब कही लोकसत्ता की स्थापना हो सकती है। *

---

* विचार-शिविर में २५-८-'५५ का प्रातः प्रवचन।

राजनीति से लोकनीति की ओर

हम देख चुके है कि राजसत्ता और लोकसत्ता में किस प्रकार धीरे-धीरे भेद होता गया और अत में राजसत्ता कैसे क्षीण होती गयी और लोकसत्ता का विकास करने की ओर दुनिया का कदम किस तरह बढता गया। इसके लिए हमें सम्प्रदाय-निराकरण करना होगा और जाति-निराकरण भी, जिसे गाधीजी ने हमारे सामने स्पर्श-भावना के व्रत के रूप में रखा। सप्रदाय मे स्पर्श-भावना तो है, परतु वह आक्रमणशीलता है, और दूसरी ओर, जो उस सम्प्रदाय में न हो, उसके लिए सहिष्णुता और समानता की वृत्ति भी नही है। सम्प्रदाय सग्राहक है, लेकिन सप्रदाय की हद तक। इसलाम मे सब समान है, लेकिन तभी, जब वे मुसलमान हो जाते है। उसकी समानता सम्प्रदायनिष्ठ है। इस प्रकार की थोडी-बहुत समानता, जातिनिष्ठ समानता, हिन्दुओ के समाज मे भी है। गरीब ब्राह्मण और अमीर ब्राह्मण, दोनो साथ-साथ भोजन कर सकते है, उन दोनो में विवाह-सम्बन्ध भी हो सकता है। इसलिए हमारे देश के कुछ विचारक तो यहाँ तक कहने लगे थे कि इस देश मे लोकशाही का आरम्भ साम्प्रदायिक लोकशाही और जातिनिष्ठ लोकसत्ता से होना चाहिए।

राजनीति में जातिवाद

नागरिकता सम्प्रदाय और जाति, दोनो से भिन्न होनी चाहिए, इसलिए इन दोनो का नागरिकता में कही भी प्रवेश नही होना चाहिए। यह सम्प्रदायवाद और जातिवाद का निराकरण कहलाता है। इस देश में जाति अब चुनावो में और राजनीति में आ रही है, इसलिए लोगो को बहुत शिकायत है, लेकिन मैं उसे एक शुभ चिह्न मानता हूँ। इसका कारण यह है कि एक ब्राह्मण काग्रेस का उम्मीदवार हो जाता है और दूसरा ब्राह्मण प्रजा-समाजवादी दल का। दोनो दल प्राय ऐसा करते है। वे देखते है कि इस शहर में ब्राह्मण ज्यादा है, तो दोनो ब्राह्मण उम्मीदवार खडा कर देते है। उस प्रकार जब वे खडे हो जाते है, तो एक ही जाति के आदमी दो राजनैतिक पक्षो में बँट जाते है। जो जाति चूल्हे के पास थी, वह इस तरह से राजनीति मे आ जाती है। सत्ता की राजनीति में एक गुण या एक दोष यह है कि इसमें कोई तत्त्व और सिद्धान्त स्थिर नही रहता। इसलिए जाति इसमें आ जाने पर जाति के निराकरण की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। लोकसत्ता की बुनियादें सिर्फ कानून से और सविधान से नही बदली जा सकेगी। लोकसत्ता का बाह्य आकार बदलने से भी लोकसत्ता की बुनियादे नही बदलती है।

मुख्य बात यह है कि हमें लोकसत्ता का सदर्भ बदल देना होगा। इसलिए मैंने वर्ग-निराकरण, सम्प्रदाय-निराकरण और जाति-निराकरण की बात कही। इसमे सत्ता और कानून की थोडी-बहुत सहायता हमको हो सकती है; लेकिन इन तीनो क्षेत्रो में जो प्रयास होगे, वे क्रान्तिकारी प्रयास होने चाहिए। लोकसत्ता की बुनियादे बदलने के लिए आवश्यकता क्रान्तिकारी प्रयत्नो की है।

पार्लियामेंण्ट द्वारा क्रान्ति असम्भव

सभी जानते हैं कि यूरोप में दो पक्ष हो गये थे। एक ससद्वादियों का, जो पार्लियामेण्ट से काम लेना चाहते थे और दूसरा, क्रान्तिकारियो का। क्रान्तिकारियो ने कहा कि पार्लियामेण्ट से हम पूरा-पूरा काम नही ले सकते, पार्लियामेण्ट से क्रान्ति नही हो सकती। इसका मुख्य कारण यह है कि पार्लियामेण्ट आज जिस सदर्भ मे काम कर रही है, उस सदर्भ मे क्रांतिकारी तत्त्वो की शक्ति पार्लियामेण्ट मे नही चल सकती। चुनाव में इनका जीतना एक तो सभव नही होता और जीत जाने पर भी पार्लियामेण्ट मे जिस तरह से काम चलता है, उससे कुछ होनेवाला नही। 'पार्लियामेण्टरी'-पद्धति मे आखिर की परिणति यही होती है कि सरकार और सरकार चलानेवाले लोग एक सलाह से कैसे चले? विनोबा जिसे 'एकमत से चलना' कहते है, वह बिलकुल अलग चीज है। और आज के मत्रिमडल में या आज की 'पार्लियामेण्टरी' भाषा में जिसे सयुक्त जिम्मेवारी कहते हैं, वह बिलकुल अलग चीज है। यह सयुक्त जिम्मेदारी क्या है, इसका भी सकेत रूप में एक किस्सा सुन लीजिये।

विक्टोरिया रानी का सबसे बडा सलाहकार था लार्ड मेलबोर्न। यह लार्ड मेलबोर्न क्या किया करता था? जब कभी मन्त्रिमडल की बैठक होती थी, तो जिस कमरे मे बैठक होती थी, उस कमरे के बाहर, दरवाजे में खडा हो जाता था, जिससे आना-जाना बन्द रहे। और वहाँ से कहता था, "लोगो से क्या झूठ बोलना है, इसकी मुझे बहुत ज्यादा फिक्र नही है। लेकिन एक बात है कि लोगो को हमें जो चकमा देना है, उसके विषय में जब तक एकमत नही होता है, तब तक तुममें से एक को भी मैं बाहर नही जाने दूंगा।"

राजनीति के अनेक रूप

राजनीतिज्ञो की सयुक्त जिम्मेदारी और एकमत से काम होने में बहुत बडा अन्तर है। यह जो एकमत है, वह राजसत्ता अपने हाथ मे, यानी बहुमत के हाथ मे, रखने के लिए है। सत्ता को आपने सेवा का साधन भले ही मान लिया हो, लेकिन सेवा का साधन जब तक हमारे हाथ में नही रहेगा, तब तक हम सेवा नही कर सकेंगे, यह जिसने मान लिया है, वह सेवा के साधन को अपने हाथ में रखने के लिए ही सारी

शक्ति खर्च कर देता है। जैसे राजा करता था। राजा के राज्य में क्या होता था? राजा के हाथ में सत्ता रहे, राजा का राज्य बना रहे, इसीका नाम 'राजनीति' था। राजा राज्य कर सकता है, राजा ही ठीक राज्य करता है। राजा का राज्य बनाये रखने की जो युक्ति और नीति है, उसे हम **'राजनीति'** कहते हैं। और इसलिए पुराने लोगो ने यह कहा, "राज्य बनाये रखने के लिए जो-जो करना पडे, वह सब उचित ही है। **'वारांगनेव नृपनीतिरनेकरूपा'**। राजनीति के तो अनन्त रूप होते हैं। वारागना की तरह वह अनेकरूपा होती है।

विकेन्द्रित राजनीति लोकनीति नहीं

हमने यह मान लिया कि राजनीति को बिखेर दिया, तो लोकनीति हो गयी। राजगिरा (रामदाना) के लड्डू का एक-एक दाना अलग-अलग होता है। लड्डू जब तक है, तब तक सब एक जगह है और किसीने उस पर मुक्का मार दिया, तो उसका एक-एक दाना बिखर गया। लड्डू 'राजसत्ता' है और जो बिखर गयी, वह 'लोकसत्ता' है, इस प्रकार का भ्रम लोगो के मन मे होता है। यानी राजसत्ता के कणो का नाम लोगो ने **'लोकसत्ता'** रख दिया है। राजसत्ता का कण एक-एक जगह हो गया, उसका एक-एक दाना अपनी-अपनी जगह पर उछल रहा है। कोई ग्राम-पचायत मे उछल रहा है, कोई म्युनिसिपैलिटी में उछल रहा है, कोई डिस्ट्रिक्ट बोर्ड मे उछल रहा है। एक-एक ने अपना-अपना छोटा-छोटा राज्य बना लिया। दादा की दृष्टि यह है कि चुनाव में मै जीतूं, इस तरह से चुनाव का क्षेत्र बने। नारायण की भी यह दृष्टि है कि चुनाव में मै जीतूं, इस तरह से उसका क्षेत्र बने। और अगर मै काग्रेस में हूं, तो प्रजा-समाजवादी कहता है कि इन लोगो ने चालाकी से अपने पक्ष की जीत के अनुकूल सारे निर्वाचन-क्षेत्र बना लिये। इस तरह से हर आदमी ने अपने-अपने लिए एक छोटा-छोटा हलका, सत्ता का एक छोटा-छोटा क्षेत्र बना लिया। यह **'लोकसत्ता'** नही है।

अगर यह 'लोकसत्ता' नही है, तो हम **'लोकसत्ता'** किसे कहेंगे और इसके लिए क्या करना होगा?

आर्थिक और राजनैतिक इकाइयाँ

इसके लिए दुनिया के विचारक इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि आर्थिक इकाई और राजनैतिक इकाई में बहुत ज्यादा अतर नही होना चाहिए। आज हमारी जितनी राजनैतिक इकाइयाँ है, वे सब मनमानी बनी हैं यानी हमने अपनी मर्जी के मुताबिक चाहे जैसी अनियन्त्रित रूप से बना ली हैं। इनमें कोई नियम नही है। इनको अगर हम आर्थिक इकाई से समव्याप्त न बना सके, तो कम-से-कम उनमे बहुत ज्यादा अतर नही रहना चाहिए। राजनैतिक इकाई और आर्थिक इकाई अगर समव्याप्त हो सके,

तो वहुत अच्छा। समव्याप्त न हो सके, तो इनमे कम-से-कम अतर रहे। राजनैतिक इकाइयाँ दो तरह की होती है :

१ प्रशासकीय,

२ प्रातिनिधिक।

'मतदान का क्षेत्र' प्रातिनिधिक इकाई कहलाती है। तालुका, जिला और उसके नीचे की इकाई, प्रशासन की इकाई होती है। हम चाहते यह हैं कि प्रशासन कम होता चला जाय, अनुशासन वढता चला जाय और अत में सिर्फ स्वयशासन रह जाय। इसका मतलव यह होता है कि जनता में स्वयशासन की वृत्ति वढे, स्वतत्रता की वृत्ति वढे। मैं भी स्वतत्र, आप भी स्वतत्र। मेरी और आपकी स्वतत्रता एक-दूसरे की स्वतत्रता को नियमत करेगी। इसके सिवा और कोई नियमन नही होगा। नियन्त्रण वस्तु का होगा, मनुष्य का नही।

अव हम लोकसत्ता के कुछ क्रान्तिकारी सिद्धान्तो पर विचार करें कि लोकसत्ता को किस मार्ग से जाना होगा ?

लोकसत्ता का मार्ग

इसके लिए मनुष्यो पर नियत्रण की जगह वस्तुओ पर करना होगा। मनुष्यो का नियत्रण कम-से-कम, वस्तुओ का नियत्रण अधिक होगा। आज प्रशासन किसलिए होता है ? वह होता है—मुट्ठीभर आदमियो के स्वामित्व और मुट्ठीभर आदमियो की सपत्ति के सरक्षण के लिए। सपत्ति के प्रत्यक्ष सरक्षण की आवश्यकता जिन्हें होती है, ऐसे कितने लोग समाज में हैं ? वहुत-से लोग ऐसे है, जिनकी सपति के सरक्षण के लिए प्रशासन की आवश्यकता नही है। प्रशासन की आवश्यकता थोडे-से आदमियो की सपत्ति के सरक्षण के लिए होती है। आज की लोकशाही मे यह एक चीज वरावर चल रही है। भारतवर्ष को यदि छोड दिया जाय, तो आज लोकशाही का सवसे अच्छा जो स्वरूप माना जाता है, वह है अमेरिका में और इग्लैड में। और इन दोनो राष्ट्रो की समाज-रचना पूंजीवादी समाज-रचना है। लोकशाही का जन्म भी पूंजीवाद की कोख से हुआ है। यह ऐतिहासिक सत्य है। पूंजीवाद को लोकशाही की आवश्यकता थी, इसलिए लोकशाही का जन्म पूंजीवाद के साथ और उसकी कोख से हुआ। वच्चे में माँ-वाप के कुछ थोडे-वहुत गुण आ भी जाते है। यह लोकशाही शाहूकार की वेटी है। राजा की वेटी का स्वयवर होता था, साहूकार की वेटी का स्वयवर नही, नीलाम होता था। अपनी वेटी व्याहनी हो, तो हम देखते है कि कितने पैसे मिलेंगे, कितने गहने मिलेंगे और जिस लडके के साथ यह व्याही जानेवाली है, उसके पास धन कितना होगा ।

स्वयवर में दूसरी वात होती थी। उसमें थोडा-वहुत जुआ या सयोग होता था।

इसमे सयोग तो है, लेकिन सयोग के साथ-साथ कीमत चुकानेवाला चाहिए। अधिक-से-अधिक कीमत जो देता है, उसके पीछे वह जाती है। इस लोकशाही में यह बुराई पूँजीवाद के साथ-साथ आयी। इसलिए यूरोप के और खासकर इग्लैड के अनुभव के कारण हमारी कोशिश यह है कि हम इसका सदर्भ वदल दे। इग्लैड मे पार्लियामेंटरी पद्धति का जो अनुभव हुआ, उस अनुभव का यह निचोड या निष्कर्ष है कि यहाँ पर प्रगतिशील पक्ष भी सत्ताधारी पक्ष तो हुए, लेकिन अत तक कोई भी पक्ष पार्लियामेंट की मार्फत क्राति नही कर सका। बाद मे तो लेवर पार्टी मे झगडा ही हो गया। बेवाँ अलग निकल गया और बेवाँ की सबसे ज्यादा शिकायत यह हुई कि पार्लियामेंट को हम क्रान्ति का उपकरण, क्रान्ति का औजार नही वना सके। इसका मुख्य कारण यह हुआ कि समाज में प्रचलित जो स्वार्थ-सबध होते हैं, उन स्वार्थ-सबधो के अनुरूप पक्ष बन जाते है और समाज मे जब इन स्वार्थ-सबधो के अनुरूप पक्ष बनते है, तो अन्त तक इन पक्षो की सत्ता पहुँचती नही है।

स्थानीय स्वराज्य और पक्षभेद

इग्लैड में जिसे हम स्थानीय स्वराज्य कहते है, उस स्थानीय स्वराज्य में पहले पक्ष नही थे। इसका मुख्य कारण यह है कि पार्लियामेंट के सामने जिस प्रकार से पक्ष आ सकते है, उस प्रकार से स्थानीय स्वराज्य में आ ही नही सकते थे। क्योकि स्थानीय स्वराज्य में स्थानीय प्रश्न होते है। स्थानीय मामलो में केवल आर्थिक विरोधो को छोड़ दिया जाय, तो बाकी के सारे विरोध नगण्य होते है, नही के बराबर होते है। इसलिए जहाँ वर्ग-निराकरण हो गया हो या वर्ग-निराकरण की प्रक्रिया का आरभ हो गया हो, ऐसी जगह पक्षभेद के लिए बहुत थोडा स्थान रह जाता है।

एक सिद्धात हमें ध्यान मे रखना चाहिए कि आर्थिक इकाई के साथ-साथ राजनैतिक इकाई चले। आर्थिक रचना का अतिम सिद्धात यह है कि आर्थिक रचना मे स्वयपूर्णता हो और विकेन्द्रीकरण हो।

स्वयंपूर्णता की आवश्यकता

स्वयपूर्णता क्यो होनी चाहिए ? इसका अनुभव तो सारी दुनिया को हो गया है, लेकिन यह विचार आया कैसे ? इसके लिए परिस्थिति का थोडा धक्का लगना जरूरी होता है।

सन् १९१४-१९१८ का प्रथम विश्वयुद्ध जो हुआ, उसमें जर्मन के एम्डन नामक जहाज ने इग्लैड मे पहुँचनेवाली रसद डुबोनी शुरू कर दी। तब तक इग्लैण्ड का यह खयाल था कि कारखानादारी और दूकानदारी से हम मालदार हो जायेंगे, हमें खेती-बारी की क्या जरूरत है ? जो थोडी-बहुत खेती-बारी रह गयी थी, उसका कारण थे

कुछ पुराणप्रिय अंग्रेज। लेकिन उस पर जोर उन्होंने नही दिया था। जब उन्हें यहाँ से रसद मिलनी मुश्किल हो गयी, तब वे जागे और उन्होंने सोचा कि खतरनाक परिस्थिति आ सकती है। इसलिए हर राष्ट्र को अपनी आवश्यकताओ के लिए आत्मनिर्भर रहना चाहिए। यह तो एक राष्ट्र की बात हुई।

रूस में क्राति हुई। वहाँ एक 'स्टालिन फार्म्युला' कहलाता है। स्टालिन ने रूस में २-३ बातें लेनिन से आगे बढकर रखी। इनमें से एक है, 'एक ही देश में समाजवाद' हो सकता है। दूसरी है, 'क्राति का एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र मे आयात नही हो सकता।' उसने कहा कि यह कोई क्विनाइन की गोली नही है, जो वहाँ से यहाँ ले जायी जा सके। तीसरा सिद्धान्त, जिसे स्टालिन फार्म्युला कहते है, यह था कि 'रूस की सस्कृति का आशय तो समाजवादी होगा, पर उसका आकार राष्ट्रीय होगा।' नतीजा यह हुआ कि रूस मे जितने छोटे-छोटे राष्ट्र थे, उन सारे छोटे-छोटे राष्ट्रो को स्वयपूर्ण बनाने की कोशिश हुई। युक्रेन और पूर्व-तुर्किन्तान, दोनो को स्वयपूर्ण बनाने की कोशिश लगातार चलती रही। लेकिन उस वक्त रूस मे जो सयोजन हो रहा था, उसकी बुनियाद यह थी कि सारे छोटे-छोटे 'राष्ट्रको' को स्वयपूर्ण बना दीजिये। अर्थात् वे स्वयपूर्ण भी होने चाहिए और विकेन्द्रित भी।

अब यह सवाल था कि यदि आर्थिक स्वयपूर्णता और विकेन्द्रीकरण होगा, तो राजनैतिक स्वयपूर्णता और राजनैतिक विकेन्द्रीकरण हो जायगा। ये दोनो चलेंगे, तो साथ-साथ चलेंगे। एक ओर विकेन्द्रीकरण और दूसरी ओर केन्द्रीकरण, ये दो बातें साथ-साथ नही चल सकती। इसलिए दोनो प्रकार के विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता है। इसका पहला कदम यह होना चाहिए कि आर्थिक विकेन्द्रीकरण की योजना के साथ-साथ राजनैतिक विकेन्द्रीकरण की योजना हो।

भाषावाद का खतरा

फिर आज यह हिम्मत क्यो नही हो रही है, इसका विचार हमें कर लेना है। हमारे कई विचारक कह रहे हैं कि मुसलमानो के सम्प्रदायवाद के कारण तो द्विराष्ट्रवाद आया, अब हमें यह डर है कि बचे हुए गैरमुस्लिमो के भाषावाद के कारण यहाँ बहुराष्ट्र-वाद न आ जाय! भाषा का सास्कृतिक अभिमान एक अलग वस्तु है, लेकिन जब भाषा के साथ सत्ता जुड जाती है, तो उसे 'भाषावाद' कहते है। इसलिए शुरू से सरदार पटेल, अबेडकर, जवाहरलालजी और इस तरह के सभी लोगो के मन में यह भाव रहा कि इस देश में प्रान्तो को बहुत अधिक अधिकार न दिये जायें। लेकिन दक्षिण के प्रान्तवालो ने कहा कि प्रान्तीय स्वायत्तता होनी ही चाहिए। प्रान्त के लिए अधिक-से-अधिक अधिकार चाहिए।

ऐसी माँग करनेवाले दो तरह के लोग थे। एक तो मुसलमान थे। पाकिस्तान से पहले वे कहते थे कि प्रान्तो की स्वायत्तता यहाँ तक हो कि जो प्रान्त भारतीय सघ-राज्य मे से निकल जाना चाहे, निकल जाने तक की स्वतत्रता हो। ऐमा होने पर-पाकिस्तान की माँग शायद ये लोग न करे, इस उद्देश्य से उन्हे समझाने के लिए और उन्हे अपने मे मिला लेने के लिए हमारे देश के सारे नेता इस बात के लिए तैयार हो गये थे। दूसरी ओर दक्षिणवाले थे, जो कहते थे कि आपकी सस्कृति अलग, आपकी भाषा अलग, आपका तौर-तरीका अलग, आपकी रहन-सहन अलग, आपका रग-रूप अलग। आप और हम अग्रेजो के कारण एक साथ रहे, फिर भी आप कहते है कि आप और हम साथ रहेगे। यह कितने दिन चलनेवाली बात है ? एक ने कहा कि मुस्लिम भारत और गैर-मुस्लिम भारत, अलग-अलग होना चाहिए। दूसरा कहता है कि उत्तर भारत और दक्षिण भारत अलग-अलग होना चाहिए। भारतवर्ष के ये दो सास्कृतिक टुकडे माने जाने चाहिए। इस सदर्भ मे उन्हे सविधान बनाना था। इसलिए वे लोग बहुत विचार में पडे कि अब क्या हो ? आखिर इस प्रकार मनुष्यो का विभाजन होने लगे, तो इसका कही अन्त नही रहेगा।

लोकशाही की बुनियादें कब बदलेंगी ?

राजनीति को, सत्तावाद को बिखेर देने से सत्तावाद विकेन्द्रित हो जाता है। लेकिन विकेन्द्रित सत्तावाद का मतलब 'लोकनीति' नही है। उससे लोकनीति का प्रादुर्भाव नही होता। वह केवल 'विकेन्द्रित सत्तावाद' है। मै चाहता हूँ कि मेरा राज्य हो, आप चाहते है कि आपका राज्य हो। इसलिए आप एक उम्मीदवार और मै दूसरा उम्मीदवार। अब मेरा राज्य किस पर हो ? आप पर हो ? आपका राज्य किस पर हो ? मुझ पर हो। तो दोनो एक-दूसरे के कन्धे पर बैठने की कोशिश करते है। मै आपके कन्धे पर चढना चाहता हूँ, आप मेरे कन्धे पर चढना चाहते है। इस प्रकार सत्ता की स्पर्धा, जो पहले केवल राजगद्दी के आसपास थी, वह अब घर-घर पहुँच गयी। गाँव-गाँव पहुँच गयी। यह सत्ता की स्पर्धा का विकेन्द्रीकरण हुआ, सत्ता का विकेन्द्रीकरण नही हुआ। प्रश्न है कि सत्ता का विकेन्द्रीकरण कब होगा ? जब इस रूप के साथ-साथ लोकशाही की बुनियादे भी बदलेगी।

लोकशाही की बुनियादें कब बदलेगी ? जब हमारी आर्थिक इकाई, राजनैतिक इकाई और प्रातिनिधिक इकाई, इन तीनो मे कम-से-कम अन्तर रहेगा। और दूसरी बात यह होगी कि समाज सारा-का-सारा उत्पादको का होगा। उसमे मालिक कोई नही रहेगा। इसके लिए आर्थिक क्षेत्र मे हमारा पहला कदम होगा—**अनुत्पादक की मालकियत का विसर्जन**, दूसरा कदम होगा—**उत्पादक की मालकियत की स्थापना**,

और तीसरा कदम होगा—मालकियत का ही निराकरण। ऐसा जो समाज बनेगा, वह सारा-का-सारा उत्पादकों का होगा, उस समाज में स्वयपूर्णता की दृष्टि से विकेन्द्रीकरण होगा और उस विकेन्द्रित समाज में प्रतिनिधित्व और प्रशासन, दोनों यथासंभव समव्याप्त होंगे। प्रशासन का उद्देश्य वस्तु-नियंत्रण होगा, व्यक्ति-नियंत्रण नहीं। यह प्रशासन से अनुशासन की ओर जाने का कदम है। प्रशासन कम होता चला जायगा, अनुशासन बढ़ता चला जायगा।

उम्मीदवारी की समाप्ति

दूसरा कदम होगा—उम्मीदवारी नहीं रहेगी। बारात में जितने ईमानदार आदमी होते हैं, उनमें कभी ऐसी स्पर्धा नहीं होती कि मुझे कोठारी बना दिया जाय। उल्टे वे यह चाहते हैं कि हम जो कुछ चाहते हैं, वह हमें मिल जाय, तो अच्छा है। लेकिन कौन यह सारी झंझट अपने मत्थे लेगा? इसलिए जब आप सत्ताधारियों को केवल कोठारी बनायेंगे, सिर्फ व्यवस्थापक बनायेंगे और सत्ता उसमें से कम हो जायगी, उस दिन समाज में बहुत ज्यादा स्पर्धा नहीं रहनेवाली है। लोग अक्सर पूछते हैं कि सत्ता की आकांक्षा कैसे जायगी? हमारा कहना है कि धन की आकांक्षा जैसे परिस्थिति-परिवर्तन से कम होती है, उसी प्रकार सत्ता की आकांक्षा भी परिस्थिति-परिवर्तन से कम होगी। यानी परिस्थिति ही ऐसी बनानी चाहिए कि सत्तावाद के लिए कम-से-कम अवसर रहे। फिर भी सत्ता की आकांक्षा थोड़ी-बहुत बनी रहेगी, लेकिन उसका डंक निकल जायगा। मालिकी अगर बिखर जायगी, उत्पादकों की मालिकी अगर बन जायगी, तो मालकियत का डंक निकल जायगा। मालकियत का डंक निकालने के लिए हमने यह माँग की है कि उत्पादक की मालिकी हो। इसी प्रकार सत्तावाद का डंक निकाल देने के लिए, प्रशासन कम करने के लिए, अनुशासन बढ़ाने के लिए, वस्तु का नियंत्रण होगा। वस्तु के नियंत्रण से मतलब है, उत्पादन का नियंत्रण और वितरण का नियंत्रण होगा। मनुष्यों का नियंत्रण कम-से-कम होगा।

आज मनुष्यों का नियंत्रण क्यों करना पड़ता है? इसीलिए कि नागरिक को एक-दूसरे से डर है। एक नागरिक दूसरे नागरिक पर भरोसा नहीं कर सकता। डर का और दूसरा कारण क्या है? कुछ नागरिकों के पास दूसरे नागरिकों की अपेक्षा संग्रह अधिक है। संपत्ति और संग्रह नागरिकों में डर और अविश्वास पैदा करते हैं। इसलिए हम संपत्ति का विभाजन और संग्रह का निराकरण करना चाहते हैं। संपत्ति का विभाजन हो जायगा, संग्रह का विसर्जन हो जायगा, तो समाज में ऐसी परिस्थिति पैदा होगी कि एक नागरिक को दूसरे नागरिक से बहुत डर नहीं रह जायगा।

भय के तीन स्थान

डर के तीन कारण बतलाये जाते हैं जर, जमीन और जोरू।

मालकियत, सम्पत्ति और स्त्री, तीन भयस्थान समाज मे रहे है। दो चीजो का निराकरण करने के लिए तो आप तुले ही हुए है। आप कहते हैं कि जमीन की मालकियत को तो निकाल देंगे और सम्पत्ति का पुनर्विभाजन हो जायगा, संग्रह का निराकरण हो जायगा। दो भयस्थान तो आपके निकल ही जायेंगे। तीसरा भयस्थान 'स्त्री' है, उसका विचार आगे चलकर करूँगा। स्त्री को नागरिक बना दिया और फिर वह डरती रहे, तो बहुत ही मुश्किल है। यानी बकरियो को आजाद कर दिया और शेरो में छोड दिया, तो पछताना पडेगा। इस तरह की आजादी काम की नही होती।

शुरू में हम मनुष्यो के दो भय-स्थानो का निराकरण कर देते हैं। एक भय-स्थान : 'सम्पत्ति' और दूसरा भय-स्थान 'स्वामित्व'। इन दोनो की भावना जब निकल जाती है, तब तीसरा 'सत्ता' का जो भय-स्थान रहता है, उसका डक निकल जाता है। आज जिस मात्रा मे सत्ता की अभिलाषा है, फिर उस मात्रा मे वह नही रहती। उसमें से बहुत-सा वैभव निकल जाता है। उसमे व्यवस्थापक की ही भूमिका अधिक आ जाती है। 'हुकूमत' जिसे 'आज्ञा चलाना', 'हुक्म चलाना' कहा जाता है, वह चीज उसमें से कम होती चली जाती है।

सत्ता का विकेन्द्रीकरण

तो, हमारा यह चित्र है कि ऐसी इकाई होगी, जहाँ सब उत्पादक होगें, जहाँ लोगो के स्वार्थ-सबधो में बहुत अधिक विरोध नही होगा, जहाँ पर केन्द्रिय शासन के पास नैतिक सत्ता अधिक होगी, प्रत्यक्ष व्यवस्था की सत्ता विकेन्द्रित यानी स्थानीय शासन के पास अधिक होगी। वहाँ पर बहुत ज्यादा मतभेद के लिए गुजाइश नही रह जायगी। विकेन्द्रित शासन मे मतभेद के अवसर बहुत कम हो जाते हैं, इसलिए पक्षभेद के लिए बहुत ही कम गुजाइश रहती है।

वोटों की बिक्री और अपहरण

अब यही डर रहता है कि गुण्डे रहेगे या नही? आज की लोकशाही मे वोट छीने जाते हैं और वोट बेचे जाते हैं। सबसे बडा आतर-विरोध है कि यहाँ गरीब आदमी का राज्य हो गया और गरीब आदमी दुःखी है। इसका मुख्य कारण यही है कि वोट छीने जाते हैं और वोट बेचे जाते हैं।

हमारा एक मित्र प्रजा-सोशलिस्ट है। वह हार गया। वह बहुत अच्छा आदमी है और उसने देश की काफी सेवा की है। उसका चारित्र्य भी बहुत अच्छा है। मैंने उससे पूछा, "आप क्यो हार गये?"

तो कहने लगे, "विरोधी ने पानी की तरह पैसा खर्च किया, इसलिए हम हार गये।"

इसका मतलब यह था कि उसके विरोधी ने पैसे से वोट खरीदे।

दूसरी जगह एक बहुत बडे पैसेवाले थे, वे हार गये। वे भी हमारे मित्र है। हमने पूछा, "आप क्यो हार गये ?"

"क्या बताऊँ ! मेरे विरोधी ने डण्डे दिखा-दिखाकर वोट छीन लिये।"

तो वह डण्डे के सामने हार गया। एक ने डण्डे से वोट छीन लिये, दूसरे ने पैसे से वोट खरीद लिये। इसलिए आवश्यकता है सन्दर्भ बदलने की।

सन्दर्भ बदलने का परिणाम क्या होगा ? यही कि नागरिक का वोट कोई खरीद नही सकेगा और नागरिक का वोट कोई छीन नही सकेगा। ऐसी परिस्थिति हमें पैदा करनी है कि जिसमे वोट छीना नही जायगा, वोट बेचा नही जायगा। लोग कहते हैं कि अपढ लोग है, इससे ऐसा होता है। यह गलत है। युनिवर्सिटी के निर्वाचन-क्षेत्र में जितने वोट बिकते हैं, उतने बेचारे देहातियो के क्षेत्रो में कभी नही बिके होगे।

वर्तमान लोकशाही के त्रिदोष

आज की लोकशाही में तीन दोप ह—अधिकार का दुरुपयोग, अराजकता या गुडाशाही का भय और घूसखोरी। ये त्रिदोप आज की लोकशाही मे आ गये हैं। सभी देशो की लोकशाही मे ये बुराइयाँ है। इग्लैंड की लोकशाही में यह चीज है, अमेरिका की लोकशाही में भी यह चीज है। जहाँ पर लोग काफी सुखी है, वहाँ पर भी ये तीन दोप हैं। इन्हें लोकशाही के कफ-वात-पित्त समझ लीजिये। कभी कफ ज्यादा होता है, कभी पित्त। अभी तो ऐसा लक्षण दिखाई दे रहा है कि तीनो समप्रमाण में होकर सन्निपात होने जा रहा है। इसलिए लोकशाही की बुनियादें बदलने की आवश्यकता है।

गुंडातत्त्व का जन्म क्यों हुआ !

समाज में हम जिसे 'गुडातत्त्व' कहते है, वह अनुत्पादक और परोपजीवी वर्गो में से एक भयकर वर्ग है। जितना अनुत्पादक और परोपजीवी, थैलीवाला और तिजोरीवाला है, उतना ही अनुत्पादक और परोपजीवी यह लाठीवाला है।

लेकिन यह समाज में आया कैसे ? यह सपत्ति के सरक्षण के नाम पर समाज में दाखिल हुआ। पुलिस और फौज प्रशासन मे सपत्ति के सरक्षण के नाम पर आयी। गैर-सरकारी तौर पर जिसे 'गुण्डा' कहा जाता है, वह पहरुआ, दरवान और तकाजे-वाला बनकर आया।

गुडा सपत्ति का रखवाला बनकर हमारे समाज में दाखिल हुआ। हम सदर्भ

वदलने की वात कहते हैं, उसका अर्थ यही है कि उत्पादको के समाज मे न आरामवादी साहूकार होगा, न लाठी पर जीनेवाला लाठी-बहादुर गुडा होगा। इन दोनो का स्थान समाज में नही होगा।

प्रश्न है कि "लोग बैठे हुए है और आप कहेंगे—'वोटिंग के लिए हाथ उठाइये!' यहाँ पर तो गुडा धमका रहा है, उसकी आँख के सामने लोग आँख उठाने की हिम्मत नही करते, तो कोई हाथ उठायेगा? तो गुडे के रहते, डडे के रहते, लोकसत्ता कलुषित हो जायगी।"

दड-निरपेक्ष समाज का मतलब यह थोडे ही है कि राजदड नही रहेगा, लेकिन गुडे का डडा रहेगा! मुझसे लोग पूछते हैं कि राजा के हाथ मे दड नही रहेगा, तो फिर वह लोगो के हाथ में आ जायगा, जैसा कि शिक्षण में हुआ है। मास्टर के हाथ से छडी निकल गयी, तो उसे अब लडके ही पीटते हैं। यानी लडको के दिल से तो छडी निकली ही नही है, केवल मास्टर के हाथ से कानून ने निकाल ली। यह अराजकता है।

दंड-निरपेक्ष राज्य का अर्थ

तीन दोष है—अराजकता, दुरुपयोग और भ्रष्टाचार। इन तीनो दोषो का निराकरण करने के लिए हमे सदर्भ वदलना होगा। इसका मतलब यह नही है कि राजा यानी सरकार के पास तो दड नही रहेगा, लेकिन लोगो में आपस मे डडे चलेगे। दड-निरपेक्ष राज्य का अर्थ यह है कि दड कही नही रहेगा। दडाश्रित समाज नही रहेगा, सत्ता का या सुव्यवस्था का अधिष्ठान दड नही होगा, लोक-सम्मति होगी। दड पर इतना आधार होगा और लोक-सम्मति जितनी कम होगी, उतनी ही लोक-सत्ता कम होगी। दड का आधार जितना कम होगा और लोक-सम्मति जिस मात्रा में अधिक होगी, उतनी ही लोकसत्ता की प्रगति होगी।

लोक-सम्मति का अधिष्ठान

प्रश्न है कि प्रशासन क्षीण कव होगा और जनता के अनुशासन में वृद्धि कब होगी? तभी, जब सारे कानूनो के पीछे दड का अधिष्ठान न होकर लोक-सम्मति का अधिष्ठान होगा। लोक-जीवन में जिस तरह से सपत्ति का निराकरण होगा, उसी तरह उद्दड दडशाही का भी निराकरण हो जायगा। इसलिए लोकनीति का आधार है, कानून को लोक-सम्मति के रूप मे विकसित करना। कानून के पीछे लोक-सम्मति का अधि-ष्ठान आवश्यक है।

विनोबा कहते है कि पार्लियामेट में वही कानून बने, जो सर्वसम्मति से मजूर हो। वाकी कानून छोड दीजिये। लोग कहते हैं, "यह हो ही नही सकता। यह असभव चीज है।" उनका कहना है कि यह असभव नही है, आपने इसे शुरू ही नही किया।

जिस दिन आप शुरू कर देंगे, उसी दिन से कानून के पीछे दंड की आवश्यकता कम होती चली जायगी और कानून के पीछे लोकमत्ता का अधिष्ठान विकसित होता चला जायगा।

संदर्भ बदलने से क्या-क्या परिणाम हो सकते हैं? मान लें कि आपका क्षेत्र अधिक-से-अधिक दस गाँवो का है। इससे बडा क्षेत्र फिर कोई नही होगा। बहुत छोटे गाँव हुए, तो बीस गाँवो का होगा। सब लोग एक-दूसरे को जानते होगे। जहाँ लोग एक-दूसरे को जानते हैं, वहाँ हमेशा गाँव के किसी एक या दो व्यक्तियो के बारे मे सब लोगो के दिल मे आदर होता है। हर गाँव मे ऐसे दो-चार व्यक्ति होते हैं। पर वोटिंग कराइये, तो शायद वोट इनको नही मिलें। गाँव मे जो सबसे अच्छे आदमी हैं, उन्हे आज अक्सर वोट नहीं मिलता। लोगो का मन एक तरफ है और वोट दूसरी तरफ, यह आज की लोकशाही का दूसरा अतर्विरोध है। मन के साथ इनका वोट नही चलता। हम चाहते हैं कि लोगो का मन और वोट दोनो साथ-साथ चलें। इसके लिए हमने पहली परिस्थिति यह पैदा की कि थैली के लोभ का ही निराकरण कर दिया। हमने दूसरी परिस्थिति यह पैदा कर दी कि डडे के भय का निराकरण कर दिया। अब इस बात के लिए अवसर नही रह गया है कि कोई धमकाकर या लाठी चलाकर लोगो से उनके वोट ले सके। तो अब लोभ और भय इतना कम हो गया है कि अब नागरिक मे हिम्मत आ सकती है।

अब कोई उम्मीदवार नही है, परन्तु हमें व्यवस्था करनी है। तो लोग आपस मे पूछते हैं, "किस तरह का प्रबन्ध करना है?"

"अमुक-अमुक काम का प्रबन्ध करना है।"

"इसका अनुभव बबलभाई को ज्यादा है।"

दूसरे लोग कहते हैं, "हाँ भाई, बात तो ठीक है।"

बस, बात खतम हो गयी। एकाध कोई कहेगा कि बबलभाई से अमुक का अनुभव ज्यादा है, तो बबलभाई बोल ही नही रहे हैं। नारायण कहता है, "हाँ, उनको ज्यादा अनुभव है, तो वे रह जायें।" तो बबलभाई का नाम ही नही रहा।

यानी जो कोई काम के लिए आयेगा, वह सर्वसम्मति से आयेगा, उम्मीदवारी नही रहेगी। उम्मीदवारो में से कभी परस्पर विश्वास आ ही नही सकता। दो उम्मीद-वार कभी एक-दूसरे का उत्कर्ष चाह सकते हैं?

हर उम्मीदवार चाहता है कि समाज मे मेरी प्रतिष्ठा हो, मेरी लोकप्रियता बढे और विरोधी उम्मीदवार की लोकप्रियता और प्रतिष्ठा कम हो। जब हर उम्मीद-वार का यही कार्यक्रम हो जाता है कि एक-दूसरे की प्रतिष्ठा का कैसे निराकरण हो, तब फिर नागरिको की प्रतिष्ठा का स्थान ही कहाँ रह जाता है? जब प्रतिष्ठा का ही

निराकरण करना एक कार्यक्रम हो जाता है, तब कहा नही जा सकता कि नागरिकता का पतन कहाँ जाकर रुकेगा ? यह उम्मीदवारो की लोकशाही हो जाती है, पक्ष की लोकशाही हो जाती है, जनता की नही रहती। उम्मीदवार और पार्टी क्रियाशील होती है, लोग क्रियशील नही होते।

ग्राम की प्राथमिक इकाई

आधुनिक लोकशाही में लोगो की भूमिका सक्रिय बनाने का उपाय यही है कि निर्वाचन-क्षेत्र ऐसा होना चाहिए, जहाँ लोग एक-दूसरे को जानते हो, एक-दूसरे से डरते न हो, उनके वोट खरीदे न जा सके। ऐसे एक-दूसरे को जाननेवाले लोग जब एकत्र होगे, तब सामान्य मनुष्य में इतनी शक्ति और क्षमता आ जायगी कि उसे अपना निज का नियन्त्रण अपने प्रतिनिधि के हाथ में सौंपना नही पडेगा। वह केवल वस्तु-नियन्त्रण की जिम्मेवारी उसे सौंपेगा और इस तरह से लोगो की, सामान्य जन-समुदाय की, लोकशाही चरितार्थ हो सकेगी।

इस प्रकार हम ग्राम की प्राथमिक इकाई तक आ गये। लोकनीति मे प्राथमिक इकाई, प्राथमिक क्षेत्र ही मुख्य क्षेत्र होगा और उसके आगे के सारे क्षेत्र दोयम और गौण होगे। उसमे अप्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व होगा, प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व नही। प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व प्रथमिक क्षेत्र मे प्राथमिक क्षेत्र मे ही मुख्य सत्ता : उत्पादन की सत्ता और सविभाजन की सत्ता सयोजन की सत्ता। यही 'संयोजन' कहलाता है। उत्पादन और सम-विभाजन के नियत्रण की, वस्तु के नियत्रण की सत्ता प्राथमिक क्षेत्र मे, और बाकी की सारी सत्ता, जो दोयम और गौण सत्ता होती है, वह दूसरे क्षेत्रो मे होगी और वहाँ पर अप्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व होगा। यह है आगे के चित्र की रूपरेखा।

लोकसत्ता और सत्याग्रह

सभ्य समाज का एक लक्षण यह है कि जहाँ अल्पमत और अल्पसख्यको के अधिकार सुरक्षित रहते है, वह समाज सुसस्कृत और सभ्य है। अल्पसख्यको का सबसे बडा अधिकार यह है कि उन्हें अपने मत का प्रतिपादन और प्रचार करने की आजादी होनी चाहिए। बल्कि यह कहना चाहिए कि मत-स्वातत्र्य ही वास्तविक व्यक्ति-स्वातन्त्र्य है। मत-स्वातन्त्र्य का अर्थ है—बहुमत से भिन्न मत रखने की और प्रकट करने की आजादी। भिन्न मत का ही नाम स्वतत्र मत है। आप जिस तरह से सोचते है, उससे भिन्न प्रकार के सोचने के लिए मौका मुझे नही है, तो मै दरअसल स्वतन्त्र नही हूँ।

लेकिन अल्पमत यदि केवल सुरक्षित है,तो दरअसल वह स्वतत्र नही हो सकता। तब तो उसे बहुमत की कृपा और उदारता के भरोसे जीना पडेगा। उसमें अपना कोई सामर्थ्य या सत्त्व नही रह सकेगा। बहुमत की कृपा पर और बहुमत के भरोसे जिस

अल्पमत को निर्भर रहना पडता है, उसमें समाज का हित करने का कोई माद्दा नही होता। उसमें तत्त्व-निष्ठा का अधिष्ठान भी नही रह सकता। इसलिए जरूरत इस बात की है कि अल्पमत अपनी निष्ठा और अपनी हिम्मत के भरोसे जिये।

आत्मबल का आधार

यह तभी हो सकता है, जब कि अल्पमत का आधार सख्या-बल और दड-शक्ति से श्रेष्ठ कोई सामर्थ्य हो। यह बल आत्मबल ही हो सकता है। विचार की शक्ति बुद्धि-निष्ठा में होती है और उसका आधार आत्मबल होता है। सौ में से निन्यानबे व्यक्ति एक तरफ हो, तो भी वह विचलित नही होगा। वह अपने शुद्ध विचार और अनासक्त आत्म-प्रत्यय को ईश्वर का सकेत मानेगा और उसके लिए नम्रतापूर्वक स्वेच्छा से विधान में विहित दड भुगतने के लिए तत्पर रहेगा। दड-बल, शस्त्र-बल और सख्या-बल के सामने सिर नवाये बिना आत्म-सकेत के अनुसार चलने की स्वतत्रता नागरिक का आत्म-मर्यादावाचक लक्षण है। मैं आजाद हूँ, इसकी सबसे बडी पहचान यह है कि सारी दुनिया से अलग राय रखकर भी मैं अपनी राय के मुताबिक चल सकूं। 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्'—'आत्मा के लिए सारी दुनिया का त्याग करो।'

यो नागरिक जीवन का सूत्र यह है कि मैं अपने स्वार्थ की बलि सामुदायिक हित के लिए दे दूं। लोकतत्र का अर्थ यह है कि मैं अपने व्यक्तिगत मत से समाज की सर्वसम्मति को श्रेष्ठ मानूं। इसलिए लोकतात्रिक समाज में कृति का निश्चय साधारण रूप से सर्वसम्मति से होगा। सर्वसम्मति साध्य करने के लिए मुझे अपनी राय को गौण मानकर दूसरो की राय का विचार अनुकूलता से करना होगा। इस तरह जहाँ व्यक्तियो के स्वार्थ एक-दूसरे से बहुत कम टकरायेंगे, जहाँ आमतौर पर नागरिको को समाज-हित का ही विशेष ध्यान होगा, वहाँ 'सर्वसम्मति' प्राप्त करना बहुत मुश्किल नही होगा।

सत्याग्रह : कब और क्यों ?

फिर भी ऐसे कुछ मौके कभी आ सकते हैं, जब मेरा अपना विवेक 'बहुमत' या निन्यानबे प्रतिशत के मत से भिन्न हो सकता है। मेरी 'अतरात्मा' का निर्णय कुछ और है। एक सभ्य नागरिक के नाते मैं सर्वमत का अनादर नही करना चाहता। परन्तु एक सत्यनिष्ठ व्यक्ति के नाते अपनी अन्तरात्मा की आवाज की अवहेलना भी नही कर सकता। ऐसी स्थिति में मेरी आत्म-मर्यादा और स्वतन्त्रता का समाज-धर्म के अनुकूल एक ही आधार हो सकता है और वह है 'सत्याग्रह'। सत्याग्रह जब सविनय कानून भग का रूप लेता है, तब वह नम्रतापूर्वक एक खास कानून का उल्लघन करता है। लेकिन समाज की दूसरी सारी मर्यादाओ का पालन सच्चाई से और कडाई से करता है। आत्म-सयम से ही 'सत्याग्रही' को सविनय अवज्ञा का अधिकार प्राप्त

होता है। वह अपनी अहंता और अपने स्वार्थ को पहले ही समाज-हित के लिए न्योछावर कर देता है। वह आत्मवान् बन जाता है। इसीलिए उसे आत्मबल का आधार प्राप्त होता है।

लोकसत्ता का अधिष्ठान दंडशक्ति नहीं, लोकसम्मति है। जहाँ अल्प मात्रा में भी दंडशक्ति के आधार पर राज्यसंस्था निर्भर हो, वहाँ जन-शक्ति का अंतिम अधिष्ठान सत्याग्रह ही हो सकता है। उसी प्रकार लोकसत्ता में नागरिक स्वातंत्र्य का एकमेव अवलंबन 'सत्याग्रह' ही हो सकता है। 'सत्याग्रह' समष्टि-विरोधी या लोकसत्ता के प्रतिकूल तत्त्व नहीं है, बल्कि वास्तविक लोकसत्ता का और नागरिक स्वतंत्रता का वही यथार्थ अधिष्ठान है। उसीमें मनुष्य की विवेक-बुद्धि साबित रह सकती है और अल्पमत के अधिकार सुरक्षित रह सकते हैं।*

* निवार-शिविर में २५-८-'५५ का सायं-प्रवचन।

स्त्रियों का सहनागरिकत्व : १२ :

नागरिकता के क्षेत्र मे हम स्त्री-पुरुष-भेद का निराकरण करना चाहते है। हरएक संविधान मे, स्विट्जरलैंड जैसे अपवाद को छोडकर, चाहे वह इग्लैंड का हो, अमेरिका का हो, रूस का हो, चीन का हो, यह प्रतिज्ञा है कि हम स्त्री पुरुष-भेद को नागरिकता के क्षेत्र मे नही मानेंगे। उधर संविधान मे तो यह प्रतिज्ञा है कि हम स्त्री-पुरुष-भेद को नही मानेंगे और इधर आज के जमाने मे, और पुराने जमाने मे भी, स्त्री यानी काम पुरुष की 'एक ही धुन' रही है। आज यदि पुरुष के हृदय पर सबसे अधिक किसी विषय की पकड रहती है, तो स्त्री की रहती है। पुराने जमाने में तो यह इतनी थी कि पुरुष सदा ही उससे बचता रहता था, उसे 'नरक का द्वार' समझता रहता था।

नारी : क्रय-विक्रय की वस्तु

पुराने जमाने में स्त्री की प्राय एक ही भूमिका हम सदा देखते हैं कि जब किसीको मोह मे डालना हो या तपस्वी को तपोभ्रष्ट करना हो, तो यह बेचारी आ जाती थी। जो पुरुष सबसे पराक्रमी हो, उसे देने की वस्तु कौन-सी थी ? स्त्री। राजा बहुत खुश हुआ, तो आधा राज्य दे दिया और अपनी कन्या दे दी। वह खरीदने की चीज थी, वह जीतने की चीज थी, वह चुराने की चीज थी और वह छीनकर ले जाने की चीज थी। इसलिए वह बेचने की चीज भी थी। हम लोगो की अक्सर यह धारणा रही है कि स्त्रियो के विषय में प्राचीन आदर्श ऊँचे थे। और बातो मे वे रहे होंगे, लेकिन इतना मुझे नम्रता-पूर्वक कह देना चाहिए कि स्त्रियो-सम्बन्धी सारे प्राचीन आदर्श, स्त्रियो की मनुष्यता की हानि और अपमान करनेवाले थे। इसलिए उन आदर्शो के अनुसार आज का सह-नागरिकत्ववाला समाज चल नही सकता। किसी धर्म में स्त्री का स्वतंत्र व्यक्तित्व कभी नही रहा। मेरी माँ कोई धार्मिक विधि कभी अकेले नही कर सकती। मेरे पिताजी की वह सहधर्मिणी है, मुख्य धर्मिणी नही। पिताजी न हों, तो उसका अपना कोई धर्म नही है। पिताजी जो पुण्य करते है, उसका आधा पुण्य अपने-आप उसे मिल जाता है और वह जो पाप करती है, उसका आधा पाप पिताजी को अपने-आप लग जाता है। वह जो पुण्य करती है, उसका आधा पिताजी को नही मिलता और पिताजी जो पाप करते हैं, उसका आधा पाप उसे नही लगता। यह मर्यादा है। क्योंकि वह रक्षित है, यह 'रक्षक' है। स्त्री पालित है, पुरुष पालक। यह उसका भर्ता है, प्रतिपालक है, पति है। इसलिए मुख्य धर्म और मुख्य कर्तव्य पुरुष का है, स्त्री की केवल सहधर्मिणी

की भूमिका है, वह सह-जीविनी है, उसका अपना स्वतन्त्र जीवन नही है। जैनो और बौद्धो के कुछ प्रयासो को हम छोड दें, तो आज तक की जो परम्परा और समाज-स्थिति है, वह यह है कि स्त्री की भूमिका गौण और दोयम रही है। उसका अस्तित्व स्वतन्त्र नही रहा है। समाज ने कभी उसे व्यक्ति नही माना है। इसलिए ब्रह्मचर्य उसका मुख्य धर्म कभी नही माना गया। पुरुष का मुख्य धर्म ब्रह्मचर्य माना गया है।

ब्रह्मचर्य का सामाजिक अर्थ

ब्रह्मचर्य का सामाजिक अर्थ क्या है? स्त्री का शरीर पुरुष के आक्रमण का विषय न हो और पुरुष स्त्री का रक्षणकर्ता न हो। यह ब्रह्मचर्य का सामाजिक अर्थ है और इस दुनिया मे कोई क्रातिकारी ऐसा नही है, चाहे मार्क्सवादी हो, चाहे गाधी के विचार माननेवाला हो या और कोई विचार माननेवाला हो, जो यह सिद्धान्त न माने कि समाज-व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि स्त्री का शरीर पुरुष के आक्रमण का विषय न रहे, उसकी अभिलाषा का विषय न रहे और पुरुष का शरीर स्त्री के लिए रक्षण माँगने का विषय न रहे। यानी स्त्री रक्षणाकाक्षिणी न रहे और दूसरी तरफ पुरुष आक्रमणशील न रहे। यह सामाजिक क्षेत्र मे ब्रह्मचर्य कहलाता है।

सह-जीवन की दो शर्तें

स्त्री रक्षणाकाक्षिणी रहेगी, तो उसे नागरिक नही बनना चाहिए, नही बनने देना चाहिए। वह सिर्फ कुटुम्बिनी रहे। वह कुटुम्बिनी जब तक रहेगी, तब तक उसकी तीन ही हैसियतें हो सकती हैं—या तो वह माँ रहे, बहन रहे, कन्या रहे या फिर वह कुटुम्ब से बाहर आकर दूसरे कुटुम्ब में पत्नी के नाते दाखिल हो जाय। यौन-सबंध और रक्त-सबध, ये दो ही सबध ऐसे होगे, जहाँ स्त्री और पुरुष, दोनो एक-दूसरे के साथ रह सकेंगे। माता और पुत्र के नाते, कन्या और पिता के नाते, भाई-बहन के नाते, पति-पत्नी के नाते। पति-पत्नी का सबध है यौन-सबध, विवाह का सबध, और बाकी रक्त के सबध।

कुटुम्ब मे स्त्री और पुरुष का सह-जीवन दो ही शर्तो पर होता है। या तो उनका रक्त का सबध हो या फिर यौन-सबध, विवाह-सबध हो। जहाँ रक्त-सबध भी नही है और विवाह-संबध भी नही है, वहाँ स्त्री-पुरुषो का सबध 'नागरिक का संबध' कह-लाता है। इसे मैंने 'सहनागरिकत्व' कहा है।

सहनागरिकत्व का विचार

इसका वैज्ञानिक विचार केवल 'कम्युनिज्म' में हुआ। जिन परिणामो पर वे लोग पहुँचे, उससे बहुत भिन्न परिणामो पर हम नही पहुँचे। आज उनका विचार

यहाँ तक पहुँचा है कि स्त्री की जो कौटुम्बिक भूमिका है, वह उसके नागरिकतत्व से समृद्ध होनी चाहिए। स्त्री की कौटुम्बिक भूमिका मे और स्त्री के नागरिकत्व में अन्तर नही होना चाहिए। शुरू में उन लोगो ने कुटुम्ब-सस्था का विरोध इसलिए किया कि कुटुम्ब-सस्था मे स्त्री दासी थी। कुटुम्ब-सस्था में स्त्री की कोई भूमिका नही थी। पर आज वे कहते हैं कि समाज की प्रगति चक्करदार, पेंचदार, जीने (सीढी) की तरह होती है और क्राति के वाद की आज की कुटुम्ब-व्यवस्था पहले से ऊँचे स्तर की है।

स्त्री के नागरिक वन जाने के वाद की कौटुम्बिक रचना मे मातृत्व का आशय वदल जाता है, पत्नीत्व का आशय वदल जाता है, भगिनीत्व का आशय वदल जाता है और कन्यात्व का भी आशय वदल जाता है। पहले, जैसा कि मैंने कहा, स्त्री वेचने की चीज थी, खरीदने की चीज थी, जीतने की चीज थी और चुराने की भी चीज थी। इसलिए स्त्री एक प्रकार से व्यक्ति नही थी, वह हमारी सपत्ति का, जायदाद का एक प्रकार से हिस्सा थी। जव वह पुरुष की सपत्ति का एक हिस्सा थी, उस वक्त की कुटुव-रचना और स्त्री जिस दिन पुरुष के वरावरी की व्यक्ति और नागरिक वन जाती है, उस वक्त की कुटुम्ब-रचना मे मूलत अतर पड जाता है। इसलिए उन्होने इसे उच्च स्तर कहा। उसका स्तर, उसकी भूमिका, वदल गयी है।

नीति के दो मान-दण्ड

तो यदि हम स्त्री के नागरिकत्व को चरितार्थ करना चाहते हैं, तो समाज में और आर्थिक क्षेत्र में हमें उसकी भूमिका वदल देनी होगी। स्त्री की सामाजिक भूमिका मे सवसे वडा दोष है नीति के दो मानदड। पुरुष के लिए एक मानदड और स्त्री के लिए दूसरा मानदड।

एक स्त्री सती हुई। अव आप कहते हैं, "कितना त्याग है! कितना वलिदान है! कैसी अद्भुत भक्ति है! इसमे कितना प्रेम है कि पति के जीवन के साथ समरस हो गयी! पति के जीवन का अत होते ही उसके वाद उससे रहा नही गया, उसके साथ वह समाप्त हो गयी। उसने पति की चिता में पति के शरीर के साथ अपने-आपको भस्मसात् कर लिया।" यह वहुत वडा आदर्श है, मैं मानता हूँ। लेकिन अव इसके साथ एक दूसरी वात ले लीजिये—एक पुरुष अपनी स्त्री के साथ चिता पर जल मरता है। आप कहेगे—लपट है! भला, स्त्री के साथ भी कोई मरता है? ऐसा मूर्ख पुरुष जो सिर्फ औरत के लिए मरता है! पुरुषनिष्ठ स्त्री 'पतिव्रता' कहलाती है, स्त्रीनिष्ठ पुरुष 'लपट' कहलाता है। अव वतलाइये, कितना भयानक यह पैमाना है! नैतिकता के लिए ये जो दो कसौटियाँ हैं, ये कितनी भयकर कसौटियाँ हैं?

स्त्री के लिए ब्रह्मचर्य का निषेध

स्त्री मुझसे कहती है कि पुरुष की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक नैतिक है। अधिक नैतिकता का मतलब यह तो नही कि अधिक सयमी है, अधिक ब्रह्मचर्यनिष्ठ है। ब्रह्मचर्य का तो उनके लिए निषेध है। वृद्ध कुमारिका 'वृषली' कहलाती है। जब तक उसकी शादी न हो जाय, तब तक उसके हाथ का कोई पानी नही पीता। कोई भी नेता लडकियो के स्कूल मे जाकर कहता है, "लडकियो तुम वीर माता बनो, शिवाजी की माता बनो, गाधी की माता बनो, तिलक की माता बनो।" पर लडको के कॉलेज मे जाकर कोई यह नही कहता कि 'तुम लोग वीर-पिता बनो'। वह ऐसा नही इसलिए नही कहेगा कि पुरुष का धर्म और पुरुष का व्यक्तित्व स्वतत्र और स्वायत्त है, स्त्री का नही है। ऐसा विरोध रहते हुए एक नागरिक रक्षित रहे और एक नागरिक उसका रक्षणकर्ता रहे, लोकसत्ता चरितार्थ कैसे हो सकती है ? इसलिए मेरा नम्र सुझाव यह है कि स्त्री के जीवन मे ब्रह्मचर्य का स्थान वही होना चाहिए, जो पुरुष के जीवन मे है। इसे मैं **'ब्रह्मचर्य-व्रत का सामाजिक मूल्य'** कहता हूँ।

ब्रह्मचर्य का गलत अर्थ

पुराने लोगो ने **'ब्रह्मचर्य'** का अर्थ कर लिया है—स्त्री से दूर रहना और स्त्री से डरना, 'स्त्री-द्रोह'। केवल स्त्री-निरपेक्ष जीवन नही, स्त्री-विरोधी जीवन। बचपन में हमारे यहाँ एक ब्रह्मचारी थे। वे स्त्रियो के आते ही मुँह पर कपडा डाल लेते थे। कारण पूछने पर कहते, "स्त्रियो का मुँह नहीं देखते"। "क्या माँ का मुँह नही देखते ?" तो कहते, "हमारा तो ब्रह्मचर्य का आदर्श ही यह रहा है कि मैं केयूर नही जानता, कुण्डल नही जानता, केवल नूपुर जानता हूँ—**नित्यं पादाभिवन्दनात्**"। लक्ष्मण कहता है, "मैं जानकी दूसरे कोई गहने नही जानता।" परन्तु क्या लक्ष्मण सुमित्रा के बारे मे ऐसा कह सकता है कि "मैंने कभी उसका चेहरा नही देखा ?" विद्यारण्य स्वामी लिखित 'शाकर दिग्विजय' मे मडन मिश्र का और शकराचार्य का पार्लियामेंटरी ढग का सवाद आता है। पर उसमें एक बात बहुत महत्त्व की है। मडन पूछता है, "जिन स्त्रियो की कोख से तू पैदा हुआ, और जिनका स्तन्य तूने पिया, उन स्त्रियो से तू घृणा करता है ? उनका द्रोह करता है ? तू उनसे दूर-दूर फिरता है, ब्रह्मचारी बनता है ?" यह थी स्त्री और पुरुष का भेद करनेवाले मडन की दृष्टि। शकराचार्य जवाब देता है और वह जवाब एक ऐसा जवाब है, जिसे मैं और आप, सब याद रखें। उसने जवाब दिया, "अरे, जिनकी कोख से पैदा हुआ और जिनका दूध पिया, तू पशु की तरह उन्हीसे शादी करता है। मैं ऐसा नही करता।" यह ब्रह्मचर्य की दृष्टि कहलाती है।

मातृत्व की दृष्टि

ब्रह्मचर्य की जो दृष्टि है, वह मातृत्व की है, वह कोई पितृत्व की प्रतियोगी नहीं है। मेरी माता मेरे पिता की स्त्री नही है, वह मेरी माँ है और मेरी स्त्री मेरी पत्नी नही है, मेरे बच्चो की माँ है। इस भावना में फर्क है। इसीलिए तो हम दूसरी स्त्री से माताजी कह सकते हैं। यानी मातृत्व की भावना मे, 'माता' शब्द के सकेत में, विवाह-भावना नहीं है। मैं बता चुका हूँ कि ब्रह्मचर्य-भावना मे, स्त्री-पुरुष-सबध में, काम की जो भावना है, उस भावना का निराकरण है और सामाजिक सकेतो की स्थापना है, जिससे स्त्री-पुरुषो की कामवासना और कामभावना कम हो। पुरुष आक्रमणशील न रहे, स्त्री रक्षणा-कांक्षिणी न रहे, इसके लिए नये सामाजिक सकेतों की और नयी भावनाओ के विकास की आवश्यकता होती है। आखिर सामाजिक मूल्यो में परिवर्तन ही तो क्रान्ति है।

स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में भी हमे मूल्यों का परिवर्तन करना होगा। मातृत्व की भावना का आज से भिन्न अर्थ करना होगा। हमारी जगन्माता काली जो है, हमारी जगन्माता भगवती जो है, हमारी जगन्माता दुर्गा जो है, वह त्रिलोचनकुटुम्बिनी नही है—जगन्माता है। 'त्रिलोचनकुटुम्बिनी' कहते ही उसका अर्थ बिलकुल बदल जाता है।

'ब्रह्मापि या नौतिनुतः सुरेन्द्रैः, यामर्चितोऽप्यर्चयतीन्दुमौलिः।
या ध्यायति ध्यानगतोऽपि विष्णुः, तामादिशक्ति शिरसा प्रपद्ये ॥'

—'ब्रह्मा भी जिसको नमन करता है, इन्द्र भी जिसको नमन करता है, विष्णु भी जिसका ध्यान करता है, वही आदिशक्ति हमारी जगन्माता है।' मनुष्य जब ऐसा कहता है, तो मातृत्व को यह विश्वव्यापी बना देता है। इस मातृत्व की भावना का विकास हमारी कौटुम्बिकता का आधार होगा। कुटुम्ब में नैतिकता का आधार क्या होगा ? मेरी माँ मेरे पिता की पत्नी नही है और मेरी अपनी पत्नी मेरे पुत्रों की माँ है—यह तो कौटुम्बिक क्षेत्र मे हो गया। कौटुम्बिक क्षेत्र से बाहर, स्त्री और पुरुष जहाँ बराबर है, मेरी बेटी को भी एक ही वोट, मेरी बहू को भी एक ही वोट, मेरी माँ को भी एक ही वोट। बेटी का मैं बाप हूँ, पर नागरिक के नाते उसको भी एक वोट और मुझे भी एक वोट। इतना ही नहीं, वह म्युनिसिपैलिटी की प्रेसिडेंट बन सकती है और मैं म्युनिसिपैलिटी का चपरासी रह सकता हूँ। नागरिक के नाते हम समान भूमिका पर आ जाते हैं।

मनुष्यत्व के आधार पर नागरिकत्व

स्त्री-पुरुष से व्यापक मनुष्यत्व की भूमिका है। हम स्त्री का स्त्रीत्व भूल जाते है, पुरुष का पुरुषत्व भूल जाते हैं—दोनो के मनुष्यत्व के आधार पर नागरिकत्व की रचना होती है। स्त्री और पुरुष मे एक सामान्य मनुष्यत्व है। उस सामान्य मनुष्यत्व के

आधार पर दोनो के नागरिकत्व की रचना होती है। विशिष्टत्व उनमें है। कार्यक्षेत्र इसीलिए उनके भिन्न होते हैं। लेकिन नागरिकत्व का आधार उनका सामान्य मनुष्यत्व है। अलग-अलग कार्यक्षेत्र हैं, तो कार्यक्षेत्रो के मूल्य समान मान लिये जायँ।

स्त्रियो का कहना है कि हमको नागरिकत्व दो, हमको स्वतन्त्रता दो, लेकिन हमारी स्वतन्त्रता का रक्षण तुम करो। पुरुष-साम्राज्यातर्गत स्वराज्य उन्हे चाहिए— सुरक्षित स्वराज्य। हम कहते हैं कि उनका स्वराज्य, उनकी स्वतन्त्रता स्वायत्त हो। स्त्री आगे सुरक्षित नही रहेगी, स्वरक्षित होगी। पुरुष की ओर से तो सुरक्षित रहेगी, लेकिन अपनी तरफ से स्वरक्षित रहेगी। जो स्वरक्षित नही है, वह सुरक्षित कभी हो ही नही सकता। स्त्री स्वरक्षित रहे, इसके लिए अहिंसा सबसे अनुकूल है। अहिंसा हमारा मूलभूत सामाजिक सिद्धात है और वह स्त्री की स्वतत्रता के लिए सबसे अधिक अनुकूल है। हिंसा शस्त्र का भरोसा करती है। हिंसा शरीर-शक्ति का भरोसा करती है। लोग कहते हैं कि स्त्री का शरीर पुरुष के शरीर की अपेक्षा कम सामर्थ्यवान् है। स्त्री का शरीर पुरुष के शरीर की अपेक्षा कम शक्ति-सम्पन्न है तो अहिंसा ने कहा, "शक्ति का अधिष्ठान शरीर है ही नही।"

अहिंसा का मूलभूत सिद्धान्त

गाधी, विनोबा और जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रो के नेता हो सकते हैं। मार्क्स और लेनिन क्रातियो के नेता हो सकते हैं। सब जानते हैं कि वे अपने जमाने के पहलवान नही थे। इनसे कई बडे पहलवान रूस में उस जमाने में थे और आज भी है। दुनिया भर में लुई और किंगकाग का बोलवाला है। फिर भी जो पहलवान नही थे, वे ही लोग दुनिया के नेता हुए और क्राति के नेता हुए। शक्ति का अधिष्ठान शस्त्र भी नही होता और शरीर भी नही होता। यह अहिंसा का मूलभूत सिद्धान्त है। तो अब स्त्री के लिए और कौन-सी बात बाकी रह गयी है? समाज मे शरीर-शक्ति यदि श्रेष्ठ नही है, शरीर-शक्ति से दूसरी शक्ति श्रेष्ठ है, तो अब स्त्री को एक ही सकल्प करना है कि 'आज से हम इस ससार में पुरुष के भरोसे नही जियेंगी। पुरुष के साथ जियेंगी'। १०० मे से ९० पुरुष स्त्रियो के साथ तो जीते है, कोई शुक्राचार्य तो है नही, लेकिन स्त्रियो के भरोसे नही जीते। यह पुरुष-जीवन की विशेषता है, जिसे मैं ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा कहता हूँ। मैं यह नही कहता कि पुरुषमात्र शुक्राचार्य है, नैष्ठिक ब्रह्मचारी है, लेकिन पुरुष-जीवन मे ब्रह्मचर्य का मूल्य होने के कारण उसकी नीतिमत्ता में इतनी शक्ति आ गयी है। वह यह कहता है कि मैं स्त्री के भरोसे नही जिऊँगा। स्त्री कहती है कि मुझे पुरुष के भरोसे जीना पडता है। भगवान् ने मेरे शरीर की रचना दूसरे प्रकार से

की। इसे प्राकृतिक दलील कहते हैं। मुझे खुशी है कि चाहे ब्रह्मचर्यवादी हो, भौतिकवादी हो या अध्यात्मवादी हो, ससार के सभी क्रान्तिकारियो ने, इस दलील को नही माना।

जगन्माता रक्षणाकांक्षिणी क्यों ?

अब सकल्प इतना ही करना है कि मेरी इज्जत मेरी जान से अधिक प्यारी होगी। पहले जान जायगी, बाद में इज्जत जायगी। जिसकी इज्जत दूसरे के कब्जे में होती है, उसकी भी कोई इज्जत है ? आपने अपनी इज्जत मेरे कब्जे मे दे दी, तो इज्जत मेरी हो गयी या आपकी रही ? स्त्री की इज्जत आज पुरुष के भरोसे है, इससे स्त्रियो की अपनी इज्जत है हो नही। यह मैं बहुत ही कठोर बात कह रहा हूँ, लेकिन एक स्त्री के पुत्र के नाते कह रहा हूँ। मैं अपनी माँ की यह स्थिति सह नही सकता। जिस माँ को मैंने पिताजी से श्रेष्ठ माना, थोडा-सा भय होते ही जिसके नाम से पुकारा, जिस जगन्माता के मन्दिरो में जाकर मैंने कहा कि 'क्वचिदपि कुमाता न भवति।' जिस जगन्माता के बारे मे मैंने यह गाया

'यदेतस्यैश्वर्यं तव जननि सौभाग्यमहिमा।'

—'इस महेश्वर का जो ऐश्वर्य है, वह ओ जननि, तेरे सौभाग्य की महिमा है। इसका अपना कुछ नही है।'

यह जिसके लिए मैंने गाया, वह अन्त मे स्त्री के नाते पुत्र का रक्षण खोजे, बहन के नाते भाई को राखी बाँधकर उसका रक्षण खोजे, विवाह मे पत्नी के नाते भर्ता का रक्षण खोजे, बाल्यावस्था में कन्या के नाते पिता का रक्षण खोजे ?

नारी स्वरक्षित बने

जो रक्षक बन सकता है, वह नीयत बदलते ही आसानी से भक्षक बन सकता है। इसलिए जब तक स्त्री पुरुष-रक्षित है, तब तक वह सुरक्षित भी नही है। उसे स्वरक्षित बनना चाहिए और स्वरक्षित बनने के लिए उसके जीवन मे ब्रह्मचर्य का मूल्य आना चाहिए। जो पुरुष स्त्री-निरपेक्ष जीवन व्यतीत करता है, वह गृहस्थाश्रमी से श्रेष्ठ माना जाता है। स्त्रियाँ भी ऐसा मानती हैं। वे हनुमान्‌जी और दत्तात्रेय की ही पूजा करने जाती हैं। यह पुरुष के जीवन में ब्रह्मचर्य का मूल्य है। विनोबा को किसीने नहीं कहा कि यह बाप नही हुआ, तो इसका जीवन सार्थक नही हुआ। लेकिन मातृत्व के बिना स्त्री के जीवन की सार्थकता नही है। मातृत्व के बिना यदि जीवन की सार्थकता नही है, तो स्त्री विवाहाकाक्षिणी बन जायगी। कुकुम-पत्रिकाओ मे लडकी के लिए लिखते हैं 'सौभाग्यकाक्षिणी' अमुक की, इसकी शादी है। यह सौभाग्यकाक्षिणी है। शादी करना चाहती है, इसे आकाक्षा है सौभाग्य की। पर इसका जो पति होनेवाला

है, वह अपने को सौभाग्यकाक्षी नही लिखता। यह कोई दुर्भाग्यकाक्षी है ? वह तो सौभाग्वती हो गयी, पर यह कुछ नही हुआ । क्यो ? इमीसे कि इसमें कोई आकांक्षा नही है ।

नारी-जीवन की अनर्थ-परम्परा

जीवन मे ये भिन्न मानदड इसलिए आ गये है कि स्त्री और पुरुष के लिए हमने अलग-अलग नैतिक मूल्य मान लिये हैं। जब हम नैतिक मूल्यो को एक बार अलग मान लेते हैं, तो उनकी ऐसी परम्परा वन जाती है । मातृत्व के विना स्त्री-जीवन की सार्थकता नही । विवाह के विना मातृत्व नही । पुरुष के विना विवाह नही । इसलिए पुरुष-सापेक्ष जीवन वन गया । यह है नारी-जीवन की अनर्थ-परम्परा ।

हम चाहते हैं कि स्त्री का जीवन पुरुप-सापेक्ष न रहे, ब्रह्मचर्य पर अधिष्ठित हो । इसका मतलव यह नही कि स्त्री शादी नही करेगी । कितनी ही लडकियां मुझसे आकर पूछती हैं, "तो क्या हम शादी न करें ?" मैं कहता हूँ, "क्या लडके शादी नही करते? वे शादी तो करते ही हैं, लेकिन तुम्हारे भरोसे नही जीते।" शादी होते ही लड़की की चिन्ता समाप्त हो जाती है और लडके की चिन्ता शुरू हो जाती है । लडके मे कहिये कि "शादी करो" तो वह कहता है, "अभी तैयार नही ।" "क्यो नही है?" तो कहता है, "अभी मैं कुछ कमाता नही हूँ ।" और कॉलेज की लडकी से पूछता हूँ, "शादी करोगी ?" तो कहती है, "हाँ, अव तक हुई ही नही है, इसीलिए नहीं की है । कल हो जायगी, तो फिर नौकरी-चाकरी की चिन्ता नही रहेगी । वह रिक्शा चलायेगा और मैं भीतर वैठूंगी ।"

पुरुषों के लिए तीन सुझाव

सहनागरिकत्व के लिए मैंने स्त्री-पुरुप, दोनो को कुछ सुझाव दिये हैं। पुरुपो के लिए मेरे तीन सुझाव हैं :

जव तक पुरुष विद्यार्थी है, तव तक उसमें विवाह-भावना विलकुल न होनी चाहिए। हमारे विद्यालय वर-वधू-शोध-क्षेत्र नही वनने चाहिए । लडके-लडकियो, दोनो का जीवन अकलुपित और ब्रह्मचर्यनिष्ठ होना चाहिए। तभी सह-शिक्षण सफल होगा, अन्यथा नही । इसके लिए समाज में परिस्थिति का जितना परिवर्तन करना आवश्यक हो, उतना वस्तु-परिवर्तन कर लेना चाहिए। लेकिन मूल्य-परिवर्तन हमेशा शिक्षण से होता है । इसलिए शिक्षण के क्षेत्र मे वस्तु-परिवर्तन के वाद मूल्य-परिवर्तन शुरू हो जाना चाहिए ।

कुटुम्ब में स्त्री का नागरिकत्व दाखिल हो जाना चाहिए । स्त्री नागरिक वन गयी है, इस वात की चेतना, इसका वोध, पुरुप को होना चाहिए । अव वह केवल

कुटुम्बिनी नहीं रह गयी है। नागरिक के नाते सरोजनीदेवी गवर्नर बन सकती हैं और उनके पति एक साधारण नागरिक रह सकते हैं। इसलिए नागरिक के नाते अब स्त्री की जो सामाजिक प्रतिष्ठा बढ गयी है, उसे जो नयी प्रतिष्ठा प्राप्त हो गयी है, उसकी प्रतिध्वनि, उसका प्रतिबिम्ब पुरुष के घर में पडना चाहिए। स्त्री के नागरिकत्व में वह जितनी सहायता पहुँचा सकता है, उतनी सहायता उसे पहुँचानी चाहिए। यह मैंने 'गृहस्थाश्रम की मर्यादा' बतलायी।

एक उम्र के बाद पुरुष के जीवन में से विवाह-भावना का अंत होना चाहिए। अब देखिये, आदि में ब्रह्मचर्य, अत में ब्रह्मचर्य, तो बीच में जो गृहस्थाश्रम होता है, उसका आधार भी ब्रह्मचर्य बन जाता है। गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्य कैसे प्रकट होता है ? अपनी माँ की ओर मैं अपने पिता की पत्नी के नाते नही देखता और अपनी पत्नी की ओर अपनी सन्तान की माता के नाते देखता हूँ। यानी कुटुम्ब में स्त्री के लिए मातृत्व मुख्य हो जाता है और उसका मातृत्व नागरिकत्व से सपन्न हो जाता है। इस प्रकार कौटुम्बिक क्षेत्र में भी ब्रह्मचर्य का मूल्य आ जाता है। काम का मूल्य कम हो जाता है और ब्रह्मचर्य का मूल्य प्रतिष्ठित हो जाता है।

ब्रह्मचारिणी पवित्र मानी जाय

स्त्री के लिए मेरा सुझाव है कि ब्रह्मचारिणी अपवित्र है, यह भावना स्त्री-जीवन से निकल जानी चाहिए। जो विधवा है, वह संन्यासी से कम पवित्र है, यह भावना भी निकल जानी चाहिए। वैधव्य स्वायत्त नही होता, सन्यास स्वायत्त होता है। पुरुष सन्यासी बनता है, पर स्त्री विधवा बनती नही, होती है। इतना अन्तर तो रहेगा। लेकिन उसका यह मतलब नही है कि विधवा अमगल मानी जाय, अपवित्र मानी जाय। स्त्री का वैधव्य सन्यास से कम मगल नही माना जाना चाहिए। ब्रह्मचारी पुरुष का ब्रह्मचर्य जितना सुप्रतिष्ठित है, उतना ही सुप्रतिष्ठित स्त्री का ब्रह्मचर्य माना जाना चाहिए।

नारी तत्त्वनिष्ठा का संकल्प करे

इसके लिए स्त्री को अपने जीवन में यह सकल्प करना होगा कि वह पुरुष के साथ जियेगी, लेकिन पुरुष के भरोसे नही जियेगी। यह शक्ति उसमें कैसे आयेगी ?—तभी, जब वह अपनी इज्जत को अपनी जान से कीमती मानेगी। अपनी इज्जत को अपनी

जान से कीमती वह कब मानेगी ?—जब वह पुरुषनिष्ठ नही होगी, तत्त्वनिष्ठ होगी।

रामचन्द्रजी ने कहा, "अयोध्यावासियो, तुम्हारे लिए मैं क्या नही छोड सकता ? 'यदि वा जानकीम् अपि'—जानकी को भी छोडना पडा, तो छोड दूँगा।" अब रामचन्द्रजी की जगह जानकी को रख लें। वह कहती है, "जहाँ पुरुष जाता है,वहाँ उसकी छाया जाती है, इसी तरह हे राम, जहाँ तुम जाओगे, वहाँ मैं जाऊँगी।" यदि जानकी को राम का त्याग करना पडे तो ? जानकी के जीवन मे ऐसा मूल्य ही कौन-सा है, जिसके लिए उसे राम को छोडना पडे ? तारामती के जीवन मे ऐसा मूल्य ही कौन-सा है, जिसके लिए उसे हरिश्चन्द्र का शिरच्छेद करना पडे ? दमयन्ती के जीवन में ऐसा मूल्य ही कौन-सा है, जिसके लिए उसे नल का त्याग करना पडे ? **स्त्री व्यक्ति-निष्ठ है, तत्त्वनिष्ठ नहीं है, इसलिए स्त्री के जीवन में नैतिकता नहीं रह गयी है। स्त्री को तत्त्वनिष्ठ बनना चाहिए।** जिस दिन स्त्री तत्त्वनिष्ठ बनेगी, उस दिन उसके जीवन मे नैतिकता आयेगी और वह पुरुष से प्रेम कर सकेगी। लोग मुझसे कहते है कि स्त्री के जीवन में पुरुष के लिए बहुत प्रेम है। मैं कहता हूँ कि स्त्री पुरुष से डरती भी है और पुरुष से प्रेम भी करती है—मैं तो समझ ही नही सकता। शेर से बकरी क्या प्रेम कर सकती है ? जो पुरुष से डरती है, वह पुरुष से क्या प्रेम करेगी ? लेकिन जब वह प्रेम करती है, तो कैसे ? वह माता के नाते प्रेम करती है, बहन के नाते प्रेम करती है, कन्या के नाते प्रेम करती है। भय का तत्त्व जहाँ से निकल जाता है, वहाँ वह प्रेम करने लगती है। इन कौटुम्बिक भावनाओ का विस्तार नागरिक जीवन मे शुरू कीजिये, तो कृष्ण-द्रौपदी का प्रतीक समाज मे चरितार्थ हो जायगा।

कृष्ण-द्रौपदी का आदर्श वांछनीय

सह-नागरिकत्व को चरितार्थ करने के लिए कृष्ण-द्रौपदी पूजे जाने चाहिए, जिनमें यौन-सबध नही था। द्रौपदी कृष्ण की गोपी नही थी। न वह राधा थी कृष्ण की और न सुभद्रा। फिर भी उनके जीवन में एक-दूसरे के लिए कितना उत्कट प्रेम था, कितनी त्याग की तत्परता थी, यह हमने देखा। कृष्ण-द्रौपदी का आदर्श, सहनागरिकत्व का आदर्श है। कौटुम्बिक भावनाओ का सामाजिक जीवन में जब विनियोग होता है, तब कौटुम्बिक भावनाएँ सामाजिक मूल्यो में परिणत हो जाती हैं। इन कौटुम्बिक भावनाओ को सामाजिक मूल्य में परिणत कर देने का काम स्त्रियो के हाथ मे हैं। वे पुरुष के भरोसे जीना छोड दें, पुरुष का रक्षण खोजना छोड दे। ऐसा सकल्प

उन्हे करना होगा। यह कहाँ तक हो सकेगा, मैं नही जानता। लोग तो कहते हैं कि यह व्यवहार्य ही नही है। यदि यह व्यवहार्य नही है, तो समझ रखिये कि आपकी स्वतन्त्रता, आपका एक अलकार हो जायगी। अलकार जितने बढते हैं, खतरा उतना बढता है। इस बात को न भूलिये। स्त्री के जीवन मे यदि स्वतन्त्रता एक आभूषण बनकर आयेगी, तो वह उसके लिए खतरनाक, भयावह हो जायगी। स्त्री के जीवन मे मूल्य-परिवर्तन के साथ स्वतन्त्रता और नागरिकता दाखिल होगी, तभी स्त्री का जीवन धन्य होगा, पुरुष का जीवन समृद्ध होगा और हमारा कौटुम्बिक जीवन उदात्त और मगलमय होगा। *

---

* विचार-शिविर में २६-८-'५५ का प्रात प्रवचन

संस्था और अहिसक संगठन : १३ :

मुझसे पूछा गया है कि हमारा काम किस प्रकार से हो, कैसे हम आगे कदम बढायें ?

हर क्राति के समय एक अनुभव यह होता है कि समाज के सस्कार और समाज की सस्थाएँ क्राति की गति के साथ कदम नही मिला सकती। समाज मे सस्थाएँ कायम होती हैं, सस्थाएँ विलीन होती हैं, कुछ सस्कार और कुछ सस्थाएँ रह जाती हैं। जो सस्थाएँ और जो सस्कार रह जाते हैं, उनमें से बहुत-से स्थितिस्थापक होते हैं, यानी समाज में जो रूढ परिस्थिति होती है, उसके सरक्षण में उनका उपयोग होता है। इस-लिए कई दफा क्रातिकारियो को समाज की विद्यमान सस्थाओं और सस्कारो से भी आगे बढना पडता है। हमारे अपने देश में और हमारी अपनी आज तक की क्राति के आन्दोलन मे गाधी का उदाहरण इसमें सबसे बडा उदाहरण है। सस्था का भी मोह न रहे, ऐसा नेता मैं समझता हूँ कि गाधी से पहले विरला ही हुआ होगा और गाधी के बाद भी कोई ऐसा नेता सार्वजनिक क्षेत्र मे कम ही दिखाई देता है, जिसने सस्थाएँ कायम की हो और सस्थाओ के मोह मे जो न फँसा हो।

संस्थाओं का मोह

सन् १९३१ में असहयोग का आन्दोलन शुरू हुआ। गाधी ने कहा कि "शिक्षण-सस्थाओ को भी अग्रेज-सरकार के साथ असहयोग करना चाहिए।" हमारे देश मे जो बडी-बडी शिक्षण-सस्थाएँ थी, जिनकी स्थापना राष्ट्रीय उद्देश्यो को लेकर हुई थी, जो सस्थाएँ राष्ट्रीय जागरण का काम करती थी और राष्ट्र के विकास में हाथ बँटाती थी, ऐसी सस्थाओ में काशी का हिन्दू विश्वविद्यालय बहुत बडी संस्था थी। उसके प्राणभूत सचालक महामना मालवीयजी थे, जिन्हें बापूजी 'बडे भाई' कहा करते थे। बापू ने 'बडे भाई' से सबसे पहले कहा कि "आपकी सस्था एक ऐसी सस्था है, जो राष्ट्रीय सस्कारो से सपन्न है, उसका उत्कर्ष आज तक राष्ट्रीय सिद्धान्तो के अनुरूप हुआ है। आपकी सस्था यदि अग्रेज-सरकार से सबध तोड देती है, तो हमारी क्राति में बहुत बडी मदद पहुँचेगी।"

मालवीयजी बहुत गद्गद होकर बोले, "महात्माजी, आपका कहना तो सही है, लेकिन मैं क्या करूँ ? मुझे इस सस्था से अपत्य प्रेम हो गया है और इस प्रकार अपने अपत्य का बलिदान करने की हिम्मत मुझमें नही है।" यह कहकर उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट की।

सिद्धान्तों की प्रगति में बाधा

सस्था, सगठन और सघ, ये कभी-कभी सिद्धान्तो की प्रगति में बाधक हो जाते हैं, यदि उनके सचालक भी उतने ही अनासक्त न हो। मेरा अपना यह अनुभव है कि जितना कष्ट मुझे अपने कुटुम्ब को छोडने में नही हुआ, उतना सस्थाओ को छोडने मे हुआ है। अक्सर होता ऐसा है कि कुटुम्ब के लिए भीख माँगने मे तो शर्म लगती है, पर सस्था के लिए भीख माँगने मे आदमी गौरव का अनुभव करता है। कुटुम्ब का प्रपच जब मनुष्य करता है, तो समझता है कि मैं एक साधारण गृहस्थ हूँ, और जो कुछ कर रहा हूँ, उससे मुझे ऊपर उठना है। लेकिन जब सस्था का प्रपच करता है, तो समझता है कि पुण्यकार्य कर रहा हूँ और इसीमें मुझे मरना है। इसलिए संस्था का बन्धन कौटुम्बिक बन्धनो से दुष्कर हो जाता है और मनुष्य उसे फिर तोड़ नहीं पाता।

एक मामूली-सी बात है। हम लोग जब चलने लगते हैं, तो सामान उठाने के लिए कुली करते हैं। अब तक यह मेरा अनुभव था कि कुली जब छह आने माँगता था, तो मैं सोचता था कि "दे दो भाई, छह आने माँगता है, तो उठाता भी तो है इतना बोझ!" सरकार ने कानून बना दिया कि तीन ही आने देने चाहिए। लेकिन कानून बन गया, इसलिए यह तो नही हुआ कि मेहनत कुछ कम हो गयी। वह माँगता है और अपने पास है, तो छह आने दे देने चाहिए। परन्तु अब क्या विचार आता है? यही कि पास छह आने हैं तो, लेकिन ये छह आने सार्वजनिक हैं। इसलिए इसे छह आने नही देने चाहिए। तो कुली से कहता हूँ, "अरे! भमिदान-यज्ञ की यात्रा मे हम जा रहे हैं और तू इसमें कुछ मदद नही करता है? बोझ के भी कम पैसे नही ले रहा है!" तो एक प्रकार की पुण्यमूलक निर्दयता मेरे हृदय मे आ जाती है। यह पुण्यमूलक है, क्योंकि इस पुण्य-भावना में से पैदा हुई है कि मैं सार्वजनिक काम कर रहा हूँ। इस तरह से जिन्हें आप सस्थाओ के सचालक कहते हैं, उनमें एक प्रकार से सस्थाओ के प्रति आसक्ति और सस्थावाद की मनोवृत्ति आ जाती है। सस्थाओ को चलाना, सस्थाओ का सचालन करना, यही जीवन का उद्देश्य हो जाता है।

महान् नेताओ में अकेला गाधी ऐसा देखा, जिसने लडको के घरौंदो की तरह सस्थाएँ बनायी और सस्थाएँ तोडी। "मैंने बनायी यह भूलभुलैया! बना-बनाकर मिटा रहा हूँ।" यह चीज गाधी में देखी। साबरमती में आश्रम बनाया। आश्रम का उद्योग-मन्दिर हो गया। उद्योग-मन्दिर का हरिजन-आश्रम हो गया। सब-कुछ हो गया, लेकिन गाधी ने साबरमती के तट पर जिस आश्रम का निर्माण किया, उसका साबरमती के विशाल उदर में विसर्जन ही कर दिया।

गांधी-सेवा-संघ

गाधी जब वर्धा मे आये, उसके बाद उनके साथियो ने 'गाधी-सेवा-सघ' बनाया। तो पहले ही उन्होने पूछा, "गाधी-सेवा-सघ" का मतलब क्या है? गाधी की सेवा का तो सघ नही है? यानी यह कैसा समास है? इसका अर्थ गाधी की सेवा है या गाधी ने आज तक जिस तरह लोगो की सेवा करने की राह बतलायी है, उसका सघ है यह?"

हमने कहा, "इसका मतलब इतना ही है कि आपकी बतलायी हुई रीति से हम सेवा करनेवाले है। आपकी सेवा नही करनेवाले हैं। आपके लिए यह सघ नही है।"

सन् १९३८ में कुमरी, हुबली (बेलगाँव) के पास 'गाधी-सेवा-सघ' का सम्मेलन हुआ। बापू सम्मेलन मे प्रवेश कर रहे थे। दरवाजे पर किसी देहाती ने एक दूसरे आदमी से पूछा, "यह क्या है? यहाँ आज क्या हो रहा है? इतनी बडी सभा क्यो हो रही है? हमने तो पहले काग्रेस देखी थी।"

तो वह जवाब देता है, "वह जवाहरलाल की काग्रेस है, और यह गाधी की काग्रेस है।"

अब उसने तो उस देहाती को समझाने के लिए कहा। लेकिन उस बूढे के दिल मे बात चुभ गयी। वही से प्रवचन का आरम्भ हुआ कि क्या कोई कभी यह भी सोच सकता है कि वह काग्रेस जवाहरलाल की है और यह काग्रेस गाधी की है? यानी गाधी भी कोई अपनी ऐसी सस्था बना रहा है, जो सस्था उसकी अपनी प्रतिष्ठा का औजार, उपकरण होगी? गाधी के व्यक्तित्व का उत्कर्ष करने के लिए कोई सस्था साधन होगी, क्या ऐसा भी कोई सोच सकता है? सोचते रहे। उसके बाद सुभाष बाबू का प्रकरण हुआ और मलिकान्दा में 'गाधीवाद ध्वस होउक' के नारे लगे। मलिकान्दा मे 'गाधी-सेवा-सघ' का सम्मेलन हुआ, तब गांधी ने सोचा कि अब हम इस मुकाम पर पहुँच गये हैं कि 'गाधी-सेवा-सघ' यदि रहेगा, तो मेरे सिद्धान्तो का प्रचार इस राष्ट्र के जीवन मे नही हो सकता, इसलिए किशोरलालभाई की अध्यक्षता में विधिपूर्वक 'गाधी-सेवा-सघ' का विसर्जन कर दिया।

संस्थाओं का निर्माण और विसर्जन

जैसे हम गणेशजी की मूर्ति बनाते हैं और उसका विसर्जन करते हैं, उस प्रकार से, उतनी पवित्र भावना से, सस्थाएँ बनाना और उतनी ही पवित्र भावना से समारोह-पूर्वक सस्थाओ का विसर्जन कर देना, यह '**गाधी की विशेषता**' थी। इसे मैं '**अहिंसक प्रक्रिया की विशेषता**' मानता हूँ। *अनासक्त कर्म की यह एक बहुत बड़ी कसौटी है* कि जिन सस्थाओ का हम पवित्र भावना से निर्माण करते है, क्योकि वे हमारे सिद्धान्तो

को आगे बढाने का उपकरण होती है, उन्ही सस्थाओ का हम विसर्जन कर देते हैं, जब हम यह देखते हैं कि सस्था के व्यवहार में और सस्था के प्रपञ्च में ही अब हमारा ज्यादा ध्यान लग जाता है, और व्यापक दृष्टि हमारी क्षीण होती चली जाती है—निर्माण की ही तरह सस्थाओ का विसर्जन करने की हिम्मत हममें होती है। यह अनासक्त वृत्ति ही अहिंसक सगठन की विशेषता है।

संस्थाओं के दो प्रकार

आज ससार में उपलब्ध सस्थाएँ दो प्रकार की हैं—सैनिक और संविधानात्मक।

सैनिक-संस्थाएँ

कुछ सस्थाएँ ऐसी हैं, जो सेना की तरह व्यक्तिनिष्ठ होती हैं। वे एक व्यक्ति के आधार पर चलती हैं। वह व्यक्ति जब तक रहता है, तब तक वे उस व्यक्ति के नाम पर चलती हैं। बाद में उस व्यक्ति के नाम पर जो गद्दी होती है, उस गद्दी के नाम पर चलती हैं। ये सस्थाएँ व्यक्तिनिष्ठ होती हैं। उनका एक सभापति या एक गुरु होता है। वह गुरु और वह सभापति ही उनका नियन्ता है, उनका नियामक है। वह गुरु और सभापति ही उन सस्थाओ के लिए सब-कुछ होता है। वही है उनका शास्ता, नियन्ता, अधिष्ठाता। नियामक भी वही गुरु होता है। इन्हें सैनिक-सस्था मैं इसलिए कहता हूँ कि इनमे कोई नियम कागज पर नही होता और किसीके बहुत ज्यादा अधिकार भी नही होते। गुरु की आज्ञा और गुरु का आदेश ही एकमात्र नियम होता है। उस गुरु की गद्दी पर जो कोई होगा, उसका आदेश भी वही नियम होता है। ऐसी कुछ राष्ट्रीय स्वरूप की सस्थाएँ होती हैं, कुछ धार्मिक सस्थाएँ। इन सस्थाओ में सबसे बडी बुराई यह चलती है कि यदि वह व्यक्ति ध्यान दे सका, तब तो ये सस्थाएँ अच्छी तरह चल सकती हैं। पर यदि वह व्यक्ति सस्था की ओर ध्यान न दे सका और सस्था में न रह सका, तो उस व्यक्ति का नाम होता है और सस्थाओ में उस व्यक्ति के नाम पर अनेक प्रकार के मिथ्याचार शुरू हो जाते हैं।

व्यक्तिनिष्ठ और केवल सैनिक-पद्धति से चलनेवाली सस्थाओ में व्यक्ति जब तक रहेगा, तभी तक वे सस्थाएँ चल सकती हैं।

संविधानात्मक संस्थाएँ

दूसरी, संविधान पर चलनेवाली सस्थाएँ हैं। इनमें यह विशेषता होती है कि पहले तो लोग बडी ईमानदारी से सविधान बनाते हैं और उस सविधान के अनुकूल चलने की चेष्टा करते हैं। परन्तु बाद में इस दृष्टि से सविधान का अध्ययन करने लगते हैं कि यह सविधान हमें कितने अधिकार देता है और इस सविधान के नियमों मे से कितनी छूट हम बार-बार ले सकते हैं।

काग्रेस में ऐसा हुआ। पहले नियम था कि जो आदतन खादी पहनेगा, वही सदस्य बनाया जायगा। एक दफा एक समिति में एक सज्जन बैठे हुए थे। उनसे कहा गया कि "आपके शरीर पर खादी नही है।" बोले, "मैं आदतन खादीधारी हूँ। मैं खादी ही खादी पहना करता हूँ और हमेशा पहना करता हूँ। मुझे खादी पहनने की आदत ही हो गयी है। लेकिन सिर्फ धोती ही मैं खादी की नही पहनता। अगर रूमाल भी मैं हमेशा खादी का रखता हूँ, तो आपको यह मानना पडेगा कि मैं आदतन खादीधारी हूँ।"

तब काग्रेस के सविधान मे लिखना पडा कि जो खादी पहनता हो, और खादी ही खादी पहनता हो और खादी के सिवा और कुछ न पहनता हो, 'सत्य, पूर्ण सत्य, और सत्य के सिवा कुछ नही'—जैसे अदालत मे गवाहो का हलफनामा होता है, उस भाषा मे सारा का सारा लिखना पडा।

विनोबा जब यह कहते है कि सगठन मे हिंसा का प्रवेश हो जाता है, तो उनका मतलब यह है कि सगठन यदि व्यक्तिनिष्ठ हो और दडनिष्ठ हो, तब तो हमें मान ही लेना पडेगा कि उसमे हिंसा होती है। लेकिन सगठन यदि सविधाननिष्ठ हो, फिर भी उसमे दड हो, तब भी वह सगठन हिंसक बन जाता है। नियम पालोगे, तो हमारी सस्था में रह सकोगे, नियम नही पालोगे, तो अनुशासन-भग के लिए शासन होगा, तुम सस्था मे से निकाल दिये जाओगे। जिन्हें निकालते हैं, वे लोग एक प्रति-सगठन बनाते है। तुमने हमें निकाला है। ठीक है। तुम्हे शिकस्त देने के लिए हम प्रति-संगठन बनायेंगे। इस तरह सगठन में से प्रति-सगठन पैदा होता है। इसलिए जिसमें दड हो, सजा हो, ऐसा सगठन नही होना चाहिए। इसलिए विनोबा ने कहा है कि जहाँ-जहाँ सगठन होता है, वहाँ-वहाँ अक्सर ये चीजें आ जाती हैं। अनुशासन-भग की कार्यवाही तभी सफल होती है, जब सस्था के हाथ में सदस्य को देने के लिए कुछ होता है। सदस्य का संस्था में आने से सेवा के सिवा जब और कोई लाभ होता है, तब उसमें सजा या अनुशासन-भग की कार्यवाही सफल होती है, अन्यथा नही। इन बातो का विचार करके विनोबा ने कहा कि 'गाधी-सेवा-सघ' कब सफल हो सका? जब बापू का सितारा इस देश मे चमक रहा था और बापू के नाम के साथ इतनी प्रतिष्ठा थी कि गाधी के सगठन में होना, देश मे प्रतिष्ठित नागरिक होने के बराबर बन गया था। तब लोग 'गाधी-सेवा-सघ' में आते थे। फिर भी 'गाधी-सेवा-सघ' में से किसीको निकाला जाय, ऐसा कभी नही होता था। 'गाधी-सेवा-सघ' के मत्री ने लोगो से अनुरोध किया कि आप सदस्य बन जाइये और इन लोगो ने जवाब दिया कि हमारी ऐसी योग्यता नही। हम तो गाधीजी के पीछे-पीछे चलनेवाले लोग हैं। किसी ऐसी सस्था के सदस्य बने, ऐसी हमारी योग्यता कहाँ है?

यहाँ हम देखते हैं कि सगठन की भूमिका ही वदल जाती है। एक सगठन वह होता है, जहाँ व्यक्ति में शक्ति नही होती है, इसलिए लोग कहते हैं कि दस व्यक्तियो को मिलाओ, तो शक्ति आ जायगी। जैसी सेना की शक्ति होती है। नेपोलियन ने लिखा—सेना का एक-एक सिपाही वहादुर नही होता, लेकिन सारे सिपाहियो को मिलाकर जो पलटन होती है, उस पलटन में वहादुरी होती है। यह है मिलिटरी यानी सैनिक-सगठन की विशेपता।

सविधानात्मक सगठन की विशेपता यह होती है कि कागज पर हम नियम का पालन कर रहे हैं, इतना अगर हम दिखा सकें और उतनी कुशलता हममे हो, तो वह सगठन चल जाता है, फिर और कुछ नही करना पडता।

अहिंसक संगठन

तीसरे प्रकार के सगठन का उदाहरण है—'गाधी-सेवा-सघ'। मैं यह नही कहता कि वह एक आदर्श सगठन था। लेकिन एक उदाहरण दिया है कि वापू ने जिस प्रकार मे सगठन वनाये, वे केवल स्वेच्छा के ही नही थे, लोग उनमें अपनी मर्जी से ही आते थे, इतनी ही वात नही थी, उनमें जो अधिष्ठान या अतिम शक्ति होती थी, वह पूर्ण रूप से नैतिक होती थी। उनमें नैतिक शक्ति के अतिरिक्त दूसरी कोई शक्ति नही थी। यानी अनुशासन-भग की कार्यवाही की शक्ति भी नही थी। जिसे आप निर्वासन या खारिज करना कह सकते हैं कि हम अपनी सस्था में से तुम्हें निकाल देंगे, उस शक्ति का भी प्रयोग नही होता था। और दूसरे किसी प्रकार के दण्ड की शक्ति तो वापूजी की सस्थाओं में थी ही नही।

इसलिए जव हम अहिंसक सगठन वनाते हैं, तो उसकी शक्ति का आधार सख्या नही होना चाहिए। इसका मतलव यह नही है कि ज्यादा-से-ज्यादा आदमी हम उसमे शामिल कराने की कोशिश नही करेंगे, लेकिन उस सगठन के कितने सदस्य हैं, इस पर हमारा आधार नही रहेगा। सख्या पर जोर देनेवाला सगठन वनेगा, तो परिणाम यह होगा कि सख्या हमारी शक्ति का आधार वन जायगी। सत्याग्रह में व्यक्तिगत सत्याग्रह भी होता है, सामुदायिक सत्याग्रह भी होता है। लेकिन सामुदायिक सत्याग्रह का आधार सख्या नही होती, समष्टि का सकल्प होता है, जैसे सामुदायिक प्रार्थना मे। सामुदायिक प्रार्थना में सख्या का महत्त्व नही होता। मैं भी प्रार्थना करता हूँ, आप भी प्रार्थना करते हैं, सम्मिलित प्रार्थना में मेरा और आपका सम्मिलित सकल्प है, मेरी और आपकी सम्मिलित भावना है। इस प्रकार जव अनेक व्यक्तियो की सम्मिलित भावनाएँ और सम्मिलित सकल्प होते हैं, तव हम उसे 'सामुदायिक सत्याग्रह' कहते हैं। 'संख्यात्मक सत्याग्रह' एक अलग चीज है और

'सामुदायिक सत्याग्रह' का अधिष्ठान ही अलग हो जाता है। सगठन ऐसा होना चाहिए कि जिसके बारे में हमारी अपनी आसक्ति न हो।

न विधानात्मक, न व्यक्तिनिष्ठ

दूसरी बात यह कि सगठन न विधानात्मक हो, न व्यक्तिनिष्ठ हो। विधान आप बनाइये। विधान का निषेध नही है। लेकिन सस्था जो बनेगी, वह विधान-निष्ठ न हो। विधाननिष्ठ सस्था का होना अलग चीज है, सस्था का विधान होना अलग चीज है।

विनोबाजी ने जवाहरलालजी से कहा कि "आप ऐसा कीजिये कि जमीन लीजिये, पर उनका प्रतिमूल्य, मुआवजा मत दीजिये।" तो उन्होने कहा कि "मै क्या करूँ ? उसके लिए तो संविधान मे धारा है कि प्रतिमूल्य देना चाहिए।" यानी हमने सविधान बनाकर अपने पैर में एक जजीर अटका ली। दूसरे देशो ने, इग्लैंड आदि ने इसके विरुद्ध काम किया। उन लोगो ने पहले जो कुछ करना था, वह कर लिया और फिर उसे सविधान में रख दिया। तो सविधान ऐसा हो, जो हमारी प्रगति मे एक बाधक वस्तु न बन जाय। इसलिए मैंने कहा कि सगठन सविधाननिष्ठ नही होना चाहिए। वह व्यक्तिनिष्ठ भी न हो और सविधाननिष्ठ भी न हो। उसका आधार नैतिकता हो और नैतिकता में जितना अनुशासन रहता है, वह एक-दूसरो के स्नेह और विश्वास के कारण रहता है।

सबका स्वागत

दूसरी बात यह कि सगठन व्यापक हो यानी उसमे सबके लिए स्थान हो, लेकिन सख्या की आकाक्षा उसमें न रहे। वृत्ति उसकी व्यापक हो। जो कोई आना चाहे, वह उसमे अवश्य आय।

एक आदमी आता है, भूदान का काम करना चाहता है। नारायण उससे पूछता है, "खादी पहनते हो ?"

तो कहता है, "नही।"

"तो तुम भूदान का काम नही कर सकते।"

अब उसकी बात वही खतम हो गयी। वह कहता है, "खादी नही पहनता हूँ, लेकिन मैंने यह समझ लिया है कि भूमि की समस्या हल करने के लिए पहला कदम उठाना हो, तो आज की परिस्थिति मे भूदान के सिवा दूसरा कोई चारा नही है। इसलिए मैं भूदान का काम करना चाहता हूँ। और मुझे तो अनुभव नही है, इसलिए आप लोगो के साथ काम करना चाहता हूँ।"

तो नारायण को यह कहना चाहिए . "हम लोगो मे तुम्हारा स्थान सदस्य के

नाते नहीं हो सकता। लेकिन तुम हमारे साथ काम करना चाहते हो, तो तुम्हारा स्वागत है। भूमिदान की पद्धति से भूमि-समस्या के निराकरण में तुम अगर हमारे साथ आ जाओगे, तो हमें यह आशा है कि ग्रामोद्योगो का सिद्धात भी धीरे-धीरे तुम मान लोगे और ग्रामोद्योगो का सिद्धात मान लोगे, तो खादी भी तुम धीरे-धीरे मान लोगे। हम आगे की रचना करना चाहते है। उसका विचार तुम हमारे साथ करने लगोगे और विचारपूर्वक इसमें आ जाओगे।"

रचनात्मक कार्य क्रान्ति-कार्य है ?

मुझसे कई बार पूछा गया है कि हमें यह बताइये कि जो रचनात्मक काम हम कर रहे हैं, वह रचनात्मक कार्य क्या अपने मे क्राति का कार्य नही है ?

रचनात्मक कार्य अपने मे समाज को प्रगति का कार्य है, लेकिन रचनात्मक कार्य जब एक विशेष सदर्भ में होता है, तभी वह क्राति-कार्य होता है। यह रचनात्मक कार्य की हमेशा विशेषता रही है। जैसे गाधी ने रचनात्मक कार्य को भारतवर्ष की आजादी की लडाई के साथ जोड दिया। उसके साथ रचनात्मक कार्य जुड गया, तो अग्रेज लोग खादी को अपने 'दुश्मन की वरदी' समझने लगे। असल मे खादी क्या थी ? क्या पहले इस देश मे लोग खादी नही पहनते थे ? देहातो में पहनते ही थे। वहाँ मिल का कपडा नहीं जाता था। लेकिन मुझे याद है कि एक बार बडौदा स्टेशन पर जैसे ही मैं उतरा, तो वहाँ के पुलिसवाले इस तरह से मेरे बाप-दादो का नाम मुझसे पूछने लगे, जैसे तीरथ के पडे हों। कारण यह था कि मैं गाधी-टोपी और खादी पहने हुआ था। दूसरे तमाम लोग जा रहे थे, पर उन यात्रियो से कोई नही पूछ रहा था। मैं उनमें सबसे महत्त्व का यात्री बन गया था। कारण, वह खादी एक प्रतीक थी। वह इस देश में से अग्रेजो की सत्ता का निराकरण करने के लिए आयी थी।

मगनवाडी में बापू सोयाबीन खाने लगे थे। सोयाबीन खानेवाले सब तग आ गये थे, लेकिन बापू खिलाते हैं, तो क्या करते ? लेकिन आपको आश्चर्य होगा कि सरकार की पुलिस इस बात की हमेशा जाँच-पडताल किया करती थी कि गाधी भोजन के ये प्रयोग क्यो करते हैं ? जहाँ दूसरे लोग लाठी और तलवार चलाना सीखते थे, वहाँ कोई नही जाता था और जहाँ चटनी-कचूमर बनाने का कार्यक्रम चलता था, वहाँ उसे देखने के लिए लोग आते थे! क्योंकि वे जानते थे कि गाधी के रचनात्मक कार्यक्रम से लोकशक्ति बढती है। लोगो मे पुरुषार्थ की प्रेरणा बढती है। एक अमेरिकन मित्र ने इसका नाम ही रख दिया था—'रचनात्मक असहयोग'! इसके दो पहलू हैं। एक है असहयोग, जो अग्रेजो के साथ चलता है और दूसरा है रचनात्मक असहयोग, जो खादी, अस्पृश्यता-निवारण और ग्रामोद्योग के नाम पर चलता है।

एक विशेष सदर्भ में ग्रामोद्योग क्रातिकारी वन जाते हैं। उनमें एक चेतना, एक शक्ति आ जाती है। विनोबा कहते हैं कि मैं 'सीताराम', 'सीताराम' कहता हूँ। सीताराम से मतलव यह है कि भूमिदान और ग्रामोद्योग दोनो साथ-साथ चलने चाहिए। लेकिन भूमिदान मे मालकियत की वुनियाद वदलने की जो कल्पना है, वह केवल खादी में या केवल ग्रामोद्योग मे नही आयेगी।

खादीधारी मिल-मालिक

एक उदाहरण लीजिये। पहले-पहल जव खादी आयी, तव और आज भी ऐसे कितने ही लोग हैं, जो खुद खादी के सिवा दूसरा कोई कपडा नही पहनते। लेकिन उनकी अपनी कपडे की मिल है या कपडे की दूकान है। सोचने की वात है कि क्या ये लोग वेईमान हैं? नही, विलकुल वेईमान नही हैं। लेकिन जो कुछ वे कर रहे हैं, वह मिथ्याचार है, इतना तो हमे मानना ही होगा। क्योकि इसमें से खादी की मूल चीज सिद्ध नही होती। गाधी कपडे को वाजार से उठा लेना चाहता था। ये लोग कहेगे कि "हम तो खादी पहनते हैं।" तो इतने से काम नही चलेगा। परिस्थिति में जो विरोध होता है, उस विरोध के निराकरण के लिए जो आन्दोलन होता है, उसे 'क्रातिकारी आन्दोलन' कहते हैं। गाधीजी ने अग्रेजो के राज्य के निराकरण के जितने प्रयास किये, उनके साथ खादी चलती थी, उनके साथ ग्रामोद्योग चलते थे। इसलिए खादी, ग्रामोद्योग आदि की भूमिका क्रातिकारी हो गयी थी। इसका यह मतलव नही है कि अपने मे ये चीजे अच्छी नही थी। वे किसीसे जुडी हुई न हो, तव भी अपने मे अच्छी हैं ही। क्योंकि, उनके द्वारा समाज-सेवा होती है, व्यक्ति का स्वावलम्वन वढता है। लेकिन वे केवल समाज-सुधार के साधन वन जाती हैं, समाज-परिवर्तन या 'क्राति के साधन' वे नही वनती। इसलिए जो लोग भूमिदान का कार्य करते हैं, उन लोगो का विधायक कार्यकर्ताओ के साथ इस दृष्टि से सहयोग हो, क्योंकि हमें आगे चलकर रचना भी तो करनी है।

विनोबा का आवाहन

आज विनोबा हमारा आवाहन कर रहे हैं। वे कहते हैं—"देखो भाई, मुझे सैकडो (अव हजारो) ग्रामदान मिल गये हैं। आप में से कितने ही ऐसे लोग हैं, जिन्हें रचनात्मक कार्य का अनुभव है। आप यहाँ आइये और इन गाँवो मे आकर वैठिये। ये गाँव 'मिल का कपडा अपने गाँव मे नही आने देंगे', 'मिल का तेल अपने गाँव मे नही आने देंगे'—ऐसी प्रतिज्ञा करने के लिए तैयार है। आप लोग चरखे से, अवर चरखे से या किसी भी प्रकार से इन गाँवो को स्वावलम्वी वना सकते हैं। आइये, इन गाँवो को स्वावलम्वी वनाने के लिए आप सवकी आवश्यकता है।" जो कार्यकर्ता इस कार्य को

कर सकते हैं, उनके लिए यह उत्तम अवसर है। आज वे उसमें जान फूंक सकते हैं। ये सभी गाँव यदि स्वावलम्बी बन जाते है और विधायक कार्य करनेवालो की शक्ति का वहाँ पर उपयोग होता है, तो सारे देश में एक प्रचण्ड निष्ठा पैदा हो जायगी और सभी आक्षेपो के लिए एक सक्रिय उत्तर हमारे पास हो जायगा। इस दृष्टि से रचनात्मक कार्य का विचार करना चाहिए। जो लोग भूदान का काम कर रहे हैं और जो लोग रचनात्मक काम कर रहे है, उन दोनों से मेरी प्रार्थना है कि आपके भूमिदान और रचनात्मक कार्य न केवल साथ-साथ चलें, बल्कि इस प्रकार चले कि इनमे से आगे चलकर समाज-परिवर्तन की एक नयी आशा हम इस देश मे पैदा कर सकें।*

* विचार-शिविर में २६-८-'५५ का सायं-प्रवचन।

व्रत-विचार

हमारे व्यक्तिगत जीवन में सामाजिक मूल्यो का गाधी ने व्रत के रूप में प्रवेश कराया। आज तक इस देश मे व्रतो का स्थान व्यक्तिगत मूल्यो के रूप में था। व्रत किसलिए ?—मेरी अपनी चित्त-शुद्धि के लिए। अपनी चित्त-शुद्धि किसलिए ?—आत्म-दर्शन के लिए, मोक्ष के लिए या फिर स्वर्ग-प्राप्ति के लिए। यज्ञ के भी दो उद्देश्य होते थे—'स्वर्गकामो यजेत, जुहुयात् स्वर्गकामः'। जिसकी स्वर्ग की इच्छा हो, वह यज्ञ करे। उसके लिए यज्ञ का विधान था। या फिर 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म इति'।—तप से ब्रह्म को जान ले, तप ही ब्रह्म है। उपनिषद् ने इस प्रकार साध्य और साधन का साधर्म्य, साध्य और साधन की एकता का सकेत किया। पहले तो यह कहा कि तप से तू ब्रह्म को जान—'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व।' 'तप से ब्रह्म को जान' इतना काफी नही मालूम हुआ, तो 'तपो ब्रह्म इति'—तप ही ब्रह्म है, साधन ही साध्य है, यह सकेत उपनिषद् के ऋषि ने किया।

साधन ही साध्य

लोकमान्य तिलक से अक्सर लोग पूछा करते थे कि "स्वराज्य की परिभाषा क्या है ? तुम्हारे साध्य का स्वरूप क्या है ?" तो कई दफा वे कह देते थे—"राष्ट्रीय शिक्षण ही स्वराज्य है।" "स्वदेशी ही स्वराज्य है।" "बहिष्कार ही स्वराज्य है।"—इस तरह से स्वराज्य का उस वक्त जो प्रमुख साधन माना जाता था, उसके बारे में वे कह देते थे कि यही स्वराज्य है। हमारा साधन ही हमारा साध्य है।

गाधी से जब पूछा जाता, तो वे जिस वक्त जिस साधन पर जोर देना होता था, उसे बताते हुए—"खादी ही स्वराज्य है", "हिन्दू-मुस्लिम एकता ही स्वराज्य है", "अस्पृश्यता-निवारण ही स्वराज्य है", "स्त्रियो का उत्थान ही स्वराज्य है"—इस प्रकार स्वराज्य की परिभाषाएँ करते चले जाते थे। साध्य को साधन के साथ जोड़कर मनुष्य को साधननिष्ठ बनाने की यह एक कुशलता होती है, क्योंकि सामाजिक क्राति और व्यक्तिगत साधना, ये दोनो जीवन की महान् कलाएँ है। सगीत, चित्रकला, शिल्पकला, स्थापत्य-कला आदि जैसे हमारे जीवन की ललित कलाएँ है, वैसे ही व्यक्तिगत जीवन की साधना और सामाजिक जीवन का उत्थान और क्रान्ति भी कलाएँ हैं और ललित कलाएँ है। इनमें अधिक-से-अधिक सौदर्य आना चाहिए। अधिक-से-अधिक कुशलता आनी चाहिए। इसलिए जिन लोगो ने कुशलता से क्रान्ति की, उन्होने जीवन मे और साधना मे कला का समावेश करने की कोशिश की। सभी जानते हैं

कि गाधी जो भाषा लिखता था, वह कोई बडी साहित्यिक भाषा और काव्यप्रधान भाषा नही होती थी। लेकिन जीवन में जब कला आ जाती है, साधना में ही जब कला आ जाती है, तो काव्य और भाषा का सौन्दर्य कही खोजना नही पडता, वह स्वत प्रकट होता है। गाय के बारे में पूछा, तो उन्होंने कहा, "मेरे लिए तो गाय भगवान् की दया पर, करुणा पर लिखी हुई कविता है।" अब कौन-सा कवि गाय के बारे मे ऐसा कह सकता था? किस कवि को यह बात सूझती कि भगवान् को कविता लिखनी थी करुणा पर और उसने गाय का निर्माण कर दिया। इस तरह उन्होंने एक बार यह कहा कि "मैं अहिंसक क्राति का कलाकार हूँ।" गाधी के मुँह से लोगो ने यह सुना, तो "गाधी का भी सबध कला के साथ हो सकता है?" इस प्रकार का प्रश्न साहित्यिको, कवियो और कलाकारो के मन में उठा। यह गाधी भी कहता है कि मैं भी कलाकार हूँ। लेकिन जीवन में व्यक्तिगत साधना और सामाजिक साधना का जब निष्ठापूर्वक प्रयोग होता है, तो सारा जीवन ही कलात्मक बन जाता है। इस दृष्टि से सामाजिक क्राति में व्रतो का समावेश कराना क्राति की प्रक्रिया मे कला का प्रवेश था। क्राति की प्रक्रिया में पहले इस प्रकार व्यक्तिगत व्रतो का समावेश किसीने नही कराया था। जितने क्रातिकारी दुनिया मे हुए, उनका अपना चरित्र बहुत उच्च था। वे बडे त्यागी थे। उनमे पराकोटि की तितिक्षा थी। उन्होंने क्या नही सहा? ऐसा एक भी क्रातिकारी नही हुआ कि जिसे यत्रणाएँ नही सहनी पडी, कष्ट नही हुए, दारिद्रय नही भोगना पडा। लेकिन इस सबको अपना व्रत मान लेना, 'सार्वजनिक जीवन में दारिद्रय हमारा व्रत है', 'उपवास हमारा व्रत है', इस प्रकार से सार्वजनिक जीवन की और व्यक्तिगत जीवन की साधनाओ को मिलाकर व्रत को सामाजिक मूल्य बना देना तो गाधी की ही सिफत थी। इस तरह उसने हमारी क्राति में एक नयी कला व्रतो के रूप मे दाखिल की।

आइये, अब एक-एक व्रत पर संक्षेप में विचार करें।

सत्य

सत्य हमारे सारे व्रतो का अधिष्ठान है, ध्रुवतारा है। इसको सामने रखकर हम अपनी सारे जीवन की दिशा निर्धारित करते हैं। गाधी से पूछा गया था कि "सत्य क्या है?"

उन्होंने कहा, "मेरा भगवान् सत्य है। सत्य ही मेरा भगवान् है।"

"तुमको दर्शन हुए है?"

"मैं नही कह सकता। मेरी कोशिश है कि जीवन में मैं उसको चरितार्थ करूँ और उसका साक्षात्कार करूँ। लेकिन यह कहने की मेरी हिम्मत नही है कि सत्य का साक्षात्कार मुझे हो गया है।"

यह सत्य क्या है ?

सामाजिक जीवन का परम सत्य, ध्रुव सत्य, सारे सामाजिक जीवन का अधिष्ठान क्या है ?—मेरी दूसरो के साथ एकता । समाज शब्द 'सम' शब्द से बना है । 'सोसाइटी' शब्द में भी जो मूल शब्द है, उसका अर्थ है—'सेमनेस' (समानता) । दूसरो के साथ मेरी जो समानता है, उसका आधार है, दूसरो के साथ मेरी एकता । यह तर्क का विषय नही है । पुराने शास्त्रकारो ने इसे 'साक्षि-प्रत्यक्ष' कहा है । साक्षि-प्रत्यक्ष यानी मुझे अपने अस्तित्व का स्फुरण जैसा है । 'मैं हूँ' यह तर्क का विषय नही है । यह अनुमान का विषय नही है और यह सिद्ध भी नही किया जा सकता । प्रत्यक्ष ही है कि 'मैं' हूँ । इस तरह से दूसरो के साथ मेरी जो एकता है, जिसका मुझे अनुभव है, वह साक्षि-प्रत्यक्ष है । इसलिए यह बुद्धिवाद से परे है । विज्ञान यहाँ तक नही पहुँच सकता । इसलिए आईन्स्टाईन ने जब अन्त मे गाधी के बारे मे लिखा, तो यह लिखा कि "जहाँ तक हम लोग कोई नही पहुँच सकते थे, वहाँ तक इसकी पहुँच थी । इसलिए हम कहते हैं कि दुनिया मे इस धरती पर ऐसा आदमी इससे पहले कभी नही चला था । गिरजाघरो में, मसजिदो में, मन्दिरो में और गुरुद्वारो मे जो भगवान् रहते हैं, उस भगवान् में मेरी निष्ठा नहीं, मेरा विश्वास नही, मेरी श्रद्धा नही, लेकिन उस गाधी ने जिस सत्य और जिस भगवान् की उपासना की, वह वैज्ञानिक है । उसमे मेरी श्रद्धा भी है और निष्ठा भी है ।"

सामाजिक मूल्य के रूप मे जब सत्य की हम उपासना करते हैं, तो ध्रुवसत्य हमारे लिए यह है कि दूसरे व्यक्ति और मैं एक हूँ । मेरी दूसरो के साथ एकता मेरी सामाजिकता का आधार है । दूसरो के साथ मेरी एकता मेरी नैतिकता का आधार है । दूसरो के साथ मेरी एकता मेरे सदाचार का आधार है । सदाचार का आधार, नैतिकता का आधार, मनुष्य की सामाजिकता का आधार दूसरो के साथ हमारी पारमार्थिक एकता है । पारमार्थिक से मतलब ? जो निरपेक्ष है, सापेक्ष नही । जिसे सिद्ध नही करना पडता । यह सामाजिक दृष्टि से सत्य का अर्थ है । और इसे हम अपने सामाजिक जीवन का ध्रुवतारा समझें ।

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवं परिसेवते ।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव च ॥

इसे छोडकर यदि हम सामाजिक जीवन का विकास और सयोजन या क्रान्ति का विचार करेंगे, तो वह अप्रतिष्ठित विचार हो जायगा । साधारण या प्रतिष्ठित विचार करने के लिए हमारी दूसरो के साथ एकता, जीवन का परम सत्य है । इसकी वैज्ञानिक व्याख्या है—जीवन की एकता और ईश्वरनिष्ठ परिभाषा में ईशावास्यमिदं सर्वम् । आध्यात्मिक परिभाषा मे—सर्वं खल्विदं ब्रह्म । सर्वं खल्विदं ब्रह्म, ईशावास्यमिदं

सर्वम् । इनका सामाजिक सकेत हमारे जीवन में, सारे जीवन की एकता के रूप मे है। पशु से लेकर मनुष्य तक जितना कुछ जीवन है, इस जीवन मात्र की एकता जीवन का ध्रुवसत्य है।

अहिंसा

सत्य के बाद इसीके आधार पर अहिंसा आती है। गाधी ने कहा था कि "निकला तो सत्य की खोज में, लेकिन अहिंसा मिल गयी। एक दरवाजा मिला। वह बन्द था। चाभी अहिंसा थी और जब तक उस दरवाजे मे से नही जाता, सत्य का दर्शन मुझे नही हो सकता है।"

सावली के सम्मेलन में गाधी से पूछा गया, "आपका मुख्य धर्म सत्य है या अहिंसा है ?"

उन्होंने जवाब दिया "सत्य की खोज मेरे जीवन की प्रधान प्रवृत्ति रही है। इसमे मुझे अहिंसा मिली और मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि इन दोनो में अभेद है। बगैर अहिंसा के मनुष्य सत्य तक नही पहुँच सकता। यह मेरे जीवन का अनुभव है। मेरी भावना का निचोड है। इसलिए इन दोनो की जुगल-जोडी को मैं अभेद्य मानता हूँ। सत्य और अहिंसा की मेरे लिए 'जुगल-जोड़ी' है। यह अर्धनारीश्वर नही है। सत्य और अहिंसा एक-दूसरे में ऐसे घुले-मिले हैं कि इनका अलग-अलग करना मुश्किल है।"

अहिंसा कैसे प्रकट होती है ? अहिंसा प्रेम में प्रकट होती है। प्रेम का आरम्भ ममत्व से होता है और उसकी परिसमाप्ति तादात्म्य में होती है। हमारे जीवन मे वह कैसे पैदा होता है ? दूसरे का सुख हमारा सुख हो जाता है, दूसरे का दुःख हमारा दुःख हो जाता है।

> चार वेद छः शास्त्र में बात मिली है दोय।
> सुख दीने सुख होत है, दुख दीने दुख होय ॥

'सुख देने से सुख होता है, दुःख देने से दुःख होता है।' अहिंसा आचरण में कैसे प्रकट होगी ? हम सुख ही सुख बोते जायँगे, तो समाज मे सुख की फसल होगी।

> जो तोकूँ काँटा बुवै, ताहि बोउ तू फूल।

'जो तेरे लिए काँटा लगाता है, उसके लिए तू फूल लगाता चला जा।'

> तोको फूल के फूल हैं, वाको हैं तिरसूल !

'तेरे फूल मे फूल ही निकलेंगे। उसके काँटो मे काँटे निकलते चले जायँगे।' तेरी फसल अगर काँटो की फसल से बडी होगी, तो काँटो में भी गुलाब लगते चले जायँगे।

यह अहिंसा का दर्शन कहलाता है। अहिंसा और सदाचार की बुनियाद प्रेममूलक

होती है और तादात्म्य मे उसकी परिणति होती है, इसलिए दूसरा सिद्धान्त, दूसरा व्रत, अहिंसा का है। इसमे भाव-रूप शक्ति होती है।

दो सिद्धान्त मैंने आपके सामने रखे थे—'एकाकी न रमते' यानी अकेले की तबीयत नही लगती। **'द्वितीयाद्वै भयं भवति'** यानी दूसरे से भय लगता है। जिससे डर लगता है, उससे प्रेम नही हो सकता और जिससे प्रेम होता है, उससे कभी भय नही होता। उसके बारे में कभी अविश्वास नही होता, कभी डर नही होता। इसलिए अहिंसा हमेशा प्रेममूलक होती है। 'सर्वत्र भयवर्जन' इसमे आ जाता है।

इससे अधिक निर्भयता का अलग विचार नही करना पडता। भावरूप अहिंसा में उसका समावेश हो जाता है।

अब प्रश्न यह है कि यह अहिंसा व्यक्त कैसे होती है ?

सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा व्यक्त होती है—दूसरे का सुख अपना सुख मानने से, दूसरे का दु ख अपना दु ख मानने से।

आर्थिक क्षेत्र में अहिंसा व्यक्त होती है—सह-उत्पादन और सहयोगी उत्पादन के रूप में। सह-उत्पादन और सम-वितरण। अर्थात् हम साथ उपजायेंगे और साथ खायेंगे। यहाँ सहजीवन सहभोजन के रूप में व्यक्त होता है। सहभोजन का अर्थ केवल भोजन करना नही है। इसमें सहयोग आ गया, इसमें सामुदायिक उत्पादन आ गया। आप कितने कदम इस दिशा में रखेंगे, वह आपकी सामर्थ्य की बात है। आर्थिक क्षेत्र में यह अहिंसा का विनियोग है।

राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसा लोकनीति के रूप में प्रकट होती है। लोकनीति का मूलतत्त्व है—नागरिको का परस्पर विश्वास और परस्पर स्नेह। जब एक नागरिक को दूसरे नागरिक से भय होता है, शका होती है, जब एक नागरिक दूसरे नागरिक से सरक्षण चाहता है, तब प्रशासन आता है। परन्तु जब एक नागरिक दूसरे नागरिक से सरक्षण नही चाहता, हर नागरिक दूसरे नागरिक के जीवन का विचार करता है, तो सयम आ जाता है।

संयम पहले कैसे प्रकट हुआ ? **'तुम जिओ, दूसरे को जीने दो।'** लेकिन इतना ही पर्याप्त नही है। एक नागरिक को दूसरे नागरिक के जीवन में सहायता पहुँचानी चाहिए, इसलिए **'जिलाने के लिए जिओ।'** यह सह-जीवन है। तुम दूसरो को जिलाने के लिए जिओ। अर्थात् दूसरे के जीवन में सहायता पहुँचाना अहिंसा है। दूसरो के जीवन मे रुकावट डालना, बाधा पहुँचाना, हिंसा है। अहिंसा नागरिक जीवन का और लोक-नीति का आधारभूत सिद्धात है। जिस मात्रा में नागरिको का परस्पर संशय और परस्पर अविश्वास कम होता चला जायगा, उस मात्रा मे लोकनीति का विकास होगा, लोकसत्ता की स्थापना होगी और प्रशासन का अत होगा।

अस्तेय

हमें दूसरो के जीवन में सहायता पहुँचानी है, दूसरो के जीवन में रुकावट नहीं डालनी है। यही अहिंसा अस्तेय के रूप में प्रकट होती है। अस्तेय का अर्थ केवल इतना नही है कि 'मैं चोरी न करूँ'। अस्तेय का अर्थ यह भी है कि मैं दूसरे की वस्तु की आकाक्षा भी न होने दूंगा। **'काहू की प्रिय वस्तु न हरहू।'** किसीकी प्रिय वस्तु तुम न लो, यहाँ तक अस्तेय आता है। और 'मत लो' से मतलब लेने की इच्छा भी मत रखो। ले तो नही रहा है, लेकिन लेने की इच्छा रहती है, तो रात-दिन उसका चिन्तन हो रहा है। तो वही फिर आ गया—**'संगात् संजायते कामः।'** अस्तेय का मतलब यह है कि कही 'निहित स्वार्थ' न हो, हमारी नीयत कही चिपकी हुई न रह जाय। गुड मे चीटे की तरह नीयत यदि चिपकी हुई रह जाती है, तो फिर वह अस्तेय नही है। अस्तेय इसीलिए व्रत के रूप में प्रकट होता है। सिर्फ चोरी न करने से अस्तेय व्रत के रूप में प्रकट नही होता। अस्तेय एक वृत्ति भी है, अस्तेय एक प्रवृत्ति भी है। वह निष्ठा है। स्थिति और वृत्ति मिलकर निष्ठा होती है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि हमारी स्थिति तो होती है, लेकिन वृत्ति नही होती। जैसे कोई आदमी जेल में चला गया है, वहाँ वह तमाखू खा ही नही सकता। तो स्थिति यह है कि वह तमाखू नही खाता है। पर वृत्ति यह है कि तमाखू खानी चाहिए। यदि भोजन नही मिलता है, तमाखू नही मिलती है, तो बडी मुश्किल है।

मान लें, शिविर में चाय नही मिलती, तो चाय नही पीते, यह स्थिति है। पर वृत्ति यह है कि चाय मिल जाती, तो अच्छा होता। वृत्ति और स्थिति मिलकर निष्ठा होती है। केवल स्थिति से मिथ्याचार पैदा होता है।

मनुष्य इन्द्रियो को समेट लेता है और चिन्तन करने लगता है, तो कहा गया कि यह तो **'मिथ्याचार'** है। इसलिए जब व्रतो का विचार करते हैं, तो दो बातें इसमें आती हैं। एक वृत्ति और दूसरी स्थिति। वृत्ति के अनुरूप वर्तन।

एक वैष्णव है। कोई वैष्णव नाराज न हो, क्योंकि मेरा अपना सम्बन्ध एक वैष्णव की कन्या से ही हुआ है। तो वे बोले कि "हम तो एकादशी को पानी भी नही पीते हैं।" मैंने कहा कि "बहुत प्रखर एकादशी करते हैं आप।" लेकिन एकादशी के दिन वे कोर्ट में जाकर झूठी गवाही दे आये। मैंने कहा कि "यह क्या एकादशी हुई?" कहने लगे, "ऐसा कही लिखा है कि इससे एकादशी भग होती है?" मैंने कहा, "हाँ, लिखा है 'दिन में सोने से, मिथ्या भाषण से, बहुत पानी पीने से' एकादशी का भग होता है। इस तरह के जो अपवाद लिखे हैं, प्रत्यवाय लिखे हैं, उनमें झूठ बोलना सबसे बडा प्रत्यवाय है। आपने सब-कुछ पालन कर लिया, लेकिन एकादशी के दिन जाकर झूठी गवाही दे दी!" वे हमसे कहते थे कि "हमने तो झूठी गवाही दे दी और उसका विश्वास भी हम

पर हो गया, क्योंकि हम झूठ नही बोलते हैं, यह उसको मालूम है।" यह उन्होंने उसका समर्थन भी मेरे सामने रखा। तो व्रत मे दोनो बातें चाहिए—वृत्ति भी, स्थिति भी।

मनुष्य के आचरण में और उसकी वृत्ति में हमेशा अन्तर रहेगा, परन्तु उसमें विरोध न हो। अन्तर तो रहेगा, इसीलिए वह साधक है। लेकिन उसमे विरोध नही होना चाहिए।

अपरिग्रह

अस्तेय और अपरिग्रह प्राय साथ-साथ लिये जाते हैं। अपरिग्रह का अर्थ आज तक लोगो ने यह किया है कि हम अपनी जरूरत से ज्यादा चीज नही रखते। लेकिन **अपरिग्रह की वृत्ति का अर्थ यह है कि अपनी जरूरत की चीज भी जो मैं रखता हूँ, वह अपने स्वामित्व के लिए नहीं रखता।** अपनी जरूरत की चीज तो रखता हूँ, लेकिन जरूरत की चीज पर मेरा अपना स्वामित्व नही। जैसे शरीर पर भी हमने अपना स्वामित्व नही माना। जो लोग परमार्थी होते हैं या सेवक होते है, उन्होंने यह माना है कि यह शरीर धर्म का साधन है। भक्त कहते हैं कि यह भगवान् का आयतन है। भगवान् के रहने का यह मदिर है। लेकिन सेवक लोग कहते हैं कि यह तो समाज की थाती है। यह शरीर समाज की धरोहर है और यह मेरे पास है, इसलिए इसके विषय में मेरे मन में ममता नही होनी चाहिए। यदि शरीर के लिए भी ममता नही है, तो फिर शरीर-यात्रा के लिए जो चीजें आवश्यक हैं, उनके सम्बन्ध में स्वामित्व की कोई भावना कैसे हो सकती है? यह अपरिग्रह, असग्रह का अतिम विचार है। अस्तेय में से असग्रह आता है। अस्तेय के लिए इतना काफी है कि मैं दूसरे की प्रिय वस्तु का हरण नही करता। लेकिन अपरिग्रह इससे एक कदम आगे जाता है।

हमें बचपन मे सदाचार की पुस्तकें पढायी जाती थी। उस समय अग्रेजी चलती थी। सदाचार जैसी कोई वस्तु भारतवर्ष में है, यह हम जानते ही नही थे। यहाँ हमने सदाचार केवल इसीमें देखा था कि 'इसके साथ खाओ, उसके साथ मत खाओ'। इससे बाहर सदाचार ही नही दिखाई पडता था। रोज पूजा-पाठ करनेवाले लोग रिश्वत खाते थे, घूसखोरी करते थे और समझते थे कि उसमे कोई दोष नही है। पूजा से सब प्रक्षालन हो जाता है। तीर्थयात्रा के लिए काशी जानेवाले लोग तेरह साल की लडकी का आधा टिकट खरीदते थे और हमसे कहते थे कि गगाजी मे नहाने के बाद यह सब शुद्ध हो जायगा। तो हमें सिखाया जाता था कि "धन कमाओ तो ईमानदारी से कमाओ। ईमानदारी से धन यदि नही कमा सकते हो, तो गरीबी में ही सन्तोष मानो।" यह नीति हमको सिखायी गयी थी। वस्तुत इस देश की परम्परा मे यह नीति नही थी, इस देश की परम्परा में तो यह नीति थी, जिसे आगे चलकर जैन लोगो ने और स्पष्ट कर दिया था कि शरीर के विषय में मनुष्य इतना तटस्थ और निराग्रही हो जाय कि

शरीर ढँका हुआ है या नही, इसकी भी विशेष परवाह न रहे। उन लोगो ने यहाँ तक कमाल कर दिया था। सामाजिक मूल्य के रूप में हम इसमें से इतना ही लेते हैं कि साढे तीन हाथ शरीर की ममता हमें छोडनी होगी, क्योंकि दूसरो को जिलाने के लिए जीना है। इसका अर्थ यह नही कि हमें मृत्युनिष्ठ बनना है। बहुत-से बहादुर लोग यह कहते हैं कि बस, जो मरने के लिए तैयार है, वह सबसे बहादुर! तो हमने कहा कि जीना क्यो है? उसे फिर जीने की जरूरत ही नही रह जाती है। उसे तो मृत्यु की ही लगन लगी है। वह मरने के लिए तैयारी करता है। मृत्युनिष्ठ बन जाता है। पर ऐसा नही। हमें तो दूसरे के लिए जीना है, दूसरे के लिए अपना शरीर रखना है। 'दूसरे के लिए' से मतलब है समाज के लिए, दूसरो को जिलाने के लिए। इसे कहते हैं, शरीर भी ईश्वरार्पण कर दिया। तुकाराम गाता है कि उनका विषय भी नारायण हो गया। इतना शरीर की तरफ से तटस्थ हो जाता है!

भगवद्गीता में कहा है 'उदासीनो गतव्यथः'। तब फिर वह 'अनिकेतः स्थिरमतिः' हो जाता है और फिर भगवान् कहते हैं कि 'तेषां सततयुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्'। —'उनके योग-क्षेम की, उनके निर्वाह की, चिन्ता मैं करने लगता हूँ।'

ट्रस्टीशिप का विवेचन

अपरिग्रह कहाँ तक जाता है, यह समझने के लिए हम गाधी की ट्रस्टीशिप की बात भी समझ लें। उसके बारे में लोग चाहे जैसा लिखते हैं और चाहे जैसा कहते हैं। वे यह मानते हैं कि 'ट्रस्टीशिप' का मतलब यह है कि तुम्हारे पास जो धन है, वह धन समाज के लिए है, यह समझकर वह धन बढ़ाते ही चले जाओ। समाज के लिए है, तो समाज के लिए बढा रहा हूँ।

लडके से कह दिया, 'परद्रव्येषु लोष्टवत्'। दूसरे का धन ढेले के समान समझो। तो वह हलवाई के घर से पेडे ही लाने लगा। लोग पूछने लगे कि ऐसा क्यो कर रहा है? तो कहता है कि "बाप ने यह सिखाया है कि दूसरे के द्रव्य को मिट्टी के ढेले की तरह समझो। इसलिए उसकी कीमत भी नही देता हूँ और ले भी आता हूँ, अपने घर में रखता चला जाता हूँ।" कैसा अच्छा अर्थ कर लिया उसने!

लोगो ने ट्रस्टीशिप का मतलब यह कर लिया है कि व्याज भी लेते जाओ और उस धन को बढाते भी चले जाओ। उसके विषय में आसक्ति भी रखो। अन्त मे केवल इतना करो कि इसका भोग भगवान् को लगा दिया करो। जैसे हम सवा सेर मिठाई लेकर महावीरजी के मन्दिर में जाते हैं, एक पेडे का भोग लगा देते हैं। बाकी के पेडे तो हमारे हैं ही। यह महावीरजी का प्रसाद हो गया!

सोचने की बात है कि जिस व्यक्ति ने व्रत के रूप मे सत्य-अहिंसा-अस्तेय का प्रतिपादन किया, उसने भला ट्रस्टीशिप का अर्थ ऐसा किया होगा?

ट्रस्टीशिप का अर्थ यह है कि परम्परा से और परिस्थिति से जो धन तुझे प्राप्त हो गया है, उसे दूसरो का समझकर जल्दी-से-जल्दी उससे मुक्त हो जा। नहीं तो ट्रस्टीशिप का कोई अर्थ ही नही है। किशोरलालभाई ने सार्वजनिक सस्थाओ के वारे में लिखा था कि सार्वजनिक निधियो को भी हम व्याज ले-लेकर वढाते है और उनका सरक्षण करना अपना कर्तव्य समझते हैं। यदि व्यक्तिगत परिग्रह, व्यक्तिगत सग्रह निषिद्ध है, तो सार्वजनिक सग्रह भी कम निषिद्ध नही है।

ट्रस्टीशिप के दो पहलू हैं। एक है—सक्रमण-काल का पहलू। सक्रमण-काल के लिए यह व्यवस्था है। पूजीवादी समाज-व्यवस्था से हमे श्रमनिष्ठ समाज-व्यवस्था की ओर कदम वढाना है, इसके लिए सग्रह के विसर्जन की आवश्यकता है। सग्रह का यह विसर्जन व्रतनिष्ठा से होना चाहिए यानी व्यक्ति का शुद्धीकरण होना चाहिए। क्राति की प्रक्रिया मे व्यक्ति के शुद्धीकरण की, व्यक्ति की चित्तशुद्धि की योजना 'हृदय-परिवर्तन' कहलाती है। क्राति की प्रक्रिया ही ऐसी हो कि उसमें व्यक्ति की चित्तशुद्धि की योजना हो। इसलिए जिन्हें आज आनुवशिक अधिकार से विरासत मे सपत्ति मिल गयी है या कानून से मिल गयी है या जिन लोगो ने पहले खरीद ली है या कमा ली है, उन लोगो से गाधी कहता है कि इस सपत्ति को अपनी मत समझो। समाज की धरोहर या थाती समझो। इसका मतलव यह नही है कि इसे तुम वढाते चले जाओ। वस्तुत उसका मतलव यह है कि तुम्हें यह चिन्ता होनी चाहिए कि कव मैं यह सम्पत्ति समाज को लौटा देता हूँ और कव मेरा चित्त शान्त होता है। तव तक मुझे वेचैनी रहनी चाहिए। कवि कहता है, "यह शकुन्तला अव जा रही है, तो जैसे मैंने दूसरे का न्यास, दूसरे की थाती दूसरे को लौटा दी है, इस तरह से मेरी आत्मा अव सन्तुप्ट हो गयी है।" यह है सक्रमणकालीन पहलू। धनिको के लिए, मालिको के लिए, सम्पत्ति मानो के लिए गाधीजी के ट्रस्टीशिप का यही अर्थ है कि उन्हें सग्रह का विसर्जन करना है। यदि यह अर्थ उन्होंने नही लिया है और यह माना है कि गाधीजी का यह मतलव था कि तुममें सग्रह की कुशलता है, इसलिए सग्रह ही वढाते जाओ और यह मान लो कि अपने समाज के लिए यह सग्रह कर रहा हूँ, इसमे से तुम हलवा-पूड़ी के रूप में प्रसाद लेते जाओ और दूसरो को वाजरी की रोटी के रूप मे कभी-कभी देते जाओ, तो उसका ऐसा मतलव उनके मन में कभी हो ही नही सकता।

ट्रस्टीशिप का दूसरा पहलू यह है—केवल धनिक ही ट्रस्टी नही है, श्रमिक भी ट्रस्टी है। वहुत सम्पत्ति, धन या सग्रहवाला ही नही, अल्प सग्रहवाला भी ट्रस्टी है। उसे भी अपने-आपको ट्रस्टी ही मानना चाहिए। जहाँ वह काम करता है, वह काम समाज का काम है। उस काम के उपकरण भी समाज के है, उसके अपने नही है। उनका वह ट्रस्टी है। हम पहले यह माँग करते है कि 'उत्पादन के साधन उत्पादक के कब्जे

में होने चाहिए।' बाद में हम यह माँग करते हैं कि 'उत्पादक भी उनका ट्रस्टी होगा। वे साधन उसके अपने नहीं होंगे। वह उन उपकरणों का और उत्पादन का अपने-आपको मालिक नहीं मानेगा। जितना उत्पादन वह करेगा, उतने उत्पादन का भी वह अपने-आपको मालिक नहीं मानेगा।'

संग्रह-परायण मनुष्य ने कहा कि "तुम 'ईमानदारी' से यदि धन कमाते हो, तो उस धन पर तुम्हें अधिकार है।" उसकी ईमानदारी का मतलब यही है कि होड़ में तुम जीत जाते हो, तो उस धन पर तुम्हारा अधिकार है।

दूसरे ने कहा, "यह चढ़ा-ऊपरी और होड़ की पद्धति से जो धन कमाया जाता है, वह चोरी ही है। जितनी सम्पत्ति है, वह सब चोरी ही है।" 'स्तेन एव सः' भगवद्गीता में कहा गया। सारी सम्पत्ति, सारा संग्रह यदि चोरी है, तो उसके निराकरण के लिए संग्रहवान् से कहा कि तुम अपने को अपने संग्रह का थातीदार मानो, निधिपालक मानो, न्यासधर मानो। तुम समाज की ओर से उसे रखो, लेकिन इसका मतलब यही है कि जितनी जल्दी खर्च कर सको, उतनी जल्दी खर्च कर डालो और समाज की जिम्मेवारी से मुक्त हो जाओ। जिनके पास अल्प संग्रह है, उनके लिए गांधी कहता है, "तुम जो कमाते हो, अपनी मेहनत से कमाते हो, लेकिन अपनी मेहनत की कमायी हुई रोटी पर भी तुम्हारा अधिकार न हो। भूख का अधिकार है, रोटी भूख के लिए है। तुम्हारे पेट में भूख है, इसलिए भूख का अधिकार रोटी पर अवश्य है। परन्तु तुम्हारे पड़ोस में कोई भूखा है, तो उसे बाँट दो। तुम्हारे पास आधी रोटी हो, तो उस आधी को भी बाँट दो।" गरीब आदमी या अल्प-संग्रहवान् व्यक्ति का भी अपनी मेहनत की उपज पर और अपनी मेहनत के उपकरणों पर स्वामित्व नहीं माना जाता। इसीका नाम है—'ट्रस्टीशिप'। यह शाश्वत 'ट्रस्टीशिप' है।

ट्रस्टीशिप के दो पहलू

इस तरह हमने ट्रस्टीशिप के दो पहलू देखे—१. संक्रमणकालीन ट्रस्टीशिप, और २. शाश्वत ट्रस्टीशिप।

अब इसमें दो तरह की सम्पत्ति आती है। एक, जिसे वास्तविक सम्पत्ति कहते हैं, और दूसरी, जो वास्तविक नहीं होती, लेकिन जिसे हम मानते हैं कि यह सम्पत्ति है। वास्तविक सम्पत्ति में निजी सम्पत्ति भी होती है, जिसे हम व्यक्तिगत और कौटुंबिक सम्पत्ति कहते हैं। इनका अन्तर हमें समझ लेना चाहिए।

अहमदाबाद में रिक्शे चल रहे हैं। मान लीजिये कि नारायण देसाई ने और मैंने मिलकर चार रिक्शे खरीद लिये। हम रिक्शे कभी नहीं चलाते। रिक्शे चलानेवाले को किराये से दे देते हैं। उनसे कहते हैं कि "तुम चलाओ और किराये में से थोड़ी-सी बचत हमें दे दिया करो।" यह 'वास्तविक सम्पत्ति' कहलाती है। यानी हमारी यह

केवल सपत्ति ही है, उसका उपयोग भी हम नही करते। ऐसी हमारी सपत्ति, जिसका उपयोग भी हम नहीं करते, पूंजीवाद की परिभाषा में 'वास्तविक संपत्ति' है। यह निरपेक्ष सपत्ति है। यानी इसका हमारे लिए कोई प्रत्यक्ष उपयोग भी नहीं है। अध्यात्म और नीति कहती है कि इस सपत्ति से मनुष्य का विनाश होता है। लेकिन पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे यह 'सपत्ति' है। मैं हल रखता हूँ। उसे मैं बहुत-से अन्य किसानो को किराये पर दे देता हूँ, पर खुद कभी नही चलाता। यह जो 'हल' है, उसका उपयोग मुझे कुछ नही है और फिर भी वह मेरी सम्पत्ति है। ऐसे ही आज जमीन बहुत आदमियो की 'केवल सपत्ति' है, जिसका उपयोग वे बिलकुल नही करते, लेकिन जिस पर उनका कब्जा है। मैं घोडे पर कभी नही बैठता। घोडा दूसरो को किराये पर देता हूँ। इस तरह की सपत्ति है यह।

दूसरी व्यक्तिगत सपत्ति है, जिसका मैं उपयोग करता हूँ। जैसे मेरा कुर्ता है। नारायण का कुर्ता मेरा नही हो सकता, मेरा कुर्ता उसका नही हो सकता। इसे 'व्यक्तिगत सपत्ति', 'उपयोग की वस्तु' कहते है।

आज रूस और चीन मे उपयोग की वस्तुओ का सग्रह आप कर सकते है, लेकिन उत्पादन के साधनो का सग्रह कोई नही कर सकता। रूस और चीन पूंजीवाद से एक कदम आगे कहाँ गये है, यह समझ लेना आवश्यक है। इन क्रातियो ने यह कदम उठा लिया कि कोई भी व्यक्ति उत्पादन के साधनो का सग्रह और स्वामित्व नही कर सकेगा। लेकिन वह उपयोग की वस्तुओ का सग्रह कर सकता है। कोई भी चाहे तो दस कुर्ते रख सकता है। लेकिन उसकी दिक्कत यह है कि दस कुर्ते मिल जाने पर भी उसे दस शरीर नही मिलते। और फिर वह मौके खोजता है कि ये दस कुर्ते मैं कब-कब पहनूंगा। साधनसम्पन्न हर श्रीमान् भगवान् से नित्य प्रार्थना करता है कि "हे भगवन्! मुझे एक से ज्यादा शरीर तो दे ही दो! रावण को तूने बीस हाथ दिये थे, तो वह कम-से-कम सौ अँगूठियाँ पहन सकता था। पर मुझे तो दो ही हाथ दिये हैं, केवल दस ही उँगलियाँ दी है! बडे दुःख की बात है।" कपडे सौ हो, तो भी पहनने के लिए तो शरीर एक ही है। मोटरें दस हो तब भी बैठने के लिए 'बैठक' तो एक ही है। व्यजन और पक्वान्न हजार हो, पर खाने के लिए पेट तो एक ही है।

इसलिए उपयोग की वस्तु के सग्रह से समाज को बहुत कम भय रहता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति से डर नही है। उपयोग की वस्तुओ का सग्रह एक मर्यादा से अधिक नही हो सकता। आज दस मोटरे रखनेवाले की शान है, प्रतिष्ठा है। इसलिए दस मोटरे रखता है। कल मोटर की प्रतिष्ठा ही न रहे, तो क्या होगा? अब तो भगी भी मोटर मे कचरा ले जाता है! इस तरह मोटर की प्रतिष्ठा कम हो रही है। तब मोटर में कौन बैठना चाहेगा?

इसलिए समाजवाद और साम्यवाद में उपयोग की चीजो का सग्रह रख सकते है, परन्तु निजी सपत्ति नही रख सकते। आप उपभोग की वस्तुओ का सग्रह कर सकते हैं और वह भी कब तक? जब तक समाज में दुर्भिक्ष है। यह तो सभी मानेंगे कि जहाँ दुर्भिक्ष होता है, वहाँ वृत्ति में अनुदारता होती है। वस्तुओ की कमी, यानी दारिद्रय जहाँ है, वहाँ पर चित्त अनुदार रहता है। दस आदमी है और एक ही रोटी है, तो मैं दूसरे को बडा कौर दूँ, इसके लिए बहुत ही बडा दिल चाहिए। जहाँ दुर्भिक्ष होता है, वहाँ पर मनुष्य के लिए उदारता बहुत मुश्किल हो जाती है। इसलिए गाधी ने हमें उपवास का व्रत सिखाया था। जो भूखा होता है, वह दुनियाभर को खा जाना चाहता है। उसके सामने सारी चीजें और सारे प्राणी अन्न के रूप में ही आते है। वह सारे जगत् को और दूसरे मनुष्यो को अपना अन्न समझ लेता है। दो तरह के लोग मनुष्य को अन्न बना लेते है। एक वह, जिसे भख है और दूसरा वह, जो पेटू है। 'महाशनो महा-पाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्' (गीता ३ : ३७)—वह जो महाशन है, बकासुर की तरह जिसकी भूख है, खाने का जिसे बहुत शौक है, ऐसे आदमी के लिए दूसरा मनुष्य भी अन्न बन जाता है। इसलिए वह 'शोषक' कहलाता है। वह मनुष्य को भी चूसता है। और दूसरा, जो बुभुक्षित (भूखा) होता है, वह भी इसी तरह से सोचता है कि मैं सारी दुनिया को खा डालूँ।

गाधी ने बड़ी कुशलता से और बडी सहृदयता से हमे इस दुर्भिक्ष में से उबार लेने के लिए गरीबो को भी उपवास का व्रत सिखलाया।

दुर्भिक्ष मे से क्राति तब होती है, जब विवश मानव भख की जगह उपवास का व्रत ले लेता है। भूख में से क्राति तब होती है, जब भखा आदमी उपवासनिष्ठ बन जाता है। पुराने मार्क्सवादियो ने कहा था, "भूख बढाओ, तो क्राति बढेगी।" पर अब वे ऐसा नही कहते, क्योकि केवल भख में से भीख भी पैदा होती है। भूख में से क्राति कब पैदा होती है?—जब भूख मे से उपवास की शक्ति पैदा होती है।

इसलिए जहाँ दुर्भिक्ष है, वहाँ पर प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति ही नैतिक और आध्यात्मिक प्रयास है। गाधी ने कहा था, "भगवन्, अब इस देश में यदि तुम्हें आना हो, तो रोटी बनकर आना होगा। द्रौपदी के लिए तुम वस्त्र बनकर आये, भूखो के देश में तुम्हें रोटी बनकर आना होगा।" यह इसीलिए कहा कि जहाँ दुर्भिक्ष होता है, वहाँ सास्कृतिक विकास नही होता।

संयोजन के तीन कदम

दुर्भिक्ष में से प्राथमिक सपन्नता की तरफ हमें पहले जाना होता है, इसलिए सयोजन का पहला कदम है—निर्वाह। सबसे पहले निर्वाह के लिए सयोजन होना चाहिए। जो विपन्न है, उसकी प्राथमिक आवश्यकताएँ पूरी होनी चाहिए। भूखे को रोटी मिलनी

चाहिए, नगे को वस्त्र मिलना चाहिए। लेकिन भीख के रूप में नही। यह किसी धनवा ् की उदारता से नही मिलेगा।

वस्तुओ की कुछ विपुलता अवश्य होनी चाहिए, ताकि बँटवारे के समय झगड़ा न करना पड़े। इसलिए विपुलता के लिए सयोजन, यह दूसरा कदम है, जिसे हम समाजवादी कदम कहते हैं। विपुल उत्पादन के साथ-साथ सम-वितरण समाजवाद कहलाता है। लेकिन प्रश्न है कि सम-वितरण कौन करे?

लड्डू हैं, बेटे हैं, बाँटनेवाली माँ है और उस माँ का कुछ वजन भी है, तो सम-वितरण होगा। पर माँ भी नही है, बाप भी नही है, लड्डू हैं और बेटे हैं। तब यदि सम-वितरण करना है, तो बेटो में यह भावना होनी चहिए कि पहले छोटे-से-छोटे को दूंगा, बाद में उससे बड़े को दूंगा और सबसे बड़ा जो होगा, वह सबके बाद लेगा। यह बधुत्व के लिए सयोजन कहलाता है। सयोजन मे बन्धुत्व की प्रेरणा दाखिल होनी चाहिए।

अपरिग्रह और असग्रह का यह अर्थ नही है कि 'बस, हम जितना आवश्यक है, उतने का सग्रह करते चले जायँगे और दूसरे का नही लेंगे।' भला आवश्यक की भी कोई इयत्ता है, कोई मर्यादा है? उधर तो मर्यादा ही नही है, इधर यह मर्यादा कि किसीके धन की अभिलाषा मत कर। शकराचार्य ने कहा कि 'किसीका' से मतलब 'अपना भी'। यानी तीनो पुरुष आ गये। अर्थात् प्रथम पुरुष के धन की भी अभिलाषा मत कर, अपने धन की भी अभिलाषा मत कर। सग्रह की ही अभिलाषा छोड दे।

सयोजन की दृष्टि से पहला जहाँ दुर्भिक्ष है वहाँ—निर्वाह के लिए संयोजन! दूसरा जहाँ वस्तुओ की कमी है, वहाँ—विपुलता के लिए संयोजन।

लेकिन विपुलता की ओर भी ध्यान न चला जाय, तो मनुष्य की ओर से ध्यान हट जायगा। इसलिए बंधुत्व के लिए संयोजन। यहाँ हम अपरिग्रह तक आ पहुँचे।

व्यक्तिगत सपत्ति वह चीज है, जो हमारे उपयोग की है। जिस मकान में मैं रहता हूँ, उस मकान से सम्पत्ति का निर्माण नही होता। मकान से मकान नही पैदा होता। ऐसी चीजें, जिनसे कुछ पैदा नही होता, जिनका म केवल उपयोग करता हूँ, उन्हे आप मुझे रखने देते हैं। क्यो? आज दुर्भिक्ष है, इसीलिए। दुर्भिक्ष जहाँ होता है, वहाँ उपयोग की वस्तुओ के सग्रह की सुविधा लोगो के लिए रख देनी होती है। उसमें से फिर वह विपुलता की ओर जाते हैं। तो विपुलता के साथ-साथ दूसरा सयोजन करना पड़ता है कि विपुलता का उपयोग एक-दूसरे के लिए हो। इसलिए मने सह-उत्पादन की बात रखी थी कि एक-दूसरे के लिए उत्पादन हो और अब उपयोग में, अगर चीजो की विपुलता नही होगी तो, जो भी चीज होगी, उसका सम-वितरण होगा। दूसरे को खिलाकर खायेंगे। बन्धुत्व के लिए सयोजन करेंगे। यहाँ पर अपरिग्रह का व्रत और गाधीजी का ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त एक हो जाता है। दोनो की कसौटी यही है कि सग्रह न रहे।

ब्रह्मचर्य

इसके बाद ब्रह्मचर्य का सिद्धान्त आता है। इस विषय में मैं पर्याप्त कह चुका हूँ। स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध समान भूमिका पर आ जाना चाहिए। स्त्री और पुरुष का समान मनुष्यत्व सह-नागरिकत्व के रूप में चरितार्थ हो जाना चाहिए। इसके लिए यह करना चाहिए कि जिन नैतिक सिद्धान्तों ने पुरुष का जीवन सुप्रतिष्ठित कर दिया है, उन नैतिक सिद्धांतों को स्त्री-जीवन में भी वही स्थान मिल जाना चाहिए, जो पुरुष के जीवन मे है। ब्रह्मचर्य जैसे पुरुष-जीवन में मुख्य है, वैसे ही स्त्री-जीवन के लिए भी माना जाना चाहिए। वैधव्य या तो सन्यास की भूमिका पर आ जाना चाहिए या फिर विधवा और विधुर की अलग-अलग कक्षा न हो, बल्कि ये दोनो समान भूमिका के माने जाने चाहिए। दूसरा, कुटुम्ब में स्त्री की कौटुम्बिकता मातृत्व की भावना से सम्पन्न हो जानी चाहिए। मेरी पत्नी मेरी पत्नी नही है, वह मेरे बच्चों की माँ है, यह भूमिका उसकी रहेगी। उसी प्रकार कुटुम्ब में स्त्री की नागरिकता का स्वीकार हो जाना चाहिए। इस प्रकार हम स्त्री-जीवन को मातृत्व और नागरिकत्व, दोनो से सम्पन्न करेंगे।

पुरुष स्त्री के विषय मे अनाक्रमणशील होगा। स्त्री का शरीर अब खरीदने-बेचने या अपहरण करने की वस्तु नही रहेगा। इसके लिए पुरुष की वृत्ति अनाक्रमणशीलता की होगी और स्त्री की वृत्ति निर्भयता की रहेगी। स्त्री सरक्षण नही चाहेगी, वह सावधान तो रहेगी, लेकिन डरेगी नही। यदि ऐसा नही होगा, तो स्त्री-पुरुष का सह-नागरिकत्व और सह-जीवन असभव है। सह-जीवन की बुनियादें शुद्ध और पवित्र होनी चाहिए। स्त्री अपनी जान से अपनी इज्जत को बड़ी मानेगी, तभी वह सुरक्षित ही नहीं, स्वरक्षित भी होगी। आज स्त्री परभृत है, पर-पोषित है, पर-रक्षित है और पर-प्रकाशित भी है। पुरुष के नाम पर वह चलती है। पुरुष यदि स्त्री के नाम पर चलता है, तो वह अधम माना जाता है। वह उसके नैहर में चला जाय, तो लोग कहते हैं कि यह फलानी लडकी का पति आया है। लेकिन और जगह वह कभी अपनी स्त्री के नाम पर नही चल सकता। स्त्री के जीवन से ये तीनों बातें निकल जानी चाहिए। अत स्त्री पुरुषनिष्ठ न रहे, तत्त्वनिष्ठ बने। पुरुष अपने सिद्धान्त के लिए स्त्री का त्याग करता है, तो उसका गौरव होता है। स्त्री भी मीराबाई की तरह भगवान् के लिए अपने पति का त्याग करे, सिद्धान्त के लिए पुरुष का त्याग करे, तो उसका गौरव होना चाहिए। स्त्री व्यक्तिनिष्ठ नही होगी, तत्त्वनिष्ठ होगी।

लोकसंख्या का प्रश्न

ब्रह्मचर्य से एक अन्य प्रश्न भी निकलता है, जिसे 'हम 'लोक-संख्या का प्रश्न' कहते हैं। इस प्रश्न का विचार हमने ब्रह्मचर्य की भूमिका से नही किया है। गाधी और

कुटुम्ब-नियोजन के प्रवर्तको में मूलभूत अतर रहा है। कुटुम्ब-नियोजन के प्रवर्तकों ने इस समस्या का विचार प्राणि-शास्त्र की दृष्टि से किया है, यानी मनुष्य को करीब-करीब पशु के स्तर पर रखकर किया है। हम देखते है कि आज मनुष्य का कोई शरीर-धर्म प्राकृतिक नही रह गया है। पाखाने, पेशावखाने बनवाये जाते हैं। मनुष्य चाहे जहाँ मल-मूत्र विसर्जन नही कर सकता। स्नानागार और भोजनालयो की व्यवस्था की जाती है। सह-भोजन कराते हैं। विवाहो में लोग आमन्त्रित किये जाते है। विवाह एक सस्कार बना दिया गया है। इस सबका अर्थ यह है कि स्त्री और पुरुष का सबध केवल प्राकृतिक नहीं है, वह सास्कृतिक सबध हो गया है और इसलिए प्रजनन भी केवल प्राकृतिक नही है, उसकी भूमिका सास्कृतिक हो गयी है। पशुओं का प्रजनन केवल उपयोग की दृष्टि से होता है कि यहाँ पर गीर जाति की गायें नही चाहिए, काकरेज की चाहिए। तो, या तो दूध की दृष्टि से देख लेंगे या साँड की दृष्टि से। लेकिन मनुष्य के पितृत्व का, मातृत्व का कोई ऐसा विचार कर सकेगा ?

एक तरफ गाधी है, दूसरी तरफ किंगकाग है। अब यह निर्णय कैसे होगा कि किसकी सतान बढनी चाहिए ? गाधी के नाम के नीचे लिखेंगे 'इसका वश बढे', या लूई के नाम के नीचे लिखेंगे ? किसकी बिरादरी बढे ? रावण के नाम के नीचे आप यह लिखेंगे या राम के नाम के नीचे ?

तो प्रश्न है कि मनुष्य का, लोकसख्या का विचार आप गुण की दृष्टि से करेंगे, शारीरिक प्रचण्डता की दृष्टि से करेंगे या केवल सख्या की दृष्टि से करेंगे ? ये सारे विचार आज प्रस्तुत हैं।

बर्ट्रेण्ड रसेल ने एक छोटी-सी पुस्तक लिखी है—'न्यू होप्स फॉर ए चेंजिंग वर्ल्ड'। उसमें उसने लिखा है कि 'यूरोप मे तो जनसख्या कम होती चली जायगी, क्योंकि हम लोगो मे सतति-नियमन है और हममे दूसरे शौक पैदा हो गये हैं। परन्तु एशिया मे लोग बढते चले जायेंगे। परिणाम यह होगा कि उत्पादन हम करते चले जायेंगे और खाते वे चले जायेंगे। इसलिए या तो उनका उत्पादन बढना चाहिए या उनकी लोक-सख्या कम होनी चाहिए। नही तो हमारा जीवन-मान गिर जायगा। हिन्दुस्तान में गाधी के बाद जवाहरलाल नेहरू ही एक आदमी ऐसा आया है कि जो अविवेकी नही है। गाधी तो अविवेकी था। यह अविवेकी नही है, क्योंकि यह कहता है कि सतति-नियमन करना चाहिए।'

स्पष्ट है कि आज जन-सख्या की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय समस्या मानी जाती है। इसका एक ही पहलू नही है। इसका मुख्य पहलू सास्कृतिक है और दूसरा पहलू सामाजिक है। आज लोक-सख्या की समस्या एक तरह से वर्ण-भेद की समस्या मे परिणत हो रही है। इसलिए इस मामले मे भी दो सम्प्रदाय हो गये हैं। कम्युनिस्ट कहते हैं कि यह

अवास्तविक समस्या है। दुनिया के वैज्ञानिकों में कम्युनिस्ट ही ऐसे हैं, जो यह कहते हैं कि समस्या वास्तविक नहीं है। इस विषय में पूर्वीय और पश्चिमी, ये दो सम्प्रदाय हो गये हैं। पुरानी पद्धति का पूर्वीय गोलार्ध शुरू होता था यूरल पर्वत से। अब पश्चिमी गोलार्ध शुरू होता है दक्षिण जर्मनी से। बाकी सब पूर्वीय गोलार्ध है। कम्युनिस्टों के प्रभाव में जितनी दुनिया आ गयी है और एशिया और अफ्रीका की जो दुनिया है, वह सब पूर्वीय दुनिया कहलाती है। आज का पूर्व और पश्चिम का भेद पहले के पूर्व और पश्चिम के भेद जैसा नहीं है। कम्युनिज्म को लोग पूर्व की चीज मानते हैं, पश्चिम की नहीं। सब पूर्वीय राष्ट्रों का यह कहना है कि जन-संख्या का प्रश्न आज का गम्भीर प्रश्न नहीं है। पश्चिमी राष्ट्रों का यह कहना है कि जन-संख्या का प्रश्न आज का ही गम्भीर प्रश्न है। इस प्रकार इसमें दो सम्प्रदाय हो गये हैं। आँकड़े और विज्ञान के नाम पर अब भ्रम में पड़ने की कोई जरूरत नहीं है। जो विज्ञानवादी हैं, जो आँकड़ों पर चलनेवाले हैं, उनमें भी दो सम्प्रदाय हो गये हैं। ये दो सम्प्रदाय हुए हैं वर्णभेद के आधार पर! सन्तान किसकी बढ़े, यह मूलभूत समस्या ली गयी। पश्चिम की संतान तो बढ़ नहीं सकती, इसका मुख्य कारण यह है कि जहाँ जीवनमान बढ़ जाता है, वहाँ संतान-वृद्धि घट जाती है। जीवनमान जितना उन्नत होगा, सन्तान उतनी कम होगी।

हमारे यहाँ पुराणों में बहुतेरे राजाओं को या तो सन्तान के लिए दूसरी शादी करनी पड़ी या 'पुत्रकामेष्टि यज्ञ' करना पड़ा। जीवन जितना सम्पन्न होता जाता है, सन्तान-वृद्धि उतनी कम होती जाती है। प्रकृति का कुछ ऐसा नियम मालूम होता है कि जहाँ पर विपन्नता और गरीबी अधिक होती है, वहाँ सन्तान भी अधिक होती है। वैज्ञानिक इसका बहुत ज्यादा स्पष्टीकरण नहीं कर सके। लेकिन समाज-शास्त्रियों का यह निरीक्षण है कि जो संयमी होते हैं और जिनका जीवन उन्नत होता है, उनकी सन्तान में सत्त्व अधिक होता है, पर उनकी संख्या कम होती है, जिनका जीवन विपन्न और क्षीण होता है, उनकी सन्तान की संख्या अधिक होती है और सत्त्व कम होता है।

लोकसंख्या का प्रश्न हल करने के लिए विनोबा का एक उपाय है। वे कहते हैं कि समाज में अनुत्पादकों की संख्या न बढ़े। आवश्यकता इस बात की है कि उत्पादकों का जीवन सम्पन्न हो। पर आज अनुत्पादकों का जीवन सम्पन्न है, उत्पादकों का जीवन विपन्न है। इसलिए उत्पादकों की सन्तान तो बढ़ती है, लेकिन उत्पादकों की संख्या समाज में नहीं बढ़ सकती, क्योंकि वे बेकार हो जाते हैं। तो जिन उत्पादकों के घर में सन्तान बढ़ती है, उनमें उत्पादकों की ही संख्या बढ़नी चाहिए और समाज के अनुत्पादक-वर्ग का निराकरण हो जाना चाहिए। इसका मतलब यह हुआ कि उत्पादक का सांस्कृतिक विकास होना चाहिए। उत्पादक का जितना सांस्कृतिक विकास होगा, उतनी ही लोकसंख्या कम होगी।

यहाँ मैंने केवल ब्रह्मचर्य का साधन नही रखा है, क्योंकि मैं यह मानता हूँ और यह अनुभव है कि केवल संयम और केवल ब्रह्मचर्य से संख्यावृद्धि नही रुक सकती। अपने में वह एक प्रभावशाली साधन है। जहाँ संयम होता है, वहाँ सन्तान की संख्या कम होती है।

परंपरागत लोकश्रुति है कि शूकरी के अनेक सन्तानें होती हैं। पर सिंहनी को एक ही सन्तान होती है और वह हाथी को मारने के लिए होती है। अब तो हमने सिंहनी के चार-चार बच्चे होते देखे हैं। लेकिन ऐसा इसलिए माना गया है कि जहाँ सत्त्व अधिक होता है, संस्कृति अधिक होती है, वहाँ संयम-प्रधान जीवन होता है और जहाँ संयम-प्रधान जीवन होता है, वहाँ लोकसंख्या गुण की दृष्टि से श्रेष्ठ होती है, संख्या की दृष्टि से कम होती है। इसलिए जिस समाज में जितना सांस्कृतिक विकास होगा, उस समाज में लोक-संख्या के प्रश्न का निराकरण उतनी हद तक होगा। इस दृष्टि से मैंने इस प्रश्न को ब्रह्मचर्य के साथ मिलाया है। यह केवल वैज्ञानिक या प्राणिशास्त्र की समस्या नही है, यह केवल अर्थशास्त्र की समस्या नही है। कारण, मनुष्य का विवाह केवल प्राणिशास्त्र के आधार पर नही होता। मनुष्य का विवाह नीतिशास्त्र के आधार पर, समाजशास्त्र के आधार पर होता है; इसलिए विवाह उसका 'संस्कार' है। विवाह 'संस्कार' है, इसलिए प्रजनन भी 'संस्कार' है। प्रजनन में जितनी संस्कारिता आयेगी, लोकसंख्या का सवाल भी हम उतना ही हल कर सकेंगे।

लोकसंख्या के प्रश्न में एक बात और है। यह सभ्य आदमी का स्वभाव है कि जहाँ पर भीड़ हो रही हो, वहाँ वह जगह खाली कर दे। यह सभ्यता का लक्षण है। लोक-संख्या यदि बढ रही है, तो सभ्यता का तकाजा है कि आप सबसे पहले जगह खाली कर दें।

परन्तु लोग मानते हैं कि लोकसंख्या अन्यत्र तो बढ रही है, हमारे घर में नही बढ रही है। इसलिए हमारे घर में पोता पैदा होता है, तब हम पेड़े बाँटते हैं!

इस बात की आवश्यकता है कि इस समस्या के सारे पहलुओ पर हम विचार करें। पश्चिम के लोग केवल एशिया के और एशिया के लोगो की दृष्टि से इस समस्या पर विचार करते हैं। इसलिए उनका विचार कलुषित हो गया है। पूर्व के लोगों ने इस समस्या का केवल वैज्ञानिक दृष्टि से और पृथ्वी की वर्तमान उत्पादन-क्षमता की ही दृष्टि से विचार किया। अंकशास्त्रियो का और अर्थशास्त्रियों का यह अनुमान और यह निष्कर्ष है कि आज दुनिया की बस्ती लगभग २ अरब ४३ करोड़ है। बीस वर्ष में यदि इससे दूनी हो जाती है, तो भी बहुत चिंता का विषय नही है।

मैंने आँकडो की दृष्टि से इस समस्या पर विचार नही किया है। आँकड़ो की दृष्टि से हमें विचार तो करना होगा, लेकिन वह विचार आज हमारे लिए इतना जरूरी नहीं

है, जितना कि मनुष्य के जीवन का सांस्कृतिक दृष्टि से और उसकी संतान के गुण की दृष्टि से विचार करना आवश्यक हो गया है। भविष्य में जो मनुष्य उत्पन्न हो, वह आज के मनुष्य से अधिक गुणवान् होना चाहिए, वह आज के व्यक्तियो से अधिक सस्कार-सपन्न होना चाहिए और आज की अपेक्षा उसके जमाने में दुर्भिक्ष कम होना चाहिए।

ये तीनो बातें कब होगी ? जब इस दृष्टि से आप विचार करेंगे कि हमें दुर्भिक्ष का निराकरण करना है और साथ-साथ सांस्कृतिक विकास भी करना है। दुर्भिक्ष का निराकरण होगा, तो संतान की सख्या कम होगी। सांस्कृतिक विकास जितना अधिक होगा, जीवन मे सयम उतना ही अधिक आयेगा। तब सत्वप्रधान प्रजनन होगा, संख्या-प्रधान नही। उसके साथ-साथ गुण-विकास भी होगा ही।

शरीर-श्रम

शरीर-श्रम को हम व्रत का रूप देना चाहते हैं। हमारा उद्देश्य यह है कि आज का धननिष्ठ, सम्पत्तिनिष्ठ समाज श्रमनिष्ठ समाज में परिवर्तित हो जाय।

इसमें दो प्रक्रियाएँ हैं।

समाज में जो प्रतिष्ठित है, उसे श्रम करना चाहिए—श्रम की प्रतिष्ठा बढाने के लिए और वर्ग-परिवर्तन की भूमिका बनाने के लिए। वर्ग-निराकरण होगा, वर्ग-समन्वय हरगिज नही होगा। वर्ग-निराकरण की प्रक्रिया का आरम्भ वर्ग-परिवर्तन से होता है। वर्ग-परिवर्तन का आचरण हर व्यक्ति को करना है। इसलिए आज जो श्रम नही करते, उन्हे श्रम करना चाहिए और उत्पादक-परिश्रम करना चाहिए। उनका उत्पादक-परिश्रम श्रम की प्रतिष्ठा बढाने के लिए व्रत के रूप में हो। लेकिन इतने से हमारा काम पूरा नही होता।

आज धनवान् तो धननिष्ठ है, लेकिन श्रमवान् श्रमनिष्ठ नही है। किसी मजदूर से कल भगवान् प्रसन्न हो जायँ और पूछें, "तू क्या चाहता है ?" तो वह कहेगा, "भगवन्, रोज मशक्कत करनी पडती है, उससे मैं बच जाऊँ।" वह यह वरदान थोडे ही माँगेगा कि "आज मेरे पास जो कुदाली है, उससे जरा अच्छी कुदाली दे दे।" वह तो यही कहेगा कि "हे भगवन्, इस कुदाली से मुक्ति पाने का दिन कब आयेगा!" इसलिए हम चाहते हैं कि श्रमवान् श्रमनिष्ठ बने।

विनोबा कहते हैं कि "धनवान् की धननिष्ठा कम करने के लिए मैं सम्पत्तिदान माँग रहा हूँ। भूमिवान् की भूमिनिष्ठा कम करने के लिए मैं उनसे भूमि माँग रहा हूँ और श्रमवान् की श्रमनिष्ठा बढाने के लिए मैं श्रम-दान माँग रहा हूँ।"

आज जो श्रमवान् है, वह श्रम बेचता है। श्रम जिस दिन बाजार से उठ जायगा, उस दिन श्रमवान् श्रमनिष्ठ बन जायगा। इसलिए शरीर-श्रम को व्रत बना दिया।

केवल असग्रह पर्याप्त नही है। असग्रह के साथ उत्पादक-परिश्रम-निष्ठा चाहिए।

मनुष्य का जो शौक का काम होता है, वही उसकी फुरसत का काम भी होता है। फुरसत किसे कहते हैं ? पुराने समाजवादियो की एक परिभाषा है, 'फुरसत ही आजादी है'।

मान लीजिये, कल यह नारायण सोच ले कि दादा को आराम देना है। अब वह मुझे कमरे मे बन्द कर देता है और बाहर से ताला लगा देता है। प्रबोध आकर खिडकी में से पूछता है, "क्यो दादा, तुम तो बहुत आराम से पडे हो न ?" कहता हूँ, "अरे, आराम से क्या पड़ा हूँ ? सजा है। हमें कोई यहाँ से निकलने ही नही देता।" कहता है, "तुम आराम करो, यहाँ से निकल नही सकोगे।"

"खिड़की में से बात कर सकता हूँ या नही ?" तो 'मिलने की मुमानियत' लिख दिया है। कहा, "खिडकी में से भी तुम बात नही कर सकते।"

अपनी इच्छा का काम भी आराम है, दूसरो की इच्छा का आराम भी सजा है। हमने फुरसत को समझा नही था कि फुरसत आखिर क्या वस्तु है। फुरसत और श्रम के अन्तर को हम कम कर देना चाहते हैं। काम और आराम मे आज जो भेद है, जो विरोध है, उसे हम कम कर देना चाहते हैं। शरीर-श्रम के व्रत का यही अर्थ है।

आज काम अप्रतिष्ठित है, आराम प्रतिष्ठित है। हम आराम की प्रतिष्ठा घटाने के लिए काम की प्रतिष्ठा बढाना चाहते हैं। गाधी ही नही, जवाहरलालजी का भी आज नारा है—**'आराम हराम है'**। यही चीज गाधी ने शरीर-श्रम के व्रत के रूप में कही। हम आराम को अप्रतिष्ठित कर काम को प्रतिष्ठित बना देना चाहते हैं; इसलिए जो व्यक्ति काम करता है, वही आराम का अधिकारी होगा और आराम का जो अधिकारी है, उसे काम करना पड़ेगा। ऐसा जब होगा, तब श्रमनिष्ठ-समाज होगा।

अस्वाद

शरीर-श्रम के बाद अस्वाद का व्रत आता है। लोग कहेंगे कि दादा भी अस्वाद की बात करता है! किसीने मुझसे पूछा था कि "स्वर्ग में जाओगे ?" तो मैंने कहा कि "स्वर्ग में जाने को तो तैयार हूँ, लेकिन वहाँ की एकाध बात मुझे खटकती है।" "सो क्या ?" "यही कि वहाँ अमृत ही अमृत पीना पडता है। अचार, पापड वगैरह वहाँ नही मिलते। इसलिए वहाँ कुछ मजा नही आयेगा।" ऐसा आदमी यदि अस्वाद की बात करे, तो यह कुछ बेतुकी-सी बात मालूम होती है। लेकिन अस्वाद का एक सामाजिक **अर्थ है और वह यह है कि उत्पादन मेरे लिए नहीं होगा, समाज के लिए होगा।**

इधर खेतो में तमाम तमाखू ही तमाखू बोते हैं। बोनेवालो को इस तमाखू का क्या कोई उपयोग है ? 'वह बिकती है।' बेचने के लिए ही उसका उपयोग है! समाज की आवश्यकता के लिए जब उत्पादन होता है, तब सामाजिक पथ्य रखना पडता है। बीमारी में परहेज रखना पडता है। डॉक्टर कहता है, 'खटाई मत खाओ, मिर्च मत खाओ।' इसे पहहेज कहते हैं, पथ्य कहते हैं। ऐसे ही उत्पादन में और उपभोग में कुछ

सामाजिक पथ्य आ जाते हैं। यह जो सामाजिक संयम होता है, इसीमें से मनुष्य को अस्वाद की प्रेरणा मिलती है। क्योंकि अस्वाद के लिए भी कोई प्रेरणा चाहिए। केवल अस्वाद में आगे चलकर कुछ स्वाद नहीं रहता। वह बेमजा हो जाता है, बेलज्जत हो जाता है।

माँ भोजन बनाती है। बहुत स्वादिष्ट भोजन बनाती है। मुझे खिलाती है, नारायण को खिलाती है। अब मैं भी अपने पेट से कुछ ज्यादा खा लेता हूँ और यह भी। माँ के लिए या तो कुछ नहीं बचता या बचता भी है, तो नीचे की कुछ खुरचन बच जाती है। फिर भी वह चटखारे ले-लेकर खाती है। बहुत स्वाद आता है। वह कहती है, "तुमने खाया, तुम्हें मजा आया। तुम्हारे स्वाद से मेरी जीभ का स्वाद द्विगुणित हो गया।" यह अस्वाद की सामाजिक प्रेरणा कहलाती है।

अस्वाद को हम सामाजिक मूल्य बनाना चाहते हैं। मान लें, यह टुकड़ी आज रसोड़े में जायगी। अब ये परोसनेवाले यदि यह सोचें कि सारी भाकरियाँ दूसरे लोग खा लेंगे, हमारे लिए क्या बचेगा, तब तो ये लोग होटलवाले बन जायेंगे, शिविरवाले नहीं रह सकेंगे। शिविरवाले वे तभी तक रहेंगे, जब तक कि खानेवाले खाना खाते जाते हैं और खिलानेवाले खुश होते चले जाते हैं। खिलाते-खिलाते इनका दिल आनन्द से नाच रहा है! भले ही अन्त में बरतन खाली हो जाय, उनके लिए कुछ न बचे, पर खिलानेवाले को तब तक होश ही नहीं है, जब तक खानेवाले खा रहे हैं। यह अस्वाद का सामाजिक पहलू है।

सामाजिक मूल्य के रूप में भी अस्वाद आता है। हम दूसरे को खिलाकर खायें। दूसरे के खिलाने में आनन्द मानें। मेरा आनन्द यदि दूसरे को जिलाने में है, तो मेरा आनन्द दूसरे को खिलाने में भी होना चाहिए। विनोबा हमें हमेशा सिखाते हैं कि "अरे भाई! जो दूसरों को खिलाकर खाता है, वह असली मजा चखता है। जो खुद ही खाता है, उसे कभी मजा नहीं आता।"

नारायण को आप कोई स्वादिष्ट वस्तु दे देते हैं। उसे वह बहुत अच्छी लगती है। लेकिन उसे तब तक जायका नहीं आता, जब तक वह प्रबोध से नहीं कह लेता कि ऐसी चीज थी। कहता है, "क्या बताऊँ! कैसी चीज थी!" वह कहता है, "भाई, कुछ बता भी तो!" तो बतलाये क्या? वह बतला तो सकता नहीं है। उससे कहता है कि "तू भी खा।" तब प्रबोध कहेगा कि "हाँ, यह दरअसल बढ़िया चीज थी।" तब फिर दोनों की खुशी दुगुनी होगी।

आनन्द जब तक दूसरों की आँखों में प्रतिबिम्बित नहीं होता, तब तक वह पूरा नहीं होता। मनुष्य का स्वभाव है यह। उसे आप स्वाद की ओर लगा दीजिये, तो अस्वाद भी सामाजिक मूल्य बन जाता है।

सर्वधर्म-समानत्व

निर्भयता का विवेचन मैं कर चुका हूँ। स्वदेशी, स्पर्श-भावना और सर्वधर्म समानत्व की भी मैंने विशद रूप से चर्चा कर दी है। सर्वधर्म-समानत्व का अर्थ यह है कि सम्प्रदायो का निराकरण हो जाना चाहिए। जो मनुष्य-मनुष्य में भेद करता है, वह धर्म नही है। मनुष्य-मनुष्य मे जो अभेद की स्थापना करता है, वही धर्म है। इस दृष्टि से सारे धर्म समान हो जाते हैं और सारे धर्म समान हो जाते है, तो धर्म-परिवर्तन निषिद्ध हो जाता है।

स्वदेशी

स्वदेशी में केवल स्वावलम्बन का सिद्धान्त नही होगा, परस्परावलम्बन का भी सिद्धान्त होगा। नही तो विकेन्द्रित उत्पादन विकीर्ण उत्पादन हो जायगा। विनोबा के ये दो शब्द हैं। 'विकेन्द्रित उत्पादन' चाहिए, 'विकीर्ण उत्पादन' नही। विकीर्ण का अर्थ है छितरा हुआ। छितरा हुआ का अर्थ यह है कि एक के साथ दूसरे का सम्बन्ध नही। हर गाँव अलग-अलग हो गया, हर गाँव स्वावलम्बी हो गया, एक गाँव का दूसरे गाँव से कोई सम्बन्ध नही है, तब जीवन सम्पन्न होगा या विपन्न ? विपुलता में बन्धुत्व की प्रेरणा नही है, तो विपुलता बेकार है। इस प्रवृत्ति के विकास के लिए सयोजन मे बन्धुत्व की प्रेरणा चाहिए। उसी प्रकार जो उत्पादन होगा, वह मेरे पडोसी के लिए होगा। उत्पादन मे पड़ोसीपन की भावना होनी चाहिए।

मैं उत्पादन तो करता हूँ, लेकिन उत्पादन का मुझे शौक क्यो है ? इसीलिए कि जो चीज मैं बना रहा हूँ, वह बबलभाई पहननेवाले हैं। बबलभाई जो बना रहे है, वह दादा पहननेवाला है। इसलिए हमारे स्वयपूर्ण क्षेत्र स्वावलम्बी नही होंगे, पर-स्परावलम्बी होगे। यानी इन्हें एक-दूसरे की अपेक्षा रहेगी। समन्वयात्मक समाज मे सहउ-त्पादन एक-दूसरे के लिए होगा। हर जगह हर क्षेत्र मे तो सह-उत्पादन होगा ही, सह-उत्पादन अन्त क्षेत्रीय भी होगा। उपयोग के विषय में सभी व्यक्ति और क्षेत्र परस्परापेक्षी होगे।

स्पर्श-भावना

स्पर्श-भावना मे जाति-निराकरण और अस्पृश्यता-निवारण, ये दो बातें आती हैं। जाति जन्मसिद्ध ही हो सकती है, कर्मसिद्ध नही हो सकती। इसलिए जाति के निराकरण के लिए जन्मगत उच्चता और नीचता का निराकरण करना होगा। जन्मगत उच्चता और नीचता का निराकरण तभी होगा, जब जन्म की परिस्थिति में ही परिवर्तन होगा। जन्म की परिस्थिति का नाम विवाह है। इसके लिए सजातीय विवाह निषिद्ध करार देना होगा, तभी जाति-निराकरण होगा। इसमे जबरदस्ती नही

है। इसमे पथ्य है। आज की विधि (धर्माज्ञा) क्या है ? 'सवर्णां भार्यां उद्वहेत् असमानार्षगोत्रजाम् ।'—'सवर्ण भार्या के साथ विवाह करो, लेकिन उसका और तुम्हारा गोत्र एक नही होना चाहिए।' सगोत्र विवाह का निषेध है, सवर्ण विवाह का प्रतिपादन है। जो सगोत्र-विवाह को निषिद्ध नही मानते, वे सपिड-विवाह का निषेध करते हैं। मैं इतना ही कहता हूँ कि सगोत्र और सपिड-विवाह की जगह सवर्ण-विवाह रख दीजिये, बाकी तो आपकी स्वेच्छा पर सब-कुछ है ही। बाकी आपके लिए पूरा क्षेत्र पडा हुआ है। मैं आज तक की सामाजिक मर्यादा को केवल बढा रहा हूँ और कह रहा हूँ कि जातिभेद का निराकरण यदि करना है, तो इतना कदम और उठा लेना चाहिए। ऐसा किये बिना अस्पृश्यता का पूर्ण निवारण नही होगा।

पहले गाधी, विनोबा और हमारी राष्ट्रीय सस्थाओ और राष्ट्रीय-शालाओ में रहनेवाले हम लोगो ने दो भिन्न-भिन्न भूमिका के प्रश्न मान लिये थे। अस्पृश्यता को हमने केवल स्थूल स्पर्श का प्रश्न मान लिया था और सह-विवाह तथा सह-भोजन भिन्न भूमिका के प्रश्न मान लिये थे। लेकिन अनुभव से और अधिक चिन्तन से हम इस परिणाम पर पहुँचे कि ये भिन्न भूमिका के प्रश्न नही हैं। ये तो समान भूमिका के प्रश्न हैं। इसलिए 'स्पर्शभावना' शब्द वहाँ पर रखा। केवल अस्पृश्यता-निवारण नहीं रखा, स्पर्शभावना रखा। एक विधायक व्रत रख दिया। हम किसी मनुष्य को अशुद्ध न मानें और न किसी मनुष्य के रक्त को अशुद्ध मानें। यहाँ तक स्पर्शभावना जाती है। मनुष्य के रक्त को अशुद्ध मानें, यहाँतक स्पर्शभावना जाती है।

श्री बबलभाई ने यह प्रश्न रखा है कि अस्वच्छ व्यवसाय कौन करे ?

कुछ धन्धे ऐसे हैं, जो गन्दे हैं। कुछ धन्धे ऐसे हैं, जिनमें बुद्धि का कुछ काम नही पडता और दिनभर मनुष्य को उनमें लगा रहना पडता है। इन धधो के बारे में दो ही बातें हो सकती है। इन धधो को बाँट देना चाहिए। जैसे गाधी ने हरएक के हाथ में झाडू दे दी। भगी की कोई जाति या रोजगार नही रहना चाहिए। यदि आप नही बाँट सकते हैं, तो ऐसी व्यवस्था हो कि जजीर खीचते ही पाखाने साफ हो जाने चाहिए। वहाँ यन्त्रीकरण कर देना चाहिए। जो सहज मशक्कत के, केवल श्रम के रोजगार हैं, जैसे दिन-रात बोझा ढोने का रोजगार है, उसमें मनुष्य मस्तिष्क का काम नही कर सकता। ऐसे रोजगारो को भी या तो सब करें, या फिर ये रोजगार यन्त्रो को सौंप दिये जायें। ये दो ही उपाय हैं। यन्त्रीकरण से अगर बेकारी होती है, तो उन रोजगारो को सबमें बाँट देना चाहिए। तब हमारे समाज से रोजगारो की उच्च-नीचता निकल जायगी। जाति के साथ ही आज यह नही निकलती है। रोजगार बदलने पर भी जाति बनी रहती है। यह हमारा आज तक का अनुभव है।*

---

* विचार-शिविर में २७-८-'५५ का प्रातः-प्रवचन।

जब से अग्रेज इस देश मे आये, तभी से अर्वाचीनता का आरम्भ इस देश मे हुआ। अग्रेजो के यहाँ आने से पहले हमारे देश को आधुनिकता का स्पर्श नही हुआ था। इसका मतलब यह नही है कि इस देश का सम्बन्ध दूसरे देशो से नही था। हमारा दूसरे देशो से सम्बन्ध था। उनके आक्रमण भी होते रहते थे। जो विदेशी यहाँ रह जाते थे, वे यहाँ के हो जाते थे। फिर भी जिसे 'आधुनिक सस्कृति' या 'अर्वाचीन सभ्यता' कहते है, उसका स्पर्श इस देश को अग्रेजो के आने के बाद ही हुआ। अग्रेज जब से यहाँ पर आये, तब से दो तरह की प्रवृत्तियाँ शुरू हो गयी।

दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ

एक प्रवृत्ति तो यह शुरू हुई कि आधुनिकता का जो आक्रमण इस देश पर हुआ था, उससे इसका संरक्षण किया जाय और प्राचीन सस्कृति का इस देश मे फिर से पुन-रुज्जीवन किया जाय। दूसरी प्रवृत्ति यह शुरू हुई कि अग्रेजो की सत्ता इस देश मे से मिटा दी जाय। पर उस समय उसके बजाय लोकसत्ता की स्थापना की कल्पना नही थी। उससे पहले जो सत्ताएँ थी, वे सत्ताएँ फिर से आ जायँ, केवल अग्रेजो की सत्ता इस देश से नष्ट हो जाय, इतनी ही आकाक्षा थी।

सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टा

अब यह तो स्वाभाविक ही था कि उस समय लोगो का यह विश्वास हो कि बगैर हथियार के अग्रेज नही जा सकते। इन दोनो पक्षो में से कोई भी यह सोच ही नही सकता था कि बिना शस्त्र के भी कोई प्रतिकार हो सकता है। ये दोनो पक्ष यह मानते थे कि बगैर हथियारो के यह काम होनेवाला नही है। इसलिए यहाँ पर जिसे हम शुरू-शुरू का 'राष्ट्रीय आन्दोलन' कहते है, वह सशस्त्र क्राति की ही चेष्टा का आन्दोलन था। कई तरह के लोग इसमें थे। किस-किस प्रवृत्ति से ये आये, यह सब कहना यहाँ आवश्यक नही। केवल दो घटनाओ का उल्लेख करता हूँ।

वहाबियों का आन्दोलन

एक है—सशस्त्र क्राति की वहाबी मुसलमानो की चेष्टा और दूसरी है सन् १८५७ की सशस्त्र लड़ाई।

वहाबियो का आन्दोलन कैसे शुरू हुआ, किसने शुरू किया, वहाबी पथ क्या है, यह सब छोडकर सिर्फ एक बात आपके सामने रखता हूँ कि उनका एक नेता अहमद-शाह था। उसने १८२३ में सिखो के विरुद्ध जिहाद शुरू की। उसने यह कहा कि

"गैर-मुसलिम राज में मुसलमानो का रहना हराम है।" हम लोगो ने उसे राष्ट्रीय आन्दोलन समझा और राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में इसका उल्लेख कभी-कभी आ जाता है। लेकिन दर-असल उसके पीछे कौन-सी भावना थी, यह हमें नही भूलना चाहिए। १८६६-६७ मे इसी वहाबी पथ का अमीर खाँ नाम का एक नेता हुआ, जिसने अग्रेजो के खिलाफ एक षड्यत्र किया। वह पकडा गया। उस पर मुकदमा चला। एनस्टी नामक अग्रेज बैरिस्टर ने इसके बचाव में भाषण किया। वह भाषण इस देश में इतना फैला कि उस जमाने के विद्यार्थी और तरुण उसे कठ करते थे। लेकिन इन दोनो आन्दोलनो के पीछे उद्देश्य इतना ही था कि 'गैर-मुसलिम राज में मुसलमान नही रह सकते।

प्राचीन व्यवस्था लौटाने की चेष्टा

इसी तरह के जो दूसरे आन्दोलन चले, उनके उन्नायक हिन्दू-आन्दोलनकारी थे। बहुत-से वर्णाश्रम स्वराज्यवादी थे। वे चाहते थे कि यहाँ की जो प्राचीन व्यवस्था है, वह बनी रहे। उसमें किसी प्रकार की बाधा न आये। वे प्राचीन व्यवस्था के अभिभावक थे। इसलिए १८'५७ में, जिसे हम '**स्वातंत्र्य युद्ध**' कहते है, किसीने कहा कि कारतूसो में 'गाय की चर्बी' लगी हुई रहती है और दूसरे ने कहा कि 'सूअर की चर्बी' लगी हुई रहती है। इस तरह से सिपाहियो में बगावत शुरू हुई। उसमें नाना साहब पेशवा, दिल्ली का बादशाह और झाँसी की रानी, इन तीनो ने भाग लिया। उस वक्त यह कल्पना नही थी कि इस देश मे जनता का राज्य हो या इस देश में लोकसत्ता की स्थापना हो।

वासुदेव बळवन्त फड़के

सशस्त्र क्रान्तिकारियो मे सबसे पहले प्रजासत्ताक राज्य या लोकसत्ताक राज्य की बात करनेवाला वासुदेव बळवत फडके हुआ। यह वासुदेव बळवत फडके विनोबा के गाँव के पडोस में पनवेल तालुके के शिरधौन नामक गाँव मे पैदा हुआ। जनता ने इसका साथ नही दिया। सरकार तो खिलाफ थी ही। बडे-बडे शहर और गाँव के लोगो ने भी इसका साथ नही दिया। भील और रामोशी यानी जिन्हे आप गुनहगार जातियाँ, जरायम पेशा जातियाँ कहते है, उन लोगो ने इसका साथ दिया। लेकिन इसने प्रतिज्ञा यह की कि "मैं तार तोड डालूँगा, रेलें बन्द कर डालूँगा, इनकी कचहरियाँ और पोस्ट ऑफिस जलाऊँगा" लेकिन इसलिए कि आगे चलकर '**मैं सारे देश में छोटे-छोटे प्रजासत्ताक राज्य स्थापित करूँगा।**' यह प्रतिज्ञा पुराने सशस्त्र क्रातिकारियो में सिर्फ वासुदेव बळवत फडके ने की।

धार्मिक पुनरुज्जीवन का प्रयास

एक प्रवाह तो यह चल रहा था। दूसरी तरफ धार्मिक पुनरुज्जीवन का प्रयास हो रहा था। इतने में इस देश में अंग्रेजो से कुछ सीखने का आन्दोलन शुरू हुआ। अंग्रेजी सभ्यता, जिसे हम 'पश्चिम की सभ्यता' कहते थे और जिसे मैंने 'आधुनिक सभ्यता' कहा है, उसके सत्कार और स्वीकार का आन्दोलन इस देश में शुरू हुआ। लेकिन इस अनुकरण में केवल अनुकरण नही था यानी हिन्दुस्तान के लोगो को 'नकली साहब' या 'प्रति-यूरोपियन' बनाने का ही यह आन्दोलन नही था। उनके तत्त्वो को लेकर, उनके सिद्धान्तो को लेकर इस देश में एक राष्ट्रीय पुनरुत्थान करने का आन्दोलन था।

राजा राममोहन राय

इस आन्दोलन का सबसे बडा प्रवर्तक था—राजा राममोहन राय। यह बडा ही तगडा और बहुत ही बडा दबग व्यक्ति था। उसे इस देश में 'आधुनिक भारत का पिता' और 'राष्ट्रीयता का पैगम्बर' कहा जाता है।

उसने बडे साहस का काम यह किया कि वह इग्लैण्ड गया और विक्टोरिया रानी से जाकर उसने कहा कि 'हमारे देश में अंग्रेजी शिक्षा शुरू होनी चाहिए।' उधर मेकाले भी कहता था कि अंग्रेजी शिक्षण शुरू होना चाहिए। मेकाले ने लिखा कि 'इनके इतिहास में तो एक-एक राजा ऐसा है, जो २-२ हजार फीट का ऊँचा है और हजार-हजार साल तक जीता रहा है! इनका भूगोल दही-दूध और मक्खन के समुद्रो का है और शहद की नदियो का है। इन लोगो के साहित्य में, इनके इतिहास में रखा क्या है? इसलिए इन्हें अंग्रेजी शिक्षण देना चाहिए।'

राजा राममोहन राय वेद-उपनिषद् का ज्ञाता था। कुरान उसने सीख ली थी, बाइ-बिल का अध्ययन उसने मिशनरी लोगो के पास बैठकर किया था। इस देश मे भार-तीय समाचार-पत्र निकालने की कोशिश भी पहले-पहल उसीने की। विधवा-विवाह के लिए और सती की प्रथा के खिलाफ उसने आन्दोलन शुरू किया और इस सम्बन्ध में जो कानून बने, वे सब राजा राममोहन राय की कोशिश से बने। कलकत्ते मे २० अगस्त १८२८ में उसने इस उद्देश्य से ब्राह्म-समाज की स्थापना की कि अंग्रेजो के समाज में जितनी अच्छी चीजें थी, वे दरअसल हमारी सस्कृति में पहले से हैं। लोग नाहक ईसाई बनते हैं। ईसाई बनने की कोई आवश्यकता नही है। हमारी सस्कृति मे और हमारे धर्म में ये सारी खूबियाँ, सारी विशेषताएँ हैं, जिनके लिए लोग अभी ईसाई बन रहे हैं। इस प्रकार के सत्कार और स्वीकार के साथ पुन-रुज्जीवन का प्रयास राजा राममोहन राय ने किया। लेकिन ईसाई बनने की जो प्रवृत्ति थी, उस प्रवृत्ति में उसने बहुत बडी रुकावट पैदा की और पुनरुज्जीवन की ओर लोगो को मोडा। आधुनिकता का स्वीकार करते हुए लोग पुनरुज्जीवन की ओर मुडे।

वह ऐसा युग था कि उस पर ईसाइयो की बहुत बडी छाप थी। उस समय बाइबिल का ही अध्ययन होता था। ब्राह्म-समाज के बहुत बडे वक्ता केशवचन्द्र सेन ने, जिनके व्याख्यानो से लोग दहल जाते थे, यहाँ तक कहा था कि 'ईसा के सिवा और कोई इस देश का उद्धार नही कर सकेगा।'

ब्राह्म-समाज और प्रार्थना-समाज

इस प्रकार 'ब्राह्म-समाज' की स्थापना हुई। ब्राह्म-समाज के साथ-साथ सामुदायिक प्रार्थना आयी। सामुदायिक प्रार्थना में कोई मूर्ति नही रहती थी, न कोई देवता। वहाँ पुरानो के लिए कोई स्थान नही था। ये लोग इन प्रार्थनाओ और मत्रो के लिए उपनिषदो और वेदो का आधार लिया करते थे।

पजाव में इसी समय एक 'देव समाज' स्थापित हुआ, लेकिन वह इस देश में पनपा नही।

ब्राह्म-समाज की तरह का ही उधर बम्बई में, जिसमे सिंध से लेकर कर्नाटक तक शामिल था, वहाँ के पारसी, गुजराती, मराठी और सिंधी नेताओ ने मिलकर १८६७ मे 'प्रार्थना-समाज' की स्थापना की। इसमें रानडे, चंदावरकर और आगरकर प्रमुख थे। इसे हम राजा राममोहन राय के 'ब्राह्म-समाज' का ही एक सस्करण कह सकते हैं। सिद्धान्त वे ही थे, पूजा-पद्धति, उपासना-पद्धति, प्रार्थना-पद्धति भी वही थी। इन लोगो ने जो मुख्य काम किया, वह यह कि इन्होने लोगो को ईसाई बनने से बचाया, आधुनिकता का स्वीकार किया और भारतवर्ष मे स्वाभिमानशून्यता की जो एक लहर आयी थी, उसे एक अश में कम किया और पुनरुज्जीवन की ओर उसे मोडा।

अंग्रेजों का अन्धानुकरण

इन सबमें अनुकरण का अश अधिक था। 'अनुकरण करो, धार्मिक-सास्कृतिक अनुकरण करो, तब यहाँ अर्वाचीनता और आधुनिकता आयेगी।' इस अनुकरण का हमारी राजनीति पर और राजनैतिक आन्दोलनो पर भी बहुत प्रभाव पडा। सभी जानते हैं कि 'एलन ओक्टेवियन ह्यूम' काग्रेस का जनक कहलाता है। यह अग्रेज सिविल सर्विस में था। काग्रेस के पहले अध्यक्ष उमेशचन्द्र बनर्जी का उनके जीवनी-लेखक ने जो वर्णन किया है, उसमें कहा है कि "एक-एक इच वह अग्रेज बन गये थे यानी सिगार भी जब सुलगाते थे, तो अग्रेजो की तरह। भाषणो में हाथ का अभिनय करते थे, तो वह भी अग्रेजो की तरह।" इस तरह वह अग्रेजी चाल-ढाल और तौर-तरीके का अनुकरण करने में सफल हो गये थे।

इस तरह चाहे हमारा शिक्षण का क्षेत्र हो, चाहे राजनीति का, सभी क्षेत्रो में अनुकरण का दौर आया। जब यह दौर बहुत बढने लगा, तब एक दूसरी तरह की प्रवृत्ति हमारे देश में शुरू हुई।

सैयद अहमद खाँ

शिक्षण के क्षेत्र मे सैयद अहमद खाँ आगे आये। इन्हे भारतवर्ष के 'आधुनिक मुसलिम-जीवन का जनक' कहा जाता है। ये अलीगढ़ के मुसलिम-विश्वविद्यालय के सस्थापक और मुसलिम शिक्षण-परिषद् के सयोजक थे। इन्होने २८ दिसम्बर १८८६ तथा १६ मार्च १८८८ को दो महत्त्वपूर्ण भाषण किये। इन्होने दो साल तक इसलिए काफी आन्दोलन किया कि मुसलमानो में अंग्रेजी शिक्षण शुरू हो। उनका कहना था कि अग्रेजी शिक्षण लेकर हिन्दू तो आगे बढने लगे हैं, मुसलमान पिछड गये हैं। इसलिए मुसलमानो को हिन्दुओ की कतार में लाने के लिए मुसलमानो में अग्रेजी शिक्षण का आरम्भ हुआ। हमारे देश में लौकिक स्तर पर अन्तर्प्रान्तीय जीवन का आरम्भ अग्रेजी भाषा से हुआ। अग्रेजों के आने से पहले 'भारतवर्ष का नागरिक' नाम का कोई प्राणी दुनिया में नही था। सर विलियम हटर ने यह शब्द पहले प्रयुक्त किया। ली वार्नर ने 'हिन्दुस्तान का नागरिक' नाम की पुस्तक सबसे पहले लिखी। समूचे भारतवर्ष का भी एक नागरिक हो सकता है, इसका सकेत पहले उन्होने किया। लेकिन अखिल भारत का नागरिक भारत की किस भाषा मे हो, यह सवाल था। सस्कृत तो सामान्य नागरिक की भाषा थी नही।

पहला अखिल भारतीय आन्दोलन

धर्म के प्रश्नो को लेकर, तीर्थक्षेत्रो की समस्याओ को लेकर, द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत जैसे सिद्धान्तो को लेकर तो इस देश में पहले अखिल भारतीय यात्राएँ हुई थी, लेकिन किसी लौकिक प्रश्न को लेकर, अखिल भारतीय यात्रा सबसे पहले १८७१ मे हुई और वह सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने की। समस्या थी कि सिविल सर्विस में आज यहाँ बीस साल का ही तरुण लिया जाता है, वहाँ उसकी उम्र बढाकर तेईस साल कर दी जाय, क्योकि हमारे यहाँ लड़के कुछ देर से पास होते है। यह अखिल भारतीय समस्या थी और इसे लेकर उनका सबसे पहला अखिल भारतीय दौरा हुआ, जिसमे उन्होने अग्रेजी भाषा का ही माध्यम रखा था। यहाँ से अन्तर्प्रान्तीय स्तर पर हमारी राष्ट्रीय जाग्रति का आरम्भ होता है। इससे पहले अन्तर्प्रान्तीय स्तर पर अखिल भारत मे लोगो को जाग्रत करने का प्रयास और किसीने नही किया था।

राजा राममोहन राय ने अपने समाज मे जो काम किया, वही काम मुसलिम-समाज मे करने के लिए सैयद अहमद खाँ ने अलीगढ़ में कॉलेज की स्थापना की। वही आगे चलकर मुसलिम युनिवर्सिटी हुई।

कांग्रेस की स्थापना

सन् १८५७ से लेकर१८९० तक देश में बहुत-सी सस्थाएँ कायम हुई और अखिल

भारतीय आन्दोलन के प्रयास हुए। इसी वक्त वासुदेव बळवत फडके और दूसरे लोगो ने सशस्त्र क्राति के भी प्रयास किये। इस बीच यहाँ के पढे-लिखे लोगो को यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि राजनैतिक आन्दोलन में ी आधुनिकता का प्रवेश होना चाहिए। हमे यहाँ पर अग्रेजो के नमने का स्वराज्य चाहिए। इग्लैण्ड में, फ्रास की राज्य-क्राति के बाद फ्रास में और अमेरिका में जिस प्रकार का स्वराज्य आया और जिस प्रकार के स्वराज्य का प्रयास इटली में मैजिनी ने किया, वैसा ही स्वराज्य हमें भी चाहिए। उन दिनो यहाँ पर 'मैजिनी' का साहित्य वहुत पढा जाता था और इग्लिश साहित्यिको का हमारे विचारो पर जैसा प्रभाव पडा, वैसा ही मैजिनी का भी हम पर वहुत प्रभाव पडा। इन देशो के इतिहास से यहाँ पर एक आकाक्षा पैदा हुई कि ऐसा ही स्वराज्य हमारे देश में स्थापित हो। इसी उद्देश्य से १८८५ में लोगो ने 'काग्रेस' की स्थापना की।

सशस्त्र क्राति की चेष्टा में, वासुदेव बळवत फडके की चेष्टा को यदि छोड़ दिया जाय, तो जनता का राज्य स्थापित करने की चेष्टा किसीने की ही नही थी। पिछले सभी आन्दोलन धार्मिक और सास्कृतिक पुनरुज्जीवन के आन्दोलन थे। उनमें आधुनिकता का प्रवेश सवसे पहले राजा राममोहन राय ने कराया।

राष्ट्रीय अहंतावाद

इसके वाद लोगो को कुछ ऐसा महसूस होने लगा कि हमारे देश में जो कुछ है, वैसा दुनिया मे और कही नही है। भगवान् ने भारतवर्ष को ही अपनी सवसे पवित्र भमि माना है। 'दुर्लभ भारते जन्म, मानुष्यं तत्र दुर्लभम्।' अर्थात् 'भारतवर्ष में तो जन्म पाना ही दुर्लभ है और फिर यहाँ मनुष्य वनकर आना तो और भी दुर्लभ है।' इस प्रकार की राष्ट्रीय दुरभिमान की एक भावना इस देश में फैल रही थी। तव राजा राममोहन राय आये। उनके आने के वाद अग्रेजो के अनुकरण की एक लहर दौड गयी—'अग्रेजो की तरह खाओ, अग्रेजो की तरह पियो, अग्रेजो की तरह रहो, अग्रेजो की तरह नाचो।'

आर्य-समाज की स्थापना

इसका प्रतिकार करने के लिए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने १८७६ में 'आर्य-समाज' की स्थापना वम्वई में की। अव घडी का लोलक ही विलकुल दूसरी तरफ चला गया। कहने लगे कि ऐसी कोई चीज ही नही है, जो भारतवर्ष में नही है। विज्ञान भी हमारे यहाँ था और आज भी है। तुम्हारे यहाँ पश्चिम में है ही क्या, जो भारतवर्ष मे नही था? हमारे यहाँ सव-कुछ है और जर्मनी, इग्लैण्ड और फ्रास आदि ने जो कुछ उन्नति की है, उसका कारण तो हमारे वेद और पुराण हैं। उन्हीमे मे वातें सीख-सीखकर उन्होने यह प्रगति की है। अर्थात् फिर से 'राष्ट्रीय अहंतावाद'

की एक लहर पैदा हुई। विज्ञान यहाँ था, संस्कृति यही से दुनियाभर में गयी, साहित्य यही सबसे पहले पैदा हुआ और मनुष्य ने भारतवर्ष मे ही सबसे पहले बोलना शुरू किया। इस तरह से राष्ट्रीय स्वाभिमान जागृत करने के लिए १८७६ में एक दूसरा आन्दोलन शुरू हो गया और उसकी प्रधान भाषा हिन्दी हुई, संस्कृत नही। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने 'आर्य-समाज' की मुख्य भाषा हिन्दी मानी।

थियासाफिकल सोसाइटी

अब एक ऐसे आन्दोलन की आवश्यकता इस देश में फिर से हुई, जो हमारे स्वाभिमान को जागृत रखते हुए आधुनिकता का इस देश में विकास कर सके। तो स्वामी दयानन्द सरस्वती ने १८७९ में अमेरिका से थियासाफिकल सोसाइटी को इस देश मे बुलाया। थियासाफिकल सोसाइटी की स्थापना १७ नवम्बर १८७५ के दिन न्यूयार्क (अमेरिका) में हुई। १८७९ की १६ फरवरी को स्वामी दयानन्द के निमंत्रण पर थियासाफिकल सोसाइटी भारत में आयी। बाद में तो फिर उसका और आर्य-समाज का बहुत झगडा हुआ। लेकिन उसे इस देश में बुलाने का श्रेय स्वामी दयानन्द सरस्वती को है। उसने यह बतलाया कि धर्म की दृष्टि से भारतवर्ष सारी दुनिया का गुरु है। सारे धर्मों के जो अच्छे तत्त्व है, उनका संग्रह हो सकता है, अध्ययन हो सकता है और धर्म के सारे अच्छे तत्त्वो का संग्रह और अध्ययन करके मनुष्य अपने को अच्छा आध्यात्मिक पुरुष बना सकता है। थियासाफिकल सोसाइटी ने यह सिखाने के साथ-साथ थोडा-बहुत राष्ट्रीय स्वाभिमान भी जागृत किया कि हिन्दू लोगो की पद्धति में कोई बुराई नही है। सनातन हिन्दू-धर्म की पुस्तकें थियासाफिकल कॉलेजो में चलायी। मै बचपन में कभी-कभी उन पुस्तको में पढ़ता था कि रेशम का वस्त्र पहनकर भोजन करने से बिजली पैदा होती है, इसलिए पाचन-क्रिया में मदद पहुँचती है। इस प्रकार कुछ वैज्ञानिकता लाने की कोशिश की गयी और यहाँ की बहुत-सी बातो का समर्थन करने की कोशिश हुई। लेकिन उसमें मुख्य जो बात थी, वह यह कि आधुनिक संस्कृति और पौराणिक संस्कृति में जो विरोध था, उस विरोध को कम करने के लिए पहले यह भूमिका उन लोगों ने बाँधी कि इस देश में जितने धर्म हैं, उन सारे धर्मों का अध्ययन हो सकता है और उनका इस देश में सह-अवस्थान भी हो सकता है। समन्वय तक तो वह नही आये, लेकिन सारे धर्म साथ-साथ यहाँ रह सकते हैं, और सबका साथ-साथ अध्ययन भी हो सकता है—थियासाफिकल सोसाइटी हमारे विचारो को यहाँ तक ले आयी।

रामकृष्णदेव परमहंस

इसी दरमियान १७ फरवरी १८३६ को गदाधर चट्टोपाध्याय का जन्म हुआ

और वे आगे चलकर रामकृष्ण परमहस देव के नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्होंने दो बातें इस देश को दी। एक तो काली की उपासना और दूसरी, सब धर्मों का सामजस्य।

काली की उपासना को लोगो ने आगे चलकर मातृभूमि की उपासना मे वदल दिया।

त्वमेव दुर्गा दशप्रहरणधारिणी।

यह कोई रामकृष्ण परमहस की काली नही थी, वह तो हमारी काली थी, जो अंग्रेजो को मारने के लिए दौडी थी। काली की उपासना को हमने मातृभूमि की उपासना में परिणत कर दिया। वगाल के कई सशस्त्र क्रान्तिकारी अपने-आपको काली माता के पुत्र कहलाते थे। उनके एक हाथ में रहता था वम और दूसरे हाथ में भगवद्गीता। उस समय जिन अंग्रेजो ने पुस्तकें लिखी, उन्होने बहुत घवडाकर लिखा है कि 'भगवद्गीता वहुत भयकर पुस्तक है। इसने सिखाया है कि दूसरो को मारने से पाप नही लगता। अर्जुन को भगवान् ने यह सिखाया है कि अनासक्तिपूर्वक खून किया जा सकता है।' उस समय नेविन्सन, चिरोल आदि जितने भी लेखक हुए, उन सवने इस बात पर जोर दिया कि यह काली की उपासना है, मातृपूजा है, इसमें से सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टा पैदा हुई है और रामकृष्ण देव परमहस उसके कारण हैं। लेकिन यह आक्षेप निराधार है।

रामकृष्ण परमहस देव ने इस देश में सास्कृतिक और धार्मिक सामजस्य का सबसे वडा कदम उठाया। उन्होंने अपने जीवन मे सभी धर्मों के कर्मकाण्ड का भी अनुष्ठान किया, केवल सिद्धान्तो का ही नही। सारे धर्मों के कर्मकाण्ड का प्रत्यक्ष आचरण करने के वाद उन्होंने यह सिद्ध किया कि सारे धर्म भगवान् की ओर ही ले जानेवाले हैं। यह सवसे वडी वात रामकृष्ण परमहंस ने की। इस विभूति ने अपने जीवन मे सारे धर्मो की सत्यता सिद्ध कर दी।

स्वामी विवेकानन्द

रामकृष्ण देव परमहस के साथ स्वामी विवेकानन्द भी आये, जिन्हें रोमाँ रोलाँ ने 'हिन्दू-धर्म का नेपोलियन' कहा। इन्होंने एक तरह से हिन्दू-धर्म की दिग्विजय करायी और इस देश में चारो ओर स्वाभिमान की एक लहर पैदा की। विवेकानन्द ने १८९७ में 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की। रामकृष्ण देव परमहस ने सामजस्य का जो कार्य किया, उसका परिणाम सारे क्षेत्रो में हुआ। ब्राह्म-समाज में देवेन्द्रनाथ ठाकुर के वाद पुनरुज्जीवन की प्रवृत्ति में अन्तर पडता गया, राष्ट्रीयता का विकास होता गया और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्यो में और उस जमाने के साहित्य में एक नये भारतवर्ष का दर्शन लोगो को होने लगा।

राजनीतिक आन्दोलनों का जन्म

इस तरफ तो ये प्रवृत्तियाँ चली और उधर राजनीति में लोगो ने यह देखा कि धार्मिक और सास्कृतिक पुनरुज्जीवन में आधुनिकता के स्वागत की जो लहर दौडी थी, उसके कारण अग्रेजी राज्य के खिलाफ कोई प्रखर आन्दोलन नही चल रहा था। लोग इसका कारण खोजने लगे। इस बीच महाराष्ट्र में बाळ गगाधर तिलक पैदा हुए और उधर बगाल में विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष और ब्रह्मबान्धव उपाध्याय जैसे लोग पैदा हुए। उस समय इस देश में कोई भी राजनीतिक काम धर्म के नाम पर ही किया जा सकता था। अग्रेज-सरकार को धार्मिक कृत्यो पर कोई आपत्ति नही थी। गणेशोत्सव हो, सत्यनारायण की पूजा हो, उसके लिए धार्मिक स्वातत्र्य था। लोकमान्य तिलक ने १८९३ और १८९४ मे गणेश-उत्सव जैसा धार्मिक और शिवाजी-उत्सव जैसा ऐतिहासिक उत्सव शुरू कर दिया। लेकिन इसी बीच हिन्दू और मुसलमानो के दगे हुए। लोगो ने कहा कि तिलक के उत्सवो के कारण ये उवद्रव हुए।

उस समय एक बात और थी और वह यह कि अग्रेजो को कोसना होता, तो मुसलमान को सामने रखना होता था। यानी यह कहना हो कि अग्रेज बडे दुष्ट और अत्याचारी राजा है, तो औरगजेब को लेकर नाटक लिखा जाता था और औरगजेब के खिलाफ कविता लिखी जाती थी। पर असल मे उसमें मुसलमानो के विरोध का उद्देश्य नही होता था। अग्रेज समझते थे कि इसका इशारा हमारी तरफ है, लेकिन वे होशियार थे। मुसलमानो से कहते थे कि ये लोग तुम्हारे खिलाफ नाटक लिखते है, हमारे खिलाफ नही। इस प्रकार बहकाने से हिन्दू-मुसलमानो के कुछ दगे हो गये और यह कहा गया कि इसके लिए लोकमान्य तिलक जिम्मेवार है।

नवराष्ट्रवाद

लोकमान्य तिलक और बगाल के नवराष्ट्रवादियो ने एक बात पर जोर दिया। उन्होने कहा कि राजा राममोहन राय की परपरा के ये जो पुराने लोग है, "ये लोग उत्कट देशभक्त ह, लेकिन इनकी राष्ट्रीयता ही अराष्ट्रीय है।" "क्यो ?" इसलिए कि "हिन्दुस्तान यदि नकली इग्लिस्तान बन जाता है, तो वह हमारे किसीके काम का नही है।" इसी उद्देश्य से अरविन्द घोष ने उस वक्त 'इडियन रेनेसाँ' नामक पुस्तक लिखी और ब्रह्मबाधव उपाध्याय, विपिनचन्द्र पाल आदि ने अखबारो में और पुस्तको में नवराष्ट्रवाद का प्रतिपादन शुरू कर दिया।

यह नवराष्ट्रवाद इस देश में तीन बातो को लेकर आया :

१. स्वदेशी,

२ राष्ट्रीय शिक्षण और

३ वहिष्कार।

स्वदेशी अंग्रेजो के खिलाफ थी। उस वक्त स्वदेशी का यह अर्थ नही था कि किसी विदेश का हम कोई माल न लें। स्वदेशी का इतना ही अर्थ था कि इग्लैण्ड का माल न खरीदा जाय।

'स्वराज्य' शब्द की घोषणा

इन लोगो को सबसे बडा समर्थन दादाभाई नवरोजी का मिला। दादाभाई नवरोजी ने कांग्रेस के दो अधिवेशनो में दो बहुत बडी बातें कही। १८८६ मे जो दूसरी कांग्रेस कलकत्ता में हुई, उसमे उन्होंने पहली बार यह कहा कि यह कांग्रेस सामाजिक नही है, यह धार्मिक नही है, यह साम्प्रदायिक नही है, यह जातीय नही है, यह कांग्रेस अखिल भारतीय कांग्रेस है और इसका सम्बन्ध सिर्फ राजनैतिक समस्याओ से रहेगा। उन्ही दादाभाई ने १९०६ में कलकत्ता-कांग्रेस में 'स्वराज्य' शब्द की घोषणा कर दी। इससे उस समय कुछ शोर हुआ और नवराष्ट्रवाद के लिए एक भूमिका बनी।

देश के प्रथम 'लोकमान्य'

नवराष्ट्रवादियो के प्रमुख नेता तो लोकमान्य तिलक हुए, जो इस देश के प्रथम 'लोकमान्य' इसलिए हुए कि वे जनता के सर्वप्रथम नेता थे। उस समय सशस्त्र क्रान्ति लोकव्यापी नही हो सकती थी और वैधानिक आन्दोलन लोक-सुलभ और लोक-सगठन की प्रतिकारात्मक प्रणाली का नही हो सकता था। तिलक ने ऐसे लोक-सुलभ और लोक-सगठनात्मक प्रतिकार के मार्ग का आविष्कार किया। उन्होंने वहिष्कार, वायकॉट', के रूप मे नि शस्त्र प्रतिकार की ओर एक कदम, और शायद पहला कदम, बढाया। उन्होंने कहा कि हम समय आने पर टैक्स (कर) नही देंगे और मौका आया तो कानून को भी नही मानेंगे। विपिन पाल ने कहा कि हम अंग्रेजो की नौकरी करने से भी इनकार कर देंगे और उनकी मेमो को घर में खुद काम करना पडेगा। इस तरह वहिष्कार की इस प्रक्रिया की व्याप्ति सामाजिक वहिष्कार तक हो गयी। तिलक, विपिन पाल आदि ने जनता को नि:शस्त्र प्रतिकार की शिक्षा दी। व्यापक जन-सपर्क का भी आरम्भ हुआ। वारिसाल के अश्विनीकुमार दत्त ने १८८७ में किसी एक प्रश्न को लेकर ५००० किसानो के हस्ताक्षर एकत्र किये थ। परन्तु जनता मे प्रत्यक्ष नि शस्त्र प्रतिकार की क्षमता पैदा करने की चेष्टा नवराष्ट्रवादियो ने ही की। इसके तीन द्रष्टा बगाल मे हुए—विपिन पाल, अरविन्द घोष और ब्रह्मवान्धव उपाध्याय। वेलेन्टाइन चिरोल ने लिखा था कि भारत में असतोष का यदि कोई जनक है, तो वह

चित्पावन ब्राह्मण वाल गगाधर तिलक है। 'लोकमान्य' की लोकमान्यता का आधार है, उनका नि शस्त्र पराक्रम। उनके व्यक्तित्व और जीवन ने जनता को नि शस्त्र प्रतिकार की दीक्षा दी।

स्वदेशी और बहिष्कार

प्रत्यक्ष राष्ट्रीय आन्दोलन का आरम्भ बग-विच्छेद के वाद हुआ। उस समय राष्ट्रवादियो ने भी और सरकार ने भी, मुसलमानो को अपने मे शामिल करने की चेष्टा की। इस समय की सवसे वडी घटना '**स्वदेशी और बहिष्कार**' आन्दोलन थी। परन्तु लोगो के मन मे भावना यह थी कि हमारे पास न तो कोई शस्त्र-शक्ति है, और न अन्य ही कोई शक्ति है, इसलिए ये सारे आन्दोलन करने पडते हैं।

'कामागाटामारू' प्रकरण

सन् १९०८ मे तिलक जेल चले गये और इधर देश के विभिन्न भागो मे शस्त्र-प्रयोग में विश्वास करनेवालो का दौर-दौरा वढा। उनमें कई आतकवादी थे। कई प्रतिभाशाली वीर और महाप्रतापी नेता थे—सावरकर, अरविन्द, श्यामजी कृष्ण वर्मा, लाला हरदयाल और राजा महेन्द्र प्रताप आदि। इन लोगो की कोशिश लगातार १९१४ तक चलती रही। विश्वयुद्ध छिड जाने पर १९१५ में इसका परि-पाक होनेवाला था। सशस्त्र वगावत की तारीख मुकर्रर कर दी। फलाँ दिन अंग्रेजो के राज्य को उखाडकर फेंक देंगे, ऐसा सशस्त्र क्रातिकारियो ने तय किया था, लेकिन सरकार को पता चल गया था। लाला हरदयाल और गुरुदित सिंह आदि के प्रयत्नो से वहुत से क्रातिकारी अमेरिका से एक चीनी या जापानी जहाज में वैठकर आये थे और ये लोग यहाँ पर वलवा करना चाहते थे। यह 'कामागाटामारू' से प्रसिद्ध वहुत महत्त्वपूर्ण सशस्त्र प्रयत्न हुआ। पर इसका स्फोट समय पर नही हो सका।

होमरूल आन्दोलन

इस वीच १९१४ में लोकमान्य जेल से छूटकर आये। उसके वाद शीघ्र ही अफ्रीका से गाधी आ गये। ये दोनो मिलकर काग्रेस मे भी आने-जाने लगे। काग्रेस मे यह आकाक्षा पैदा हुई कि अब तक की काग्रेस-नीति मे परिवर्तन किया जाय। इस वीच डॉक्टर एनी वेसेन्ट का 'होमरूल'-आन्दोलन शुरू हो गया। इस समय मुहम्मद अली जिना और काग्रेस के लोगो ने यह कोशिश की कि हिन्दू-मुसलमानो की एकता हो और इन दोनो की ओर से सयुक्त माँग की जाय। मुसलिम-लीग की स्थापना तो हो चुकी थी, पर हिन्दू-सभा की स्थापना तव तक नही हुई थी। लोकमान्य तिलक ने अंग्रेजो से कहा कि "तुम मुसलमानो को ही राज्य देकर चले जाओ, लेकिन यहाँ से

चले तो जाओ।" हिन्दू-मुसलमानो की एकता की योजना १९१६ की लखनऊ की काग्रेस में आयी। वहाँ वह स्वीकृत भी हुई। तब से इस देश की राजनीति में गाधी का प्रवेश हुआ।

गांधी द्वारा राजनीति में धर्म का प्रवेश

गाधी एक अनोखा व्यक्ति था। इसकी सारी बातें अनोखी थी। यहाँ की राजनीति में आते ही यह कुछ विचित्र बातें करने लगा, तो लोगो ने कहा कि "यह तो धर्म की बात राजनीति मे लाता है। ऐसा आदमी किस काम का?" उसने इस देश में आकर हिन्दू-मुसलिम एकता को **'सर्वधर्म समभाव'** के अधिष्ठान पर खडा करने की कोशिश की। यानी आध्यात्मिक क्षेत्र में रामकृष्ण देव परमहस ने जो प्रयास अपने जीवन में किया था, वह प्रयास राजनैतिक क्षेत्र मे और इस देश के स्वराज्य के आन्दोलन के क्षेत्र मे, गाधी ने करने की कोशिश की—**सास्कृतिक समन्वय और धर्मसमन्वय, अर्थात् सारे सम्प्रदायो, धर्मों और सारी सस्कृतियो का समन्वय!** सास्कृतिक समन्वय का वाहन बनी हिन्दी भाषा और सर्व-धर्म-समन्वय का प्रतीक बनी हिन्दू-मुसलमानो की एकता। उस वक्त गाधी ने इस देश के सभी सम्प्रदायो का समन्वय करने और उनमे सामजस्य स्थापित करने की कोशिश की। एक ओर से यह चेष्टा की और दूसरी ओर से राष्ट्रीय शिक्षण को बुनियादी तालीम का शास्त्रशुद्ध स्वरूप देने की चेष्टा की, जो बाद में **'नयी तालीम'** के रूप मे विकसित हुई। स्वदेशी को खादी और ग्रामोद्योगो का शास्त्रशुद्ध और ग्रामीकरण की ओर ले जानेवाला स्वरूप दिया।

सत्याग्रह और असहयोग

गाधी का सबसे बडा काम यह हुआ कि नि शस्त्र प्रतिकार की प्रगति और परिणति सत्याग्रह के अस्त्र मे हुई, जो एक जागतिक अस्त्र हो सकता था। गाधी ने इस प्रकार की दीक्षा यहाँ के लोगो को दी और नये-नये उपक्रम किये।

बगाल में स्वदेशी-आन्दोलन के समय उपवास का प्रवेश तो राष्ट्रीय जीवन मे हो गया था, लेकिन उपवास को एक प्रतिकार का अस्त्र गाधी ने बना दिया। स्थान-स्थान पर भूख-हडतालें होने लगी। यहाँ तक कि सामान्य झगडो पर काग्रेसकर्मियो के दफ्तरो में भूख-हडतालें होने लगी। हडताल अभी तक दूसरे देशो में केवल मजदूरो का अस्त्र था, पर यहाँ आगे चलकर असहयोग मे इसका विकास हुआ। लडको से कहा, "स्कूल छोड़ दो", वकीलो से कहा, "अदालतें छोड दो।" विपिन पाल की परिभाषा में यह सब 'वैराग्य' था और 'वैराग्य' की उसने शास्त्रीय व्याख्या की है। वह कहता है कि "वैराग्य का अर्थ है—अनात्मा से जो सुख मिलता है, वह छोडो। इसलिए अंग्रेज सरकार से जितना सुख मिलता है, वह हमारा राष्ट्र जब छोडेगा, तब उसमे शक्ति आयेगी।"

बहुमत नहीं, सर्वमत की माँग

गाधी ने सोचा कि इस देश में जब तक लोकशक्ति जाग्रत नही होगी, और केवल बहुमत नही, सर्वमत की ओर लोग जब तक नही जायेंगे, तब तक इस विचार का और इस देश के राष्ट्रीय आन्दोलन का पूरा विकास नही होगा।

ऐसा नही है कि मैं विनोबा की बातें सुनकर सर्वोदय की लोकनीति में 'बहुमत' और '**सर्वमत**' की बात गाधी के लिए लागू कर रहा हूँ। बात यह है कि जब लोकमान्य तिलक नही रहे, तब गाधी ने पहला मृत्युलेख लिखा कि "बहुमत के राज्य में लोकमान्य की जो निष्ठा थी, उसे देखकर कभी-कभी मैं काफी डर जाता था।" लोकमान्य ने बहुमत के राज्य का प्रतिपादन इसीलिए किया कि पार्लियामेंट की नीति इससे आगे नही गयी थी। लेकिन गांधी के सारे विचार उनके अपने विचार थे। इसलिए बहुसंख्या का राज्य वे नही चाहते थे। **गांधी यह चाहते थे कि राज्य की व्यवस्था ऐसी हो, जिससे सर्व-सम्मति आ सके, सारे-के-सारे धर्म इसमें आयें, अल्पसंख्यक लोग भी उसमें आयें, हरिजनों का, अस्पृश्यों का समावेश भी उसमें हो सके।** अस्पृश्यता-निवारण को भी उन्होने अपनी राजनीति का ही एक अग बना लिया।

आर्थिक क्रान्ति : भूदान-यज्ञ

इस प्रकार धार्मिक पुनरुज्जीवन, समाज-सुधार और राजनैतिक आन्दोलन, तीनो का त्रिवेणी-सगम गाधी की विभूति में और गाधी के आन्दोलनो में हुआ। इस मुकाम पर हम लोगो को वे छोड गये। उसके बाद इस देश में भूदान-यज्ञ का आन्दोलन शुरू हुआ, जिसे हम आज विनोबा के व्यक्तित्व के रूप मे देखते है। इसमे आध्यात्मिक, नैतिक और सास्कृतिक सभी सिद्धान्तो को विनोबा आर्थिक क्राति के लिए लागू कर रहे हैं। गाधी ने जिन सिद्धान्तो को राजनैतिक क्षेत्र मे लागू करने की चेष्टा की, जिनके लिए स्वदेशी और ग्रामोद्योगो का प्रतिपादन किया और अस्पृश्यता-निवारण जैसे मूल्यो के लिए हमे झाड़ू जैसे प्रतीक दिये, उन सारे मूल्यो को एक बुनियाद देने के लिए और उन्हे आर्थिक क्रान्ति के साथ जोडने के लिए विनोबा ने एक नये आन्दोलन का उपक्रम इस देश मे किया, जिसे हम 'भूदान-यज्ञ-आन्दोलन' कहते है।

संस्कृतियों का एकीकरण

विनोबा कहते है कि उपासना-मन्दिर सबके लिए हो। ऐसा न हो कि हिन्दूमात्र के लिए हिन्दूमात्र का उपासना-मन्दिर हो और मुसलमान मात्र के लिए मुसलमानो का। भगवान् सबके है, तो जितने उपासना-मन्दिर है, वे सबके हो। तीर्थ-क्षेत्र भी जितने है, वे सबके हो। यानी सर्वधर्म-समन्वय, या सामजस्य से भी हम अब ऊपर जाकर मानव-मात्र के सारे धर्मों और सस्कृतियो के एकीकरण की ओर कदम बढा

रहे हैं। आज आर्थिक क्रांति की समस्या के समाधान के लिए जो प्रक्रिया हम अपना रहे है, उस प्रक्रिया से ही उन्होंने इसका आरम्भ कर दिया है।

इस प्रकार हमने देखा कि हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का पहला पहलू था—आधुनिक सस्कृति का स्वागत और सत्कारसहित राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन। राजा राममोहन राय इसके प्रतीक थे। इस समय ब्राह्म-समाज और प्रार्थना-समाज की स्थापना हुई। उसके वाद एक तरह से राष्ट्रीय स्वाभिमान का युग आया। इस युग मे वहुत लोग आये, लेकिन उसके प्रमुख प्रतीक के रूप में स्वामी दयानन्द सरस्वती का, आर्य-समाज का, हम उल्लेख कर सकते हैं। लेकिन इस विरोध में से घडी का लोलक जब दूसरी ओर अर्थात् राष्ट्रीय अहता की ओर वहुत झुक गया, तो फिर सामजस्य और विवेक के लिए किसी मध्यस्थ आन्दोलन की जरूरत हुई। यह थियासॉफिकल सोसाइटी के रूप में आया। लेकिन 'थियासॉफिकल' शब्द ही ऐसा था, जिसे पढे-लिखे लोगो के सिवा कोई समझ नही सकता था। तव एक परम साधक ने, परमहस रामकृष्ण देव ने, अपने जीवन में भिन्न-भिन्न धर्मो के अनुष्टान से उनकी एकता सिद्ध की। उन्होंने यह जो एकता अपने जीवन मे सिद्ध की, उसे राष्ट्रीय जीवन मे सिद्ध करने का प्रयास गाधी ने किया, और उसके आधार पर साम्प्रदायिक एकता की, सर्वधर्म-समन्वय की, नीव इस देश मे डाली। आज उन्ही सिद्धान्तो को आर्थिक क्षेत्र मे लागू करके विनोवा साम्प्रदायिक और धार्मिक सामजस्य की वुनियाद डाल रहे हैं। उनका कहना है कि आर्थिक क्षेत्र मे भी वे ही आध्यात्मिक सिद्धान्त लागू किये जाने चाहिए, जिन सिद्धान्तो को गाधीजी ने हमारे देश में पहली वार राजनैतिक क्षेत्र में लागू किया, क्योकि उस समय की समस्या ही राजनैतिक समस्या थी। गाधी ने आर्थिक क्षेत्र में उपक्रम किया, लेकिन आर्थिक क्षेत्र मे क्रान्ति के लिए उन्हें समय नही मिला। अपने जमाने की समस्या उन्होने हल की और उनका अवतार-कार्य समाप्त हो गया। इसलिए वहाँ से यह धागा यहाँ आया।

नि:शस्त्र प्रतिकार की दीक्षा

उधर राजनैतिक क्षेत्र मे एक आन्दोलन चल रहा था, जिसे 'सविधानात्मक आन्दोलन' कहते है, दूसरा 'सशस्त्र आन्दोलन' चल रहा था। जनता इनमें किसी प्रकार सीधा सहयोग नही दे सकती थी। जनता का पुरुपार्थ जाग्रत नही हो सकता था। इसलिए लोकमान्य तिलक ने, उनके साथियो ने, श्री अरविंद, विपिनचद्र पाल और लाला लाजपतराय ने मिलकर स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षण और वहिष्कार के रूप मे जनता को नि शस्त्र प्रतिकार की दीक्षा दी और गाधी ने उसे असहयोग, कानून-भग और सत्याग्रह के रूप मे शुद्ध वैज्ञानिक स्वरूप दिया। सत्याग्रह सहयोगात्मक प्रतिकार

है। इसलिए वह वैज्ञानिक और नैतिक दोनो है। इससे आगे सहयोगात्मक प्रतिकार का विकास करने के लिए हम आर्थिक क्षेत्र मे क्रान्ति मे सहयोग की प्रक्रिया से कहाँ तक काम ले सकते हैं, यह आकाक्षा हमारे देश में पैदा हुई और वर्ग-निराकरण की प्रक्रिया में सहयोगात्मक क्रान्ति कैसे हो सकती है, इसकी कोशिश शुरू हो गयी। जवाहरलालजी ने इसे 'सम्पत्तिमानो के सहयोग से क्रान्ति' कहा। ऐसी क्रान्ति दुनिया मे कभी सुनी नही गयी थी।

राजनीति और अर्थनीति में अहिंसा

इस तरह इस देश में दो प्रकार के प्रयास हुए। एक तो सास्कृतिक पुनर्जीवन और समन्वय के और दूसरे राजनैतिक और आर्थिक क्राति के। इनमे सामजस्य लाकर नैतिक मूल्यो का राजनैतिक क्षेत्र मे गोखले ने प्रयोग किया था। उनके लिए कहा गया है कि 'ये राजनीति मे पहले सज्जन व्यक्ति हैं।' क्यो? इसलिए कि 'ये राजनीति मे आध्यात्मिकता लाना चाहते है।' गाधीजी ने इस प्रयत्न को आगे बढाया और सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन मे अहिंसा का प्रवेश कराया। अब अध्यात्म को विज्ञान के साथ जोडने का प्रयत्न आज विनोबा का चल रहा है।* ●

---

* विचार-शिविर में २७-८-'५५ का प्रवचन।

भू-दान-यज्ञ नख-दर्पण में : १६ :

भूमि-दान किसलिए है ?

१. कृषि-प्रधान देश में समाज-परिवर्तन का आरम्भ जमीन की व्यवस्था के परिवर्तन से होता है।

२. आज जमाने का जैसा रुख है, उससे यह साफ है कि दुनियाभर में आगे की अर्थ-रचना अन्न-प्रधान और कृषि-प्रधान होनेवाली है।

३ जमीन केवल अन्न-उत्पादन का साधन नहीं है जमीन वसुधरा भी है। सारी खदानें जमीन में है, कच्चा माल और ईंधन आदि चीजे भी जमीन से ही मिलती हैं।

इसलिए क्रान्ति का आरम्भ जमीन से होगा। पहली बात, देश कृषि-प्रधान है। दूसरी बात, जमाने का रुख कृषि-प्रधान अर्थ-रचना की ओर है। तीसरी बात, भूमि वसुधरा है। इसलिए हमने भूमि से आरम्भ किया।

क्या हम एक से मालकियत लेकर दूसरे को मालकियत देना चाहते हैं ?

बिलकुल नहीं। हम मालकियत की बुनियादों को और उत्पादक की भूमिका को बदल देना चाहते हैं।

इसके लिए पहला कदम यह है कि हम उत्पादन के साधन उत्पादक के कब्जे में दे देना चाहते हैं। जोतनेवाले के कब्जे मे जमीन हो, गैर-जोतनेवाले के कब्जे मे जमीन न हो। उत्पादक की मालकियत की स्थापना हो अनुत्पादक की मालकियत का निराकरण हो। और अन्त में मालकियत का ही निराकरण हो। उत्पादन के साधन पर मालकियत किसीकी न रहे।

मालकियत की बुनियाद बदलने का अर्थ है—अनुत्पादक की मालकियत का निराकरण, उत्पादक की मालिकी की स्थापना। उत्पादक की भूमिका बदलने का मतलब यह है कि उत्पादक भी अपने को उत्पादन के साधनों का मालिक नहीं मानेगा, उनका समाजीकरण होगा। आरम्भ होगा भूमिदान से और परिसमाप्ति होगी ग्रामदान और ग्रामीकरण से।

सम्पत्ति-दान किसलिए ?

सम्पत्ति-दान है—सग्रह के निराकरण के लिए, जीविका के शुद्धीकरण के लिए और अनुत्पादक व्यवसायों के निराकरण के लिए।

१. सग्रह का विसर्जन,

२. जीविका का शुद्धीकरण, और

३ अनुत्पादक व्यवसायो का निराकरण।

सपत्ति-दान केवल इसलिए नही है कि एक करोड मे से आपने हमें पचास लाख दे दिये और हमने पचास लाख रख लिये। इसका मतलब सम्पत्ति-दान नही है। सम्पत्ति-दान में आपका यह सकल्प है कि जो रोजगार मै कर रहा हूँ, उस रोजगार का समाज से निराकरण चाहता हूँ। इस रोजगार में यदि मुझे गलत काम करने पडते हैं, तो उन्हें कम करता चला जाऊँगा। जीविका का शुद्धीकरण और सग्रह का विसर्जन उसका अर्थ है। 'विनोवा को छठा हिस्सा भी देता चला जाऊँगा और सम्पत्ति भी बढाता चला जाऊँगा', यह नही होगा। सग्रह का विसर्जन और अनुत्पादक व्यवसायो का निराकरण करना होगा।

अनुत्पादक व्यवसाय कितने प्रकार के हैं ?

अ—(१) व्याज पर चलनेवाले,

(२) किराये पर चलनेवाले,

(३) ठीकेदारी-दलाली पर चलनेवाले।

आ– (१) मनुष्यो के गुनाहो पर चलनेवाले,

(२) मनुष्यो की वीमारियो पर चलनेवाले, और

(३) मनुष्यो के व्यसनो पर चलनेवाले।

इन छह प्रकार के अनुत्पादक व्यवसायो का हम निराकरण करना चाहते हैं। यह सम्पत्ति-दान है।

श्रम-दान किसलिए है ?

मैंने दो सिद्धान्त आपके सामने रखे हैं। जो लोग श्रम नही करते, वे लोग श्रम की प्रतिष्ठा की स्थापना के लिए श्रम-दान करे। जो लोग श्रम करते है, वे भी वाजार से श्रम को उठा लेने के लिए श्रम-दान करें। श्रम विनिमय की वस्तु न रहे, श्रम विक्रय की वस्तु न रहे। इसलिए श्रम-दान हो। जिनके पास सपत्ति नही है और भूमि नही है, वे भी दाता वनें। वे दीन न रहे। उनके पास भी देने के लिए है और सवसे वड़ी सपत्ति है, वह श्रम-सपत्ति है, जो उत्पादन का प्रवान साधन है। वह जिसके पास है, उसीका दान वह करे। इस तरह समाज में वे भी प्रतिष्ठित नागरिक हो जाते हैं।

भूमिदान तलवार से क्यो नहीं ?

तलवार से होगा तो तलवार की ही सत्ता होगी।

भूदान कानून से क्यो नहीं ?

हमें लोगो को शातिपरायण तो बनाना है, लेकिन मुकदमेबाज नही बनाना है। लोग सत्ताभिमुख नही होगे। मुकदमेबाजी नही होनी चाहिए। दोनो दो बातें हैं। समाज में मुकदमेबाजी कम हो और शांति-परायणता नागरिको में बढे। इसलिए हम जितने सुधार करना चाहते हैं, वे कानून के विरोध मे नही है, लेकिन कानून-निरपेक्ष हैं। तलवार का विरोध है, कानून का विरोध नही।

प्रक्रिया कौन-सी हो ?

क्रांति मे भी, त्याग में भी, संपत्ति के विसर्जन मे भी नागरिको का पारस्परिक सहयोग, यानी परस्पर समर्पण वाछनीय है। यह दान की प्रक्रिया कहलाती है। दान की प्रक्रिया एक दाता और दूसरा आदाता, यह हमारी भूमिका नही है। सभी दानी, सभी लेनेवाले। इसलिए दान किसी व्यक्ति को नही होता, दान विनोबा को होता है, जिसे हम समाज का प्रतिनिधि मान लेते हैं।

वितरण कैसे करें ?

वितरण कोई व्यक्ति नही करता। दान के दिन से भूमि भूमिहीनो की हो जाती है। या तो वितरण भूमिहीनों के एकमत से हो या फिर चिट्ठी डालकर हो। वितरण एकमत मे भूमिहीन करें। भूमिहीन एकमत से वितरण करते हैं, तो भगवान् उनके मुंह में बैठ जाता है। यदि वे ऐसा नही कर सकते, तो अव्यक्त भगवान् ही उनका वितरण करे और जनता के दरबार मे ही करे—कोई पक्ष नही, कोई सरकार नही, विनोबा भी नही, क्योकि वह संपत्ति, वह मालकियत भगवान् की हो जाती है।

यह भूमि-वितरण की प्रक्रिया है।*

---

* विचार-शिविर में २७-८-'५५ का प्रवचन

भू-वितरण और उसकी समस्याएँ : १७ :

भू-वितरण में आर्थिक कठिनाइयाँ हैं। नियम है कि जो कठिनाइयो का सामना करेगा, उसकी वुद्धि और शक्ति वढेगी। भूदान-यज्ञ जहाँ एक समस्या का हल करता है, वहाँ कई नयी समस्याएँ खडी करता है। वह वहाँ ऐसी समस्याएँ खडी करता है, जिन समस्याओ से दाता की ताकत वढती है, आदाता की ताकत वढती है, कार्यकर्ता की ताकत वढती है और गाँव की ताकत वढती है। समस्याएँ समाप्त हो जाने से हमारा जीवन समाप्त हो जायगा।

जोतनेवालों की मालकियत

मालकियत की भावना का जो प्रश्न है, वह मूलभूत प्रश्न है। उसमें एक वुनियादी वात यह है कि हम पहले मालकियत की वुनियाद को वदल देते हैं। भूमिदान-यज्ञ-आदोलन मे शुरू में हम पहला काम यह करते है कि आज जो मालकियत की वुनियाद है, उसे हम वदलते हैं। आज खरीदनेवालो की मालकियत हो जाती है, छीननेवालो की मालकियत हो जाती है। उसके वदले हम जोतनेवालो की मालकियत कायम करते हैं। यह पहला कदम है।

उत्पादन की भूमिका में क्रान्ति

भूदान उत्पादक की भूमिका ही वदल देता है। आज उत्पादक अपना परिश्रम वेचता है। हम यह चाहते हैं कि परिश्रम समाज मे वेचने की चीज न रहे। हमारे कच्छ के एक मित्र ने कहा कि आज वे द्विधा मे पड जाते हैं। एक तरफ मजदूर हैं, दूसरी तरफ किसान है। किसानी करता है, तो मजदूरी मे जो ज्यादा पैसा मिलता है, वह चला जाता है। मजदूरी करता है, तो मजदूरी अपने हाथ की है नहीं। एक चीज अपने हाथ की नही है, जिससे ज्यादा दाम मिलते है। दूसरी चीज अपने हाथ की है, उससे ज्यादा दाम नही मिलते। आज गाँव मे मजदूरी वेचने की जो परिस्थिति है, उसीको हम वदल देना चाहते हैं। वहाँ किसीको अपनी मेहनत वेचने की जरूरत न हो। किसान मे और मजदूर मे सवसे पहले इस भावना का विकास होना चाहिए कि आज मुझे मेहनत वेचनी पडती है, कल अपनी मेहनत का मैं मालिक वनूँगा। मुझे वह नीलाम मे नही वेचनी पडेगी। यह परिस्थिति पैदा करने के लिए हम पहले उसे 'मालिक' वना देते हैं। मालिक वनाने के वाद आज मजदूर और किसान, दोनो में जो संघर्ष है, वह समाप्त हो जाता है। मजदूर चाहता है अन्न सस्ता हो, किसान चाहता है अन्न

महँगा हो । केवल अमीर-गरीब में ही लडाई नही है । पूंजीवाद में गरीब-गरीब मे भी सघर्ष रहता है । यह जो स्वार्थों का सघर्ष है, इसे समाप्त करने के लिए हम यह कदम उठाना चाहते हैं कि कम-से-कम देहातो में, हर रोजगारी अपने औजारो का मालिक हो और हर जमीन जोतनेवाला अपनी जमीन का मालिक हो ।

दान होते ही भूमिहीनों का स्वत्व

वितरण की बुनियादी चीज यह है कि जिस दिन जमीन दान में मिल गयी, उसी दिन वह भूमिहीनो की हो गयी । वह फिर न समिति की है, न सरकार की , न विनोबा की है, न उस गाँव की है । वह जमीन सबसे पहले भूमिहीनो की होती है । किसी एक भूमिहीन की नही, गाँव के सभी भूमिहीनो की है । जब गाँव के सब भूमिहीन मिलकर निर्णय करते है कि किन भूमिहीनो को वह दी जाय, तो मालकियत का वितरण भी हो जाता है और मालकियत की भावना का इसी प्रक्रिया से निराकरण भी शुरू हो जाता है । कारण, इसमें भूमिहीनो को अपना अधिकार छोडना पड़ता है ।

जनतात्मा का साक्षात्कार

हमने यदि जनतात्मा और लोकात्मा का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कही किया है, तो वह वितरण की प्रक्रिया मे ही किया है । वह गरीब आदमी, जिसके पास कुछ भी देने को नही है, सब-कुछ लेने के लिए तैयार है ।

मेरे एक मित्र ने कहा कि ऐसी हालत में वे एक-दूसरे का खून करने के लिए उतारू हो जाते हैं । ऐसे जो गरीब आदमी हैं, उनमें हम सबसे पहले त्याग की भावना पैदा कर देना चाहते हैं । आज तक की क्रातियो में क्या हुआ ? जिनके पास है, उनसे ले लो, और जिस तरीके से हो सके, उस तरीके से ले लो । यानी आज तक गरीबो के दिल में सिर्फ लेने की भावना पैदा हुई थी । देने की भावना पैदा नही हुई थी । मालकियत के विसर्जन की भावना यदि अमीर के हृदय में पैदा करनी है, तो आगे चलकर मालकियत का विसर्जन मुझे भी करना है, यह भावना आज ही गरीब के दिल मे पैदा करनी होगी । इसलिए वितरण की प्रक्रिया में हम अधिक-से-अधिक कोशिश यह करते है कि चिट्ठी डालने का मौका न आये । वोट की चिट्ठी से लोकशाही पैदा नही होती । जनतात्मा का साक्षात्कार चिट्ठी से नही होता । वह लोगो की आत्म-विसर्जन की प्रक्रिया से होता है । इसलिए कोशिश यह होनी चाहिए कि वितरण के समय जहाँ तक हो सके, अधिक-से-अधिक लोग अपने स्वामित्व का विसर्जन करें ।

सरकारी जमीन का प्रश्न

यह भी कहा गया था कि राज्य की जो जमीन है, वह वितरण के लिए समिति को सौंप दी जाय । समिति अपना ही वितरण नही कर पा रही है, और बोझ कहाँ से

ले ले ? हम मिट्टी लादनेवाले नही बनना चाहते है । राज्य के पास जो जमीन है, वह दान मे नही मिली है । वह जमीन राज्य ने कानून से ले ली है । उस जमीन में जिनकी जमीन शामिल है, उनकी नियत अब तक उसके साथ चिपकी हुई है । ऐसी जमीन यदि हम बाँटेंगे, तो सिर्फ बँटवारे का काम, सिर्फ मेहनत करने का काम, हमारे हाथ में आ जायेगा । जो सद्‍भावना हम पैदा करना चाहते है, वह उसमें से पैदा नही होती । बाँटने मे बहुत मेहनत करनी पड़ती है । इसलिए यह जिम्मेवारी हम नही ले सकते ।

पारस्परिक विश्वास की प्रक्रिया

एक मित्र ने कहा कि "जमीन के लिए तो आज मारपीट होती है, खून होते है ।" हम मानते है कि ऐसा होता है, पर वह इसलिए होता है कि बीच में कानून आ जाता है । आदमी और आदमी के बीच कानून तभी आता है, जब आदमी आदमी का भरोसा नही कर सकता । अपने भाई पर मेरा भरोसा नही होता, तब हम दोनो बँटवारे का दस्तावेज बना लेते है । पर वह दस्तावेज अपनी जगह रह जाता है और भाई के साथ मेरी मारपीट हो जाती है ! भूदान-यज्ञ की प्रक्रिया लोगो मे परस्पर विश्वास पैदा करने की प्रक्रिया है । न तो कानून इसका इलाज है और न पुलिस और फौज ही । एक नागरिक के मन में दूसरे नागरिक के लिए विश्वास पैदा करना ही सबसे बड़ी बात है और इसका प्रारम्भ हम जमीन से कर रहे है ।

प्रश्न है कि जिन्होने पहले किसी कारण से खेती छोड दी हो और अब वे फिर खेती पर लौटना चाहते हो, तो क्या उन्हे हम खेती न करने दें ? आप उन्हें अवश्य जमीन दें, लेकिन यह बात भी आप भूमिहीनो से शुरू करे । आज जो जमीन जोत रहा है और मालिक नही है, वह उसका सबसे पहला अधिकारी है । इन भूमिहीनो को यदि यह बात समझायेंगे कि यह भी किसान बनना चाहता है, इसे भी शामिल कर लो, तो हमारा अनुभव यह है कि वे उसे भी अपने मे शामिल कर लेंगे । ऐसा यदि उन्हीकी सम्मति से होगा, तो गाँव में सहयोग बढेगा ।

सहयोगी खेती का प्रश्न

एक मित्र ने यह सुझाया कि भूमि-वितरण के साथ सहयोगी खेती का भी आरम्भ होना चाहिए । उन्होने रूस और चीन का उदाहरण भी बतलाया । रूस और चीन में सहयोगी खेती सफल नही हो सकी, इसका मुख्य कारण यह था कि वह सहयोगी स्वयस्फूर्त नही था । सहयोग अपनी प्रेरणा से होना चाहिए । सहयोगी खेती का मूल तत्त्व यह है कि वह स्वेच्छा से होनी चाहिए । कानून से जो सहयोगी खेती होती है, उसका सहयोग केवल कागज पर रह जाता है । सहयोग के लिए सहयोग की भावना

पैदा होनी चाहिए। इसलिए अब रूस के बाद जितने कम्युनिस्ट देश हैं, उन सबने यह नियम बना लिया है कि हमारे यहाँ वही सहयोगी खेती होगी, जहाँ स्वयप्रेरणा है। जहाँ स्वयप्रेरणा नही है, वहाँ सहयोगी खेती केवल औपचारिक हो जाती है। रूस और चीन की क्रांति से हम यह सबक सीख सकते हैं।

जोतनेवाले से भी दान

जो लोग जमीन जोतते है, उन लोगो में झगडा न हो। भूमिदान का मूल सिद्धान्त यह है कि जो जोतता है, उसीको जमीन मिले, और मालिक वह रहे। यहाँ से भूमिदान शुरू होता है। पर आगे चलकर हम कहते है कि जो जोतता है, वह भी सारी जमीन न रखे, वह भी अधिक जमीन न रखे, वह भी आगे चलकर मालकियत का विसर्जन कर दे। इसलिए हम जोतनेवाले से भी दान लेते है। सिर्फ गैर-जोतनेवाले से ही दान लेते होते, तो बात अलग थी। हम जमीन जोतनेवाले से भी दान लेते हैं।

काम टालने की मनोवृत्ति

एक आपत्ति यह उठायी गयी थी कि जो जमीन जोतते है, उनमें भी काम न करने की वृत्ति है।

ऐसा क्यो ? पूंजीवाद का आरभ मुनाफे से होता है। पूंजीवाद का उत्कर्ष सट्टेबाजी में होता है और पूंजीवाद का परिपाक जूआखोरी में होता है। इसका मूल सूत्र यह है कि बगैर काम के दाम जो पाता है, वह सबसे होशियार समझा जाता है। तो जब तक समाज में यह परिस्थिति है, यह सदर्भ है, तब तक हर काम करनेवाले में काम टालने की मनोवृत्ति रहेगी। इसलिए हम श्रम न करनेवालो से श्रम करने को कहते हैं। गाँव में जमीन के वितरण के समय यदि प्रदेश के राजस्वमत्री भूमिहीन को मिले खेत में जाकर पहली कुदाली चलायें और गाँव के प्रतिष्ठित लोग, जिन्होने आज तक कभी कुदाली हाथ में नही ली है, वे भी एक जुलूस निकालकर उस गरीब आदमी के खेत में एक-एक कुदाली चला दें, तो आज श्रम के प्रति जो अरुचि है, वह अरुचि कम हो जायगी। उनका तो यह कर्म साकेतिक ही होगा, लेकिन उनके साकेतिक कर्म से श्रम के प्रति जो अरुचि है, वह अरुचि कम होती चली जायगी।

नालायकों को जमीन क्यों ?

लोग कहते है कि नालायक लोगो को जमीन क्यो देते हो ? हम इन्हें जमीन तो देते हैं, लेकिन इनका हक मर्यादित कर देते है। इसलिए इनकी नालायकी की प्रक्रिया भी थोड़ी-बहुत मर्यादित हो जाती है। सोचने की बात है कि अब तक कौन-से लायको के पास जमीन थी ? उन लोगो ने तो जमीन जोती भी नही, वे तो सिर्फ बेचते ही रहे। जमीन के बचनेवालो को हमने लायक कभी नही माना है। उन्होने जो उत्पादन किया,

वह सिर्फ मुनाफे के लिए किया। उन्हे क्या हम ज्यादा लायक मानेंगे ? जो जोतता है, उसमे आज लियाकत नही है, इसका मुख्य कारण यह है कि उसका रोजगार समाज में हमेशा अप्रतिष्ठित रहा। दूसरा कारण यह है कि और सब लोगो के सामने प्रतिकार के लिए एक-न-एक साधन था, किसान के जीवन मे ही प्रतिकार का कोई साधन नही था। मजदूर हडताल कर सकता है, मुन्शी हडताल कर सकता है, वकील हडताल कर सकते हैं, डाक्टर हडताल कर सकते हैं, पर क्या गरीब किसान की हड़ताल हो सकती है ? वह यदि हडताल करेगा तो खुद मरेगा। इसलिए उसके जीवन के, उसकी क्राति के नियम ही दूसरे की क्राति से कुछ भिन्न हो जाते हैं। आज जो किसान इस प्रकार से असहाय और हताश हो गया था, उसके जीवन में क्राति करनी है। इसलिए भू-दान की प्रक्रिया का आरभ जोतनेवाले से होता है, लेकिन जोतनेवाले में भी मालकियत की भावना जड न पकडे, इसलिए इसकी सावधानी हम रखते हैं। जो कामचोर है, काम टालनेवाला है, वह ज्यादा दिन तक अपने हाथ मे खेती न रख सके, इसकी भी सावधानी इसमें रखी गयी है। मनुष्य जितनी सावधानी रख सकता था, उतनी सावधानी इस योजना में है, किन्तु अन्तत यह मनुष्य की ही योजना है, इसलिए प्रमाद-सुलभ भी है। और तभी तो पुरुषार्थ के लिए अवसर है।

वितरण की तीन मुख्य बातें

वितरण में तीन बातें बडे महत्त्व की हैं .

पहली बात . जिस जमीन का वितरण होता है, वह गाँव मे भूमिहीनो की हो गयी है।

दूसरी बात . वह जमीन जिन भूमिहीनो की हो गयी है, उन्हीको वितरण मे निर्णय करना है। वह भी बहुमत से नही, एकमत से। इसमे हम बहुमत किसीका नही लेते।

तीसरी बात जहाँ निर्णायको का बहुमत नही होता, वहाँ हम चिट्ठियाँ तो डालते हैं लेकिन चिट्ठियाँ डालना हमारा आपद्धर्म है। हमारा मुख्य धर्म यह है कि सबके सब भूमिहीन इस प्रक्रिया में स्वामित्व-विसर्जन का कदम भी उठाना शुरू कर दें।*

---

* विचार-शिविर में २८-८-'५५ का प्रात.-प्रवचन।

अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया : १८ :

सबसे पहली बात यह है कि हमारे विचारो मे सकीर्णता न हो, हमारे व्यवहार में संकुचितता न हो। विचार के नाम पर कही हम लोग सम्प्रदाय में न डूब जायें।

विचार अपौरुषेय है

विचार का सबसे बडा लक्षण ही यह है कि उसमें निष्ठा होनी चाहिए, लेकिन हमारी अहता उससे मिली हुई न हो। मैंने विचार को अपना लिया, इसलिए विचार कुछ हद तक मेरा अवश्य है, लेकिन विचार विचार है, विचार न मेरा है, न तेरा है। किसी मनुष्य का नही है। विचार व्यापक होता है, जैसे आकाश व्यापक होता है। हम विचार को, सद्विचार को, अपौरुषेय ही मानते हैं।

चित्रकला मे मॉडल खीचने के लिए लडके बैठते है। सामने बैठा हुआ लड़का एक आडी लकीर और कई खडी लकीरें खीचकर कहता है, "मैंने मेज का चित्र बनाया।" दूसरा लडका एक कोण खीचकर कहता है, "मेरा भी चित्र मेज का चित्र है।" सबके चित्र सही हैं, लेकिन किसीका चित्र सम्पूर्ण नही है। इसीमें से हमारे दिल में नम्रता आ जाती है।

विचार सत्यनिष्ठ होना चाहिए—पक्षनिष्ठ नही। विचार की व्यापकता सत्य-निष्ठा पर होती है। सत्य का जितना दर्शन मनुष्य को होता है, उसे वह अपने जीवन में उतारने की कोशिश करता है। उससे उसकी भूमिका उन्नत होती चली जाती है। आचार की भूमिका जितनी उन्नत होती है, विचार का दर्शन उतना ही व्याकक होता है। जो आदमी एक मेज पर खडा है, वह यह सभा देख सकता है। छत पर खडा हो जाय, तो सारा आश्रम देखेगा। मीनार पर खडा हो जाय, तो पूरा अहमदाबाद देखेगा। गौरीशकर शिखर पर खडा हो जाय, तो क्षितिजव्यापी दर्शन हो जाता है।

भूदान की व्यापक भूमिका

हमे यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि भूदान का व्यासपीठ केवल एक सर्वपक्षीय मच नही है, उसकी भूमिका अधिक व्यापक है। जो कम्युनिस्ट भाई यह मानते हैं कि इस देश में अब तानाशाही नही चल सकती, चीन और रूस की क्राति के बाद अब क्रान्ति की प्रक्रिया में परिवर्तन हो रहा है, और जिस देश में गाधी की प्रक्रिया से आजादी प्राप्त की गयी, उस देश मे क्राति की आर्थिक प्रक्रिया में भी गाधी की ही प्रक्रिया से काम

लेना होगा, उनका स्वागत है। क्राति की प्रक्रिया में भी क्राति करनी होगी, इस मुकाम पर आज सारी दुनिया पहुँची है, क्योंकि आज अमेरिका और रूस, दोनो ही सह-अवस्थान की बात कर रहे हैं। जवाहरलाल नेहरू जैसे राज्य-पुरुष का रुतबा ससार मे बढ रहा है। नि शस्त्रीकरण के आयोजन हो रहे है। हमारी घारणा है कि अतर्राष्ट्रीय और जागतिक सदर्भ मे, अतर्गत मामलो के समाधान के लिए, गाधी की प्रक्रिया के सिवा दूसरी प्रक्रिया हो ही नही सकती। इसलिए जो-जो हमारे साथ क्राति के विचारो को मानने के लिए तैयार है, उन सबका यहाँ स्वागत है। भूमिदान-यज्ञ-आन्दोलन काग्रेस का भी है, प्रजा-समाजवादियो का भी है, कम्युनिस्टो का भी है, जो-जो उसे अपना मानेगे, उन सबका है। इसकी भूमिका को हम अहता से ऊपर उठा देना चाहते है। जो-जो उसमें आकर काम करना चाहे, उन सबके साथ सहयोग है। 'समत्वं योग उच्यते', 'योगः कर्मसु कौशलम्'। अमीरी और गरीबी के निराकरण के विषय में सबकी समान आकाक्षा है। उस समानता का हम सग्रह करेंगे और ऐसी कुशलता की चेष्टा करेंगे कि हमारी निष्ठा में बाधा न आये और हमारा साधन शुद्ध रहे। क्रान्ति में खतरा होता है, इसलिए कुशलता की भी आवश्यकता होती है।

लोकशाही की जड़ें दृढ़ करना आवश्यक

रेंगलर पराजपे पुराने जमाने के एक महान् बुद्धिवादी नेता है। लोकमान्य तिलक के बारे में गोखले की जीवनी लिखते हुए उन्होने लोकमान्य तिलक पर एकागिता का आरोप करते हुए लिखा कि कितने ही मामलो में मतभेद हो सकता है, लेकिन मतो की समानता भी कुछ मामलो मे हो सकती है। यह बात लोकमान्य नें नही सीखी। हमको इस देश मे लोकशाही की नीव मजबूत करनी है, लोकशाही की बुनियादें पक्की और व्यापक बनानी हैं, इसलिए इस देश मे विचार का स्वातन्त्र्य होगा और आचार मे भी जब तक वह दूसरे के विचार-आचार में बाधक नही होता, तब तक स्वतत्रता होगी। इस ओर हम जनता को ले जाना चाहते हैं। जिन-जिनको लोकशाही की बुनियादे व्यापक और पुख्ता बनानी है, उनमें एक समानता है कि हमें सैनिकता की ओर से नागरिकता की ओर कदम बढाना है। हमें सिपाहियत और शराफत को मिला देना है।

लोकशाही की गुणात्मक आधार-शिलाएँ

अस्पृश्यता का कानून बना हुआ है। शराबबन्दी का कानून हो गया। कोई भी सरकार इससे अधिक कुछ नही कर सकती। पर समस्या यही है कि कानून का अमल नही होता है। कुछ बुद्धिमान् लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि कानून ही लौटा लो।

मानो कोई गलत काम कर लिया हो। पहले कानून की माँग हुई, तब कानून बना। पर अब कहते हैं कि सारे देश में चोरी से शराब बन रही है। अस्पृश्यता-निवारण का कानून बन गया है, लेकिन अस्पृश्यो मे हिम्मत नही है, सवर्णों में उदारता नही है। पर सोचने की बात है कि यह भावरूप मूल्य भला कौन-सा कानून पैदा कर सकेगा? वह कौन-सा कानून है, जो लोकशाही की ये गुणात्मक आधार-शिलाएँ पैदा कर सकेगा? कानून का अधिष्ठान हमेशा कानून से बाहर का होता है। हम यह चाहते हैं कि इस देश मे भी जो लोग लोकशाही के पक्षपाती हैं, फिर वे किसी भी पार्टी के क्यो न हो, उन सबको मिलकर इस लोकशाही का सरक्षण करना चाहिए। हम २००० वर्षों के बाद बडी मुश्किल से एक तपस्वी की पुण्याई और भगवान् की कृपा से इस देश में इस लोकशाही की स्थापना कर सके है। आज सत्ता जिनके हाथ में है, वे सत्ता का प्रयोग कम-से-कम करना चाहते हैं। उन्हें दड का प्रयोग करने का शौक नही है। फिर भी बाहर नि शस्त्रीकरण की बात हो और इस देश में कभी लाठी चलानी पडे, कभी गोली चलानी पडे, क्या इसकी जिम्मेवारी आप पर और मुझ पर कुछ नही आती? इसके लिए नागरिको में एक अहिंसक भूमिका का निर्माण करना क्या आपका और मेरा कर्तव्य नही है? यह एक जिम्मेवारी का काम हमें अपने सामने रखना चाहिए।

साधन-शुद्धि का आग्रह

मुरारजीभाई ने कहा है कि हम सिद्धिपूजक न बनें, सफलता के कायल न बनें। हम सफलता की तैयारी करें, पर असफलता के लिए हमेशा तैयार रहें। इसका मतलब यह नही है कि हम सयोजन ही असफलता का करेगे। सयोजन सफलता का करेंगे, लेकिन सफलता के लिए अपने साधनो की बलि नही देंगे। हम जो सयोजन करेंगे, वह सफलता के लिए करेंगे, पर असफलता के लिए तैयार रहेंगे।

हमारा आग्रह साधन-शुद्धि का हो, सफलता का न हो। सावधानी की यह चेतावनी हमें नम्रतापूर्वक स्वीकार करनी चाहिए। विचार हमारा व्यापक हो, भूमिका हमारी सग्राहक हो, अनाग्रह की हो, वृत्ति में अहता न हो, लेकिन साधनो में शुद्धि का आग्रह हो। कारण, इस देश में जिस लोकराज्य की स्थापना हुई है, उस लोकराज्य को हमें लोक-स्वामित्व मे परिणत करना है। लोगो में जितनी स्वयप्रेरणा और स्वयकर्तृत्व हम बढा सकेंगे, उतना ही लोकराज्य को लोक-स्वामित्व मे परिणत करने की दिशा में हमारा कदम आगे बढता चला जायगा।

हृदय-परिवर्तन की क्रान्ति

हम सबको सबसे पहले अपनी तरफ देखना है। एक बार गाधी-सेवा-संघ की सभा मे हम सब लोग बैठे हुए थे। हम सबने गाधी से पूछा कि "समाजवादी, साम्यवादी और आपमें क्या फर्क है?" उन्होने उत्तर दिया कि "इनका सबसे ज्यादा

जोर वस्तु-परिवर्तन पर है, मेरा सबसे ज्यादा जोर व्यक्ति-परिवर्तन पर। इसलिए मेरी क्रान्ति व्यक्तिगत आचरण का भी विषय है।" हृदय-परिवर्तन का प्रारम्भ अपने से होता है। हम सबको दूसरे के हृदय-परिवर्तन की चिन्ता है, पर हमारे अपने हृदय का कही पता ही नही है! या तो हमने समझ लिया है कि हमारा हृदय पहले ही शुद्ध होकर गंगाजल बन गया है। अत हम सब पहले अपने से पूछे कि स्वामित्व और सम्पत्ति की भावना का निराकरण हमारे हृदय से कहाँ तक हुआ है। यह गाधी की प्रक्रिया की विशेषता है।

गांधी की प्रक्रिया

एक बार मुझ पर राजद्रोह का मुकदमा चला। मजिस्ट्रेट मुझे जानता था, इसलिए कहने लगा कि "जेल तो तू चला जाता है, मुझे मालूम है। इसलिए मैंने यह तय किया है कि तुझे जुर्माना ही करूँगा, जेल नही भेजूँगा।" यह सुनकर दिल मे धक्का तो जरूर लगा। मैं कुछ घबराया भी। पर डरकर तो काम चल नही सकता था। मैंने कहा, "कीजिये जुर्माना! धमकाते क्यो हैं?"

मेरी कलाई पर एक सोने की घडी थी। उस पर उसकी दृष्टि पडी। मैंने सोचा, यह इस घडी की कीमत का तो कम-से-कम जुर्माना करेगा ही। यह बात मुझसे कैसे सही जा सकती थी? मैंने चुपके से एक वकील मित्र के हाथो घडी घर भिजवा दी। पता नही कैसे उस बूढे (बापू) को इस बात का पता चल गया, वह जो नित्य जागृत था। मुझे बुलाकर उसने कहा कि "तूने चोरी की है!"

मैंने कहा, "बापू, इसमे चोरी कैसी? मेरी घडी थी, मैंने घर भेज दी।"

बोले, "तेरी थी, तो कलाई पर ही क्यो नही रखी? घर क्यो भेज दी? इसीलिए न कि तुझे पता चल गया था कि वह तेरी रहनेवाली नही है?"

बापू की यह बात तो ऐसी थी कि दिल में गड गयी। मैंने पूछा, "अब क्या करना होगा?"

बोले, "तुझे खुद जाकर वह जुर्माना दे आना है। पहले सरकार तुझसे वसूल करती; अब उल्टा होगा, तुझे स्वय जाकर अदा करना होगा।"

ऐसी उल्टी बात बापू हमेशा करते थे। हमने कहा, "सरकार को तो मजा ही है, हम जुर्माना देते चले जायँगे, वह जुर्माना करती चली जायगी।"

हम अहिंसा की प्रक्रिया को नही समझते। हमने यह नही समझा था कि उस व्यक्ति के शब्दो में कितनी शक्ति है। जुर्माना हमने दे दिया। एक व्यक्ति को दस बार जुर्माना हुआ। सरकार समझ गयी कि "जैसे जेल से ये लोग नही घबराते थे, वैसे ही जुर्माने से भी ये लोग नही घबराते हैं।"

हमें सोचना है कि क्या वह भावना अब तक हमारी बनी हुई है ? क्या हमने अपने हृदय से सपत्ति और स्वामित्व का निराकरण कर दिया है ? बिहार में मुझसे विद्यार्थियो ने पूछा कि "दौलत तो बाप की है, मालकियत उनके पास है। ऐसी स्थिति में हम क्या करें ?" मने कहा कि "तुम पहले पिताजी से कहो कि हमारे लिए कुछ मत रखिये। सारी सपत्ति दे दीजिये। पिताजी यदि न मानें, तो कह दीजिये कि आज से मैंने आपकी सपत्ति पर से अपना अधिकार छोड दिया है।"

जीवन में क्रान्ति कैसे हो ?

व्यक्तिगत जीवन में क्रान्ति कैसे हो सकती है ? साबित आदमी होगा, तो साबित दुनिया बनेगी। अहिंसक प्रक्रिया में क्राति का साध्य भी मनुष्य है और क्रान्ति का साधन भी मनुष्य है। साबित दुनिया यदि बनानी है तो साबित आदमियो की जरूरत होगी और साबित इन्सानियत का आरभ अपने से होगा। हरएक की जैसी दृष्टि होती है, वैसा ही दुनिया का नक्शा वह बना लेता है। हमारा व्यक्तित्व जैसा होगा, वैसा ही दुनिया का नक्शा हम बनायेंगे। इसे 'चारित्र्य' कहते हैं। इस चारित्र्य की मर्यादाएँ हम लोगो ने देखी।

हमारे बचपन में मास्टर साहब एक खेल खेलाते थे। दुनिया का एक नक्शा कार्ड-बोर्ड के टुकडो का बनाया हुआ था। मास्टर साहब खुद टुकडो को इकट्ठा करके नक्शा जमा देते थे और फिर कहते थे, "लडको, देख लो, याद रखो, बाद में तुम्हें अपनी स्मृति से इसे जमाना होगा।" लडके उसे देख लेते थे, लेकिन सब ठहरे एक-से-एक बृहस्पति। इसलिए वह याद तो रहता नही था। तो कभी आस्ट्रेलिया को उठाकर अफ्रीका के नीचे रख देते थे, कामश्चाटका को उठाकर मेडागास्कर की जगह रख देते थे। इस तरह की गलतियाँ किया करते। एक बडा चतुर लडका था। उसे गाधी या विनोबा कह लीजिये। उसने गत्ते का एक टुकडा उलट कर देखा, तो मनुष्य की आकृति का एक अवयव उस पर बना हुआ था। वह ताड गया कि एक तरफ मनुष्य की आकृति और दूसरी तरफ दुनिया का नक्शा बना हुआ है। उसने सारे टुकडे उलट दिये, मनुष्य को जमाना शुरू कर दिया, मनुष्य जम गया, दुनिया जम गयी। यही हमारी क्राति की प्रक्रिया है।*

* विचार-शिविर में २८-८-'५५ का उपसंहारात्मक प्रवचन।

सर्वोदय के सांस्कृतिक आधार (१) :१९:

सर्वोदय का आधार और सर्वोदय का स्वरूप सास्कृतिक है। हमारी समस्या सांस्कृतिक समस्या है। इसमे नैतिकता का भी समावेश है। असल में आज हमारे सामने जो समस्या है, वह मूल्यो की समस्या उतनी नही है, जितनी कि साधन की समस्या है। क्राति की समस्या वस्तुत. साधन की समस्या है। हम क्या चाहते हैं, कैसी दुनिया चाहते है, इसके बारे मे बहुत ज्यादा मतभेद नही है। जितने भी मतभेद है, वे केवल ऊपर-ऊपर के है। जिस दिन हम नैतिक और मानवीय मूल्यो के आधार पर समाज की रचना करने लगेंगे, उस दिन हमें पता चलेगा कि हमारे सारे मतभेद विलीन हो जाते हैं। असल में जो मतभेद है, वे साधनो के मतभेद हैं।

मूर्खस्य नास्ति औषधम् !

संस्कृत का सुभाषित कहता है कि मूर्खस्य नास्ति औषधम्'---मूर्ख के लिए कोई दवा नही है। यहाँ पर आकर मनुष्य कुंठित हो गया है। जिसने यह कह दिया कि मूर्ख के लिए दवा नही है, उसने यह भी मान लिया कि बुद्धि की सत्ता सामाजिक सत्ता नही है। मूर्खता को जिसने असाध्य मान लिया, उसने यह मान लिया कि 'मत-परिवर्तन' से, समझाने-बुझाने से, विचार के प्रयोग से, क्रान्ति नही हो सकती। क्रान्ति यदि होगी, तो चमत्कार के प्रयोग से ही होगी। मै भी एक हृदयवान् व्यक्ति हूँ और भगवान् ने मुझे पर्याप्त भावना-सपन्न हृदय दिया है। जब मैं कोई पराक्रम की, पुरुषार्थ की, अतुलित उदात्त अकर्तृत्व की आख्यायिका सुनता हूँ, तो मेरा हृदय भी उमड पडता है, लेकिन इससे मुझमें क्रिया-प्रवृत्ति जाग्रत नही होती। उसके जाग्रत न होने का मुख्य कारण यह है कि भूदान-यज्ञ-आन्दोलन की ओर उसकी चमत्कार की सम्भावनाओ की दृष्टि से मैंने नही देखा है। मैंने यह माना और समझा है कि आज के ससार, समाज और जीवन की जो समस्या है, उसके लिए भूदान-यज्ञ की प्रक्रिया के सिवा दूसरी कोई प्रक्रिया है ही नही। मै इस परिणाम पर पहुँचा हूँ। यदि आप भी पहुँच जायँ, तो शायद आप भी चमत्कार करने लगेंगे और दूसरो के चमत्कार से प्रेरणा लेने की आपको जरूरत नही होगी। लेकिन आपकी बुद्धि मे यह चीज आ जानी चाहिए और आपको यह मान लेना चाहिए कि मूर्खता के लिए दुनिया मे औषधि है। उसका निराकरण मन्त्र-प्रयोग से नही होता, दवा-दारू से नही होता, दण्ड-प्रयोग से नही होता। फिर भी उसका निराकरण होता है और मनुष्य उसका निराकरण कर सकता है। दुष्टता का और मूर्खता का निराकरण सम्भव है और उसका निराकरण करने की प्रक्रिया मानवीय

प्रक्रिया है। मानवीय प्रक्रिया से मेरा मतलब बौद्धिक प्रक्रिया या बुद्धि की प्रक्रिया है।

पढे-लिखे लोग एक दलील अवश्य पेश करते हैं कि बुद्धि के प्रयोग से काम नही होता। वे कहते है कि समाज का परिवर्तन बुद्धि के प्रयोग से नही होता। जो यह कहता है, वह सास्कृतिक प्रक्रिया को स्वीकार ही नही करता। 'सास्कृतिक मूल्यो की स्थापना के साधन भी सास्कृतिक होने चाहिए'—यह उसने नही माना है। दुनियाभर के क्रान्तिकारियो ने यदि सबसे पहले कोई बात मानी है, तो वह यही कि क्रान्ति का साधन क्रान्ति के मूल्यो के अनुरूप होना चाहिए। सबसे पहले यह बात मार्क्स ने कही, इसलिए उसे 'वैज्ञानिक क्रान्तिकारी' कहते हैं। क्रान्ति की कला, क्रान्ति के विज्ञान और क्रान्ति के शास्त्र का आद्यप्रवर्तक मार्क्स है। इसीलिए आज दुनिया में उसकी सत्ता है। मार्क्स का युग समाप्त नही हुआ है। मार्क्सवादियो का युग समाप्त हो गया है। लेकिन मार्क्स की सत्ता दुनिया मे इस दृष्टि से बढ रही है कि उसने यह कहा कि सम्पूर्ण क्रान्ति-विज्ञान में साधन का विचार करना होता है। और साधन ऐसे होने चाहिए, जो क्रान्ति के साक्षात् हेतु हो यानी जिनमे से क्रान्ति अपने-आप परिणत हो जाती है। हमारी समस्या यदि सास्कृतिक है, तो उसका समाधान भी सास्कृतिक साधनो से होना चाहिए।

विज्ञान और राजनीति

आज के युग में बुद्धि की सत्ता की आवश्यकता है। रावण के राज्य का वर्णन करते हुए पुराणकार लिखता है कि सभी देवता रावण के पलग के पायो के नीचे दबे रहते थे। आज दुनियाभर के वैज्ञानिक, राजनीतिक सत्ताधीशो के पलग के पायो के नीचे दबे रहते हैं। आइन्स्टीन हिटलर के जर्मनी मे नही रह सका। यह सिद्धान्त कि मनुष्य में आनुवशिक सस्कार जन्म के साथ आते हैं, रूस में नही सिखाया जा सकता। रूस का कोई वैज्ञानिक उसका प्रतिपादन नही कर सकता। जितने भी वैज्ञानिक हैं, वे सत्ताधारियो के पलग के पायो के नीचे दबे हुए हैं। 'बलं वा विज्ञानात् भूयः.........' 'बल विज्ञान से प्रभावशाली है।' आज एक बलवान् हजारो वैज्ञानिको को कँपा रहा है। यह आज की दुनिया की परिस्थिति है। इसमें से कौन-सा विज्ञान रास्ता निकाल सकता है ? आज तो विज्ञान अशोक-वनवासिनी सीता की तरह रावण की कैद में है। उसे वहाँ से उन्मुक्त कराने की आवश्यकता है और ऐसी शक्ति किसी हथियार में नही है।

पढे-लिखे लोग बडे तर्कशील होते हैं। मार्क्स ने लिखा है कि 'आलोचना का शस्त्र और शस्त्र की दलील' ये दोनो जब एक-दूसरे के मुकाबले में खडे हो जाते है, तो यह तर्क का शस्त्र है तो बडा हथियार, लेकिन तलवार की युक्ति के सामने वह कुठित हो जाता है। तलवार की दलील के सामने बुद्धि की तीक्ष्णता काम नही देती।

हमारे देश का बुद्धिवादी कहता है कि आखिर सीता को बचाने के लिए राम को भी तो बाण ही चलाना पड़ा। मैं उससे कहता हूँ कि बाण तो चलाना पड़ा, लेकिन मुझे कुछ ऐसा भ्रम होता है कि राम में आपसे अक्ल कुछ कम रही होगी। तभी तो वह रावण का मुकाबला करने के लिए एक ही मुँह लेकर आया। दशमुख का सामना करने के लिए कम-से-कम बीस मुख तो लेकर आता !

दो-मुँही राजनीति

विभीषण राम से कहने लगा कि रावण के पास तो रथ है और आपके पास तो रथ ही नहीं है। राम कहता है कि **'जेहि जय होय सो स्यंदन आना।'** मेरा जो रथ है वह अलग तरह का है। रावण के बीस बाण और राम का एक ही बाण। इस एक बाण का प्रभाव क्यों हो सका? उसका सांस्कृतिक मूल्य था—**'द्वि शरं नाभिसंधत्ते रामो द्विर्नाभिभाषते'**—इसके दो जबानें नहीं हैं, यह दो-मुँहा नहीं है। **राजनीति तो हमेशा दो-मुँही होती है।** जिसके मुंह एक है, उसके लिए कहा जाता है कि वह राजनीति ही नहीं जानता। बंगाल में बंकिम चटर्जी ने एक गर्दभ-स्तोत्र लिखा है, जिसमें ऐतिहासिक मूर्खों की सूची दी है। उस सूची में राजा दशरथ का भी नाम है। उसने एक दफा धोखे में कैकेयी को दो वरदान दे दिये। वह अपने वरदान बदल नहीं सका। ऐसा बेवकूफ है राजा दशरथ ! बंकिमबाबू ने 'लोकरहस्य' में गधों में उनका नाम गिनाया है। दूसरे एक प्रसिद्ध नेता ने भी गधों की एक सूची तैयार की है। उसमें हरिश्चन्द्र, दशरथ, राम आदि के नाम एक के बाद एक आये हैं। अंतिम नाम गांधी का है, ऐसा उन्होंने क्यों कहा ? **द्विशरं नाभिसंधत्ते** इसके दो मुंह नहीं है, इसलिए इसके एक बाण में शक्ति है।

शैतान से भी दो कदम आगे

एक दफा बर्नार्ड शा ने आइन्स्टीन के स्वागत में भाषण करते हुए कहा, "धर्म हमेशा सत्य बोलता है, विज्ञान हमेशा असत्य बोलता है।"

पूछा, "शा, आपका मतलब क्या है ?"

बोला, "पुरोहित एक ही झूठ बराबर लगातार बोलते रहते हैं, इसलिए धर्म सही है।"

"और विज्ञान झूठ क्यों है ?"

"जितने नये आविष्कार होते हैं, उतनी ही तुम अपनी बात बदलते हो।" और इससे आगे राजनीति है। राजनीति क्यों है ? वह कहता है कि राजनीति का कोई ठिकाना ही नहीं। क्यों ? सुबह और शाम में वह बदलती रहती है। उसका जो सत्य रहता है, वह सुबह के अखबार में अलग होता है, शाम के अखबार में अलग होता है।

इसलिए पुराने जमाने में डॉन स्विफ्ट, गुलिवर्स ट्रेवेल्स के लेखक ने एक निवन्ध लिखा था—'राजनैतिक झूठ की कला' जिसमें उसने कहा कि झूठ बोलना शैतान का गुण बतलाया गया है, लेकिन राजनीतिज्ञ ने उस कला को शैतान से बहुत ज्यादा आगे बढा दिया है। रावण के मुकाबले रामचन्द्र के युद्ध की चर्चा जब आप करते है, तो मेरी प्रार्थना है कि उसमें भी आपकी दृष्टि वैज्ञानिक होनी चाहिए, बुद्धियुक्त होनी चाहिए। **द्विःशरं नाभिसधत्ते रामो**। बहुत-से हथियार या शस्त्र-सम्भार राम की क्रान्ति के साधन नही थे। रावण का प्रतिकार करने के लिए राम को जो साधन अपनाने पडे, उन साधनो में सास्कृतिक मूल्य सबसे बडे साधन थे। आज यदि विज्ञान को सत्ता की गुलामी से मुक्त कराना है, तो मानवीय सस्कृति को एक क्रान्तिकारक मल्य बनाना होगा।

विभूति-योग

प्रश्न है कि मानवीय सस्कृति क्रान्तिकारक मूल्य कैसे बने ? यह युग मानवीय विभूति का युग है। विभूति-योग पृथक् वस्तु है, स्थूल देह-पूजा पृथक्। प्रकृति-पूजा पृथक् वस्तु है, विज्ञान पृथक्। प्रकृति-पूजको का विश्वास जादू और चमत्कार में भी था। उसके बाद वैज्ञानिक आये, जिन्होंने कहा कि गगा पानी के सिवा कुछ नहीं है, हिमालय बर्फ के सिवा कुछ नही है। वैज्ञानिको ने यह भी कहा कि मनुष्य शरीर के सिवा कुछ नही है। इन दोनो का जिसमे समन्वय है और इन दोनो के अतिरिक्त जिसमें एक मानवीय तत्त्व भी है, उसे हम 'विभूति-योग' कहते है।

दो दर्शन है। एक बकासुर का दर्शन है। दूसरा अकालग्रस्त पुरुष का दर्शन है। एक भूखे का दर्शन कहलाता है, दूसरा पेटू का। इनका नाम लोगो ने भौतिकवादी दर्शन रख दिया है। मैंने ऐसे कोई भेद नही किये है, लेकिन ये दो दर्शन प्रकृति की ओर देखने की हमारी भूमिका को बदल देते है। भूखा कहता है कि यह महिरज आटा बन जाय, तो अच्छा हो। पेटू कहता है कि यह लड्डू या हलुआ बन जाय तो अच्छा हो। हम कहते है कि प्रकृति हमारी माता है, भगवान् की विभूति है।

मनुष्य की ओर देखने के भी दो तरीके है। एक तरीके का, व्यक्ति-पूजा का निषेध आजकल रूस में हो रहा है। प्रभुत्व की पूजा का आज निषेध हो रहा है। मनुष्य की ओर एक व्यक्ति के नाते देखना एक अलग चीज है, मनुष्य की ओर एक विभूति के नाते देखना एक बिलकुल दूसरी। हम लौकिक और पारलौकिक, दोनो मूल्यो का निराकरण करना चाहते है, हम पारमार्थिक या आध्यात्मिक मूल्यो की स्थापना करना चाहते है। अध्यात्म पारलौकिक कभी नही होता। अध्यात्म यही होता है, इस देह में होता है, इस जीवन में होता है। मोक्ष यही, इसी दुनिया मे, इसी शरीर में मिलता है या फिर बिलकुल नही मिलता। इन पारमार्थिक मूल्यो की हमें स्थापना करनी है। इसलिए हम मनुष्य

की देह की पूजा नही करा रहे है। 'व्यक्ति-पूजा का तत्त्वज्ञान' बिलकुल दूसरी चीज है। मानवीय विभूति की महिमा स्थापित हो, यह सास्कृतिक मूल्य है। प्रकृति भोग्य वस्तुओ का भडार मानी जाय और हमारी भोग-दासी बनायी जाय, यहाँ तक विज्ञान पहुँचा है। प्रकृति एक ऐसी सत्ता है, जिससे मनुष्य को डरना चाहिए, यह प्रकृति-पूजा है। हम कहते है कि प्रकृति भगवान् की विभूति है। विज्ञान की ओर देखने का यह सास्कृतिक दृष्टिकोण है। मैं कह चुका हूँ कि विज्ञान को सत्ता के पलग के पाये के नीचे से उबारना है।

विज्ञान की भूमिका क्या हो ?

विज्ञान आज विश्व के भोगवादियो का दलाल बन रहा है। भोगनिष्ठो और सत्तानिष्ठो के लिए विज्ञान आज एजेंट या दलाल का काम कर रहा है। यह विज्ञान की भूमिका नही है। विज्ञान की भूमिका है—सृष्टि और सृष्टि के नियमो का आविष्कार। यह आविष्कार सृष्टि को हमारे जीवन की एक विभूति बनाने के लिए हो। सृष्टि आज काव्य में हमारे जीवन की विभूति है। काव्य एक ओर जाय और विज्ञान दूसरी ओर, यह नही होना चाहिए। विज्ञान के लिए सास्कृतिक दृष्टि से ही इन दोनो प्रवाहो का एकीकरण हो सकता है। अब वह युग आ रहा है कि जब हमें मानवीय विभूति की ओर जाना होगा। मानवीय विभूति की पूजा होगी। राजा और अधिनायक, दोनो का युग समाप्त हो गया। अब साधारण नागरिक का युग आया है। लोगो ने आज तक यह माना कि समाज का परिवर्तन और इतिहास का निर्माण वीर और सत करते है। पर मार्क्स की प्रतिज्ञा है कि अब तो साधारण जनता की यह भूमिका होगी कि वह इतिहास का निर्माण करे—साधारण जनता का पुरुषार्थ, नागरिक का पुरुषार्थ इसका तत्त्वज्ञान, इसका दर्शन होगा—मानवीय विभूति का दर्शन। जब तक मनुष्य ही विभूति नही बनता, तब तक वह दर्शन नही होता।

मार्क्स के दो सिद्धान्त

मार्क्स ने दो सिद्धान्त बताये। एक तो यह कि सृष्टि के नियमो के अनुसार और ऐतिहासिक घटना-क्रम के अनुसार अब यह अनिवार्य है कि पूंजीवाद का नाश होगा और उसकी जगह समाजवाद आयेगा। उससे पूछा गया कि "सृष्टि के नियमो के अनुसार यदि ऐसा होने ही वाला है, तो उसमें हमारे पुरुषार्थ के लिए क्या कोई अवसर है ? उसने कहा, "हाँ, है।" "किन पुरुषो के लिए अवसर है ?" "जिनकी आँख में यह शक्ति है कि वे जमाने में छिपे हुए क्रान्ति के बीज देख सकते है।" मार्क्स से पूछा गया कि "यह बीज कौन देख सकता है ?" तो इसका समाधानकारक जवाब नही मिला। यहाँ गाधी जवाब देता है, सर्वोदय जवाब देता है। वह यह कि जिन लोगो ने अपने दैनिक

जीवन मे क्रान्ति के मूल्यो का आचरण किया हो, उनकी आँख में यह शक्ति आती है। जिनके जीवन में क्रान्ति के मूल्यो का आचरण हुआ हो, जिन लोगो ने अपने जीवन में क्रान्ति के मूल्यो का अनुष्ठान किया हो उनकी आँख में यह शक्ति आती है कि वे समय के गर्भ में दिये हुए क्राति के वीज देख सकें।

मार्क्स ने यह भी कहा था कि जनता सिद्धान्तो को तव ग्रहण करती है, जव उन सिद्धान्तो का या क्रान्ति का सम्वन्ध जनता के 'जीवन की आवश्यकता' और 'वास्तविक स्वार्थ' के साथ हो। जनता की मूलभूत आवश्यकताओ और जनता के सच्चे हित के साथ जव क्रान्ति का सम्वन्ध होता है, तव मार्क्स के अनुसार वह तत्त्वज्ञान, यह दर्शन प्रेरक वन जाता है। मार्क्स के कहने का मतलव हुआ कि वह सिफत उसकी आँख मे आती है, जो जनता की मूलभूत आवश्यकताओ को और जनता के वास्तविक हित को देख सकता है। ऐसी शक्ति किसमें होगी ? उसीमें, जो अपने वर्ग को और अपने जन्म को भूलकर जनता के साथ, लोकात्मा के साथ, समरस हो सका है।

सन्त, वीर और नागरिक

लोकात्मा की ओर तीन तरह के देखनेवाले लोग हैं—सन्त, वीर और नागरिक। आज तक जो इतिहास लिखा गया है, उस पर या तो सतो का प्रभाव दिखाई देता है या वीर पुरुषो का। सतो की 'संत संस्कृति' और वीरो की 'सैनिक संस्कृति' अलग-अलग रही। ये सव सास्कृतिक तत्त्व थे। सास्कृतिक तत्त्व का एक लक्षण यह है कि मानवीय मूल्यों के विकास में जो-जो साधन सहायक होते है, वे सव सास्कृतिक वन जाते है। एक जमाने मे शस्त्र, सम्पत्ति और सत्ता, इन तीनो की भूमिका प्रगतिशील रही। यह करीव-करीव मार्क्स की व्याख्या है। जव हम कहते हैं कि हमें इनसे आगे जाना है, तो उसका यह मतलव नही है कि हम इन्हें पूर्णत. राक्षस समझ लेते है या अधम सत्ताएँ समझ लेते है। ऐसा मानने का कोई कारण नही है। यह अपने मे प्रगतिशील थी। जव इनमें से प्रगतिशीलता नष्ट होने लगी, तव यह कहना पडा कि अव सम्पत्ति, शस्त्र और सत्ता, तीनो का सास्कृतिक मूल्य समाप्त हो गया है। इसलिए अव जो मानवीय विभूति होगी, मनुष्य का जो व्यक्तित्व होगा, उसमे वीर, सत और नागरिक—इन तीनो का सामजस्य होगा। इन तीनो के गुणो को लेकर समग्र मानव वनेगा।

प्रश्न यह है कि इनके लिए कोई आधार है ?

काल भगवान् की विभूति

देश और काल को भगवान् की विभूति मान लेना क्रान्तिकारी दर्शन है। हम देश और काल को भी भगवान् की विभूति मान लेते है। लोग पूछते है कि घडी से कभी कोई क्राति हुई है ? जेल में हमारे एक मामा थे। वे अपने घर के जमीदार हैं। वेचारे

जेल में आ गये थे। उनसे लोग कहते थे, "मामा, अब भोजन का समय हो गया।" वे पूछते, "भला भोजन का भी कोई समय होता है ?" लोग कहते हैं, "घंटी बज गयी।" "घंटी तो बज गयी, लेकिन पेट मे तो नही बजी।" कहते, "यहाँ भोजन तो घंटी पर करना होता है, भूख के साथ नही। प्रार्थना भी घडी के साथ चलती है।" यों यन्त्रीकरण के साथ समय एक यान्त्रिक भूमिका लेकर आता है। यह समय का बिलकुल पृथक् दर्शन है।

समय का एक दूसरा दर्शन होता है, जिसे हम **'परिस्थिति का परिपाक'** कहते हैं। रोज ११ बजे घंटी बजती है। राममूर्तिजी और उनके साथियो को बाद में ऐसी आदत पडती है कि भूख पहले लगती है, घंटी बाद में बजती है। इसके लिए 'मन में अपना काम' करने की बात हुई। उसमें से परिस्थिति का परिपाक हुआ। इसे 'मुहूर्त का तत्त्व' कहते हैं। समय भगवान् की विभूति बनकर आता है। देश विश्व की विभूति का एक प्रतीक हो जाता है। हमारा क्षेत्र विश्व की विभूति का एक प्रतीक हो, यह ग्रामीकरण और विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया है।

हमारा देश, हमारा क्षेत्र ही हमारे लिए सब-कुछ हो, यह 'स्थानिक सत्तावाद' है। जिस तरह से देश और काल की ओर देखने का एक तरीका है, उसी तरह से मनुष्य की ओर देखने के ये तीन तरीके थे।

विश्वात्मा और लोकात्मा

ज्ञानेश्वर महाराज ने लिखा है कि भगवान् विश्वात्मा है। परमात्मा तो कहा ही। लेकिन परमात्मा जिन लोगो ने कहा, उन लोगो ने भी उसे विश्वात्मा नही माना। सृष्टि में सब जगह वह भरा हुआ है, यह दिखाने के लिए 'विश्वात्मा' सज्ञा है। परमात्मा जिन लोगो ने कहा, उन लोगो से ये कुछ आगे जा रहे हैं। विज्ञान को अध्यात्म के साथ मिला रहे हैं। भगवान् विश्वात्मक है।

उसके बाद लोकशाहीवाला लोकनेता आया। उसने कहा कि लोकशाही के युग मे भगवान् लोकात्मा बनकर आता है, जगदात्मा बनकर आता है। जगदात्मा के लिए उन्होने सूत्र दिया—'जितने नागरिक हैं, वे सब बधु हैं।' तो इसका मार्क्स ने वर्णन किया—दुनिया में जो सिद्धान्त जीर्ण हो गये हैं, उन सिद्धान्तो को शक्कर का पुट चढाकर ये लोग हमारे सामने रख रहे हैं। उसने कहा कि अब लोकात्मा श्रमिको के रूप मे आयेगा। 'सब लोग भाई-भाई हैं'—इसे उसने क्रांतिकारी सिद्धात नही माना। उसकी क्रांतिकारी प्रक्रिया है—'दुनियाभर के श्रमिको, एक हो जाओ।' गाधी ने कहा, 'नही, इसे तो दरिद्रनारायण के रूप मे देखना चाहिए। आज तो विश्वात्मा और परमात्मा दरिद्रनारायण के रूप में आया है।' मार्क्स ने सत का मत मानने से इनकार कर दिया। उसने कहा कि आज तक इन लोगो ने हमें अफीम खिला-खिलाकर गाफिल कर रखा

है। ये सत हमारे काम के नही है। पहला 'बुद्धिप्रामाण्यवादी' था जार्ज जेम्स होलिओक। इस होलिओक ने पहले-पहल क्या कहा ? यह मार्क्स से पहले आया था। इसने कहा कि "भगवान् की आधी तनख्वाह कम कर दो। इसका भोग आधा कर दो और आधा मनुष्य को दे दो।" मार्क्स उसके बाद आया। वह बोला कि "भगवान् का कोई उपयोग नही रह गया है।"

मार्क्स की विशेषता

जर्मन 'अभिजात दर्शनशास्त्र', ब्रिटिश 'अभिजात राजनैतिक अर्थशास्त्र' और फ्रेंच 'आदर्शवादी समाजवाद' इन तीन मसालो से मार्क्स बना। भगवान् और पुजारी तो पहले ही उडा दिये गये थे, लेकिन मार्क्स ने तो सैनिक को भी उडा दिया। यह मार्क्स की विशेषता है। मार्क्स ने कहा कि "राष्ट्र में सेना नही होनी चाहिए। नागरिक को ही सैनिक बनाओ। सैनिक और नागरिक के बीच का अतर समाप्त कर दो। उत्पादक और अनुत्पादक के बीच का अतर मिटा दो।" मार्क्स ने इसके साथ-साथ बडे मार्के की एक बात यह कही है कि सारी जनता को शस्त्र दे दो। सब लोगो को सैनिक बनाओ। इसके अलावा उसने दो और बातें कही कि श्रमिक के लिए श्रम जीविका का साधन नही होना चाहिए और परिश्रम जीवन की प्राथमिक आवश्यकता ही बन जानी चाहिए। वह कहता है कि 'जिस दिन मेरी क्राति सफल हो जायगी उस दिन दुनिया में युद्ध नही रहेगा। क्योकि सभी जगह श्रमिको की सत्ता हो जायगी। जिस दिन सर्वत्र श्रमिको की सत्ता हो जायगी, उस दिन कोई किसीके खिलाफ लडाई नही करेगा। जब कोई व्यक्ति किसीके विरुद्ध युद्ध नही करेगा, तो हथियार की भी जरूरत नही रहेगी।'

सैनिकता का निराकरण

इस प्रकार मार्क्स ने सैनिकता के निराकरण की प्रक्रिया का पहला कदम यह बताया कि हथियारबन्द फौज अलग मत रखो, सब लोगो को हथियार दे दो। मार्क्स ने यह बहुत अच्छी बात कही। इस सिद्धात को आज लागू कीजिये। क्या आज हर नागरिक को 'एटम बम' दिया जा सकता है ? 'हाइड्रोजन बम' दिया जा सकता है ? लोग कहेंगे कि हर नागरिक को तलवार और बदूक दे दो। पर तलवार और बदूक तो अब सरकस की चीजें बन जायँगी। युद्ध के लिए उनका कोई उपयोग नही है। आज हम जिस स्थान पर पहुँचे है, वहाँ लोगो को सशस्त्र बनाने का अर्थ हो गया है नि शस्त्रीकरण। इसलिए आज आइसनहावर कहता है, "नि शस्त्रीकरण आज जीवन की आवश्यकता बन गयी है।" मार्क्स के सिद्धात को ही लेकर हम विचार करें, तो आज इस बात की आवश्यकता है कि नि शस्त्रीकरण ही होना चाहिए, क्योकि सबके हाथो

में अब शस्त्र नही दिये जा सकते। सम्यता के इतिहास में एक ही राजा—अशोक—का नाम आता है, जिसने कहा था कि आज से मै हथियार फेंक देता हूँ। आज बुल्गानिन और ख्रुश्चेव कहते है कि हमने इतने हथियार फेंक दिये, अब तुम बताओ कि तुम कितने हथियार फेंकने के लिए तैयार हो? ये एक-दूसरे को नि शस्त्रीकरण की स्पर्धा के लिए चुनौती दे रहे है। नि.शस्त्रीकरण की चुनौती इस युग की आकाक्षा और आवश्यकता में से उत्पन्न हुई है। सास्कृतिक मूल्यो की स्थापना के लिए आज कालतत्त्व अनुकूल है। काल आज भगवान् की विभूति बनकर हमारी सहायता में आया है। अब यह ऐसी कोई बात नही रही कि गाधी कहे या विनोबा कहे, यह तो आज के राजनीतिज्ञ कह रहे है। भगवान् की विभूति बनकर जो कालतत्त्व आया है, जिसे आप 'आज का जमाना' कहतेहै, वह जमाना अब यह घोषणा कर रहा है कि निःशस्त्रीकरण के सिवा अब मानवीय मूल्यो की स्थापना नहीं हो सकती।

शस्त्र का सांस्कृतिक मूल्य समाप्त

शस्त्र मे दो प्रकार का सास्कृतिक मूल्य था। एक तो उससे वीर-वृत्ति का विकास होता था और दूसरे दुर्बलो का सरक्षण होता था। ये दो मूल्य जब तक थे, तब तक सास्कृतिक विकास के तत्त्व शस्त्र मे थे। आज ये दोनो नही है, इसलिए शस्त्र का सास्कृतिक मूल्य समाप्त हो गया। राष्ट्रीय सरक्षण के लिए कभी शस्त्र का कुछ मूल्य था, लेकिन आज की युद्धकला मे सरक्षण की योजना कम है, आक्रमण की योजना अधिक है। सरक्षण के लिए ऐसे कोई उपाय नही है, जिन पर विश्वास किया जाय। पहले जहाँ युद्ध सरक्षण-प्रधान था, वहाँ अब वह आक्रमण-प्रधान बन गया है। ऐसी परिस्थिति में युद्ध और शस्त्र, दोनो का सास्कृतिक मूल्य समाप्त हो जाता है।

सैनिक और नागरिक मे भेद न हो, यहाँ तक मार्क्स ने हमे लाकर पहुँचा दिया। अब हम यह कहते है कि नागरिक और सैनिक मे भेद न हो, इसके लिए नि शस्त्रीकरण की आवश्यकता है। अहिंसा के सिवा अब कोई चारा नही रह गया। अब मनुष्य को मानवीय विभूति में परिणत होना होगा। विनोबा 'विश्व-मानव' की बात कह रहे है। मनुष्य को विश्व के आकार का बनना होगा।

जनता की आवश्यकता

वैज्ञानिक क्रान्ति के सिद्धान्तो में मार्क्स ने दूसरी बात यह कही कि उसका अनुबन्ध केवल समय की आवश्यकता के साथ होना ही काफी नहीं, जनता की आवश्यकताओं के साथ होना चाहिए। जनता का स्वार्थ ही नही, उसका वास्तविक हित और उसकी प्रधान आवश्यकता, इन दोनो के साथ उसका सम्बन्ध, उसका अनुबन्ध होना चाहिए,

तब क्रांति आगे बढती है। एक प्रश्न के उत्तर में मार्क्स ने कहा कि दर्शन और सिद्धान्त भी तब समाज-क्रान्ति के साधन बन जाते है, जब सिद्धान्त को सर्वसाधारण मनुष्य की वुद्धि ग्रहण कर लेती है।

तीन वाते मैंने बतायी :

१. शस्त्र का सांस्कृतिक मूल्य समाप्त हो गया है।
२. यंत्र का सांस्कृतिक मूल्य समाप्त हो गया है।
३. प्रचलित लोकतंत्र का सांस्कृतिक मूल्य समाप्त हो गया है।

'स्वार्थ' और 'हित' का अन्तर

जब एक वर्ग का हित समाज-हित बन जाता है, तभी उस वर्ग की क्रान्ति समाज-क्रान्ति होती है। यह सिद्धान्त कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र मे मार्क्स ऐंजिल्स ने लिखा। क्रान्तिकारी वर्ग वह वर्ग है, जिसका स्वार्थ समाज-व्यापी बन जाता है। स्वार्थ और हित मे अन्तर है। आपका स्वार्थ मेरा हित है। इससे अगला कदम है—आपका हित और मेरा हित, दोनो का हित, यह 'परमार्थ' कहलाता है। परार्थ मेरे लिए हित है, आपके लिए स्वार्थ है। आरम्भ यहाँ से होता है कि मैं आपका सुख देखूँ, अपना हित देखूँ। लोकतन्त्र की आज की प्रक्रिया यह है कि आप अपना अधिकार देखें, मै अपना अधिकार देखूँ। आप अपना कर्तव्य देखें, मैं अपना कर्तव्य देखूँ। आज का प्रचलित लोकतन्त्र यहाँ तक पहुँचा है। पर, सर्वोदय का लोकतन्त्र यह होगा कि मै आपका अधिकार देखूंगा, अपना कर्तव्य देखूंगा। उसी तरह से अब हम यह विचार कर रहे हैं कि आपका स्वार्थ मेरा हित है। आगे चलकर आप भी देखने लगेंगे कि मेरा स्वार्थ आपका हित है। आप मेरे सुख मे अपना हित देखेंगे, मैं आपके सुख में अपना हित देखूंगा। दोनो जब एक-दूसरे का सुख देखेंगे, तो दोनों हित का विचार करेंगे। **स्वार्थों में टक्कर होती है, हितों में टक्कर कभी नहीं होती।** दोनो का हित हम देखने लगेंगे। इसका विनियोग आज की परिस्थिति में कैसे हो ?

मार्क्स का क्रान्ति-दर्शन

मार्क्स ने क्रान्ति का एक दर्शन किया। उसके सामने कुछ सिद्धान्त आये। व्यक्ति कितना भी बडा क्यो न हो, अपने जमाने की जो परिस्थिति होती है, उस परिस्थिति में उसे विचार करना पडता है। यह 'देश की विभूति' कहलाती है। मार्क्स जर्मनी के जिस राइनलैण्ड में पैदा हुआ, वहाँ की परिस्थिति उसके सामने थी। उस समय यूरोप में व्यापारवाद और यन्त्रवाद का विकास हो रहा था। उसका एक चित्र उसके सामने था। उस चित्र को उसने अपने सामने रखा और क्रान्ति का यह

नक्शा दुनिया के सामने पेश किया कि यन्त्रो के सबब से वह जमाना आनेवाला है, जब सम्पत्तिधारी कम होगे और श्रमिक बढते चले जायँगे। सम्पत्तिधारियो की सख्या इतनी कम होती चली जायगी कि वह कुछ दिनो के बाद नगण्य हो जायगी। हो सकता है कि वह एक तक पहुँच जाय।

मार्क्स ने यह नक्शा देखा कि सपत्तिधारी कम होगे, श्रमजीवी ज्यादा, इसलिए श्रमजीवियो का स्वार्थ समाज का स्वार्थ हो जायगा। वर्ग-स्वार्थ और समाज-हित दोनो एक हो गये, यह उसकी प्रक्रिया थी। मार्क्स के सामने यह नक्शा था कि सपत्ति-हीन वर्ग बढता चला जायगा, जो किसान है, वे किसान भी क्रमश मजदूर बनते चले जायँगे और धीरे-धीरे सब मजदूर ही मजदूर हो जायँगे। कारखाने मे दो बाते होती है। एक, मालिक कम और मजदूर ज्यादा। दूसरी, मेहनत मजदूर की, दौलत मालिक की। यानी मजदूर अपना काम नही करता, मालिक का करता है। इस-लिए सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति में सबसे प्रभावशाली अस्त्र है—हडताल। दूसरे का काम जहाँ आप करते है, वहाँ हडताल सबसे ज्यादा प्रभावशाली होती है।

आज विद्यार्थियो की हडतालें क्यो प्रभावशाली हो रही है ? बाप पढाना चाहता है, बेटा पढना नही चाहता। मास्टर सिखाना चाहता है, विद्यार्थी सीखना नही चाहता। इसलिए हडताल होती है। यानी जहाँ दूसरे का काम होता है, वहाँ हडताल हो सकती है। जहाँ दूसरे का काम हो, वहाँ काम से हडताल कर दी, काम बद हो गया। महाराजिन नही आयी। हमसे कहती है कि "तुम्हारे यहाँ ज्यादा मेहमान आ गये, हम आज नही आयेंगे।" हमारा बेटा कहता है कि "नही आओगी, तो तनख्वाह नही देंगे।" "तनख्वाह नही दोगे, तो रोटी थोडे ही बननेवाली है!" यह हडताल का मर्म है।

कृषि-प्रधान अर्थशास्त्र

ससारभर मे कारखानेदारी ज्यादा बढ नही सकती। ससार के सामने लोक-सख्या का प्रश्न है। लोकसख्या का प्रश्न अन्न का प्रश्न है और अन्न के प्रश्न का अर्थ है कृषि का उत्पादन। इसलिए अब ससारभर का अर्थशात्र 'कृषिकेन्द्रित अर्थशास्त्र' होगा। अन्यथा, अन्न की समस्या कभी हल नही हो सकेगी और उसके बिना लोक-सख्या की समस्या केवल परिवार-नियोजन और उस तरह के बाह्य उपचार आदि से हल नही होनेवाली है। जब सास्कृतिक दृष्टि और आर्थिक दृष्टि से इस समस्या को हल करेंगे, तब सारी अर्थनीति को बदल देना होगा। अर्थनीति की बुनियाद ही अब खेती होगी। कृषि-प्रधान अर्थशास्त्र होगा, तो उसी ढग का उसका नक्शा

होगा। कृषि में मालिक ज्यादा होते हैं, मजदूर कम होते हैं और कारखाने मे मालिक कम, मजदूर ज्यादा होते हैं। कारखाने में मजदूर अपना काम नही करता, खेती में किसान अपना काम करता है। स्पष्ट है कि अपना काम करनेवाला हडताल क्या करेगा ? किसानी में हडताल क्या ? पहले मजदूर आगे था और उसके साथ किसान। पर अब यह क्रम बदल जाता है। किसान मुख्य हो जाता है। इसलिए किसान का स्वार्थ समाज-हित बन जाना चाहिए। तब हमारा सिद्धान्त क्रातिकारी तत्त्व बनेगा। आज हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि समाज में छोटे-छोटे मालिको की सख्या अधिक होने के कारण नागरिको का स्वार्थ ही क्राति का कारण बनेगा। नागरिको की आवश्यकता के साथ क्राति का अनुबन्ध होगा।

नागरिक की क्रान्ति

नागरिको की आवश्यकताएँ मैंने बतायी। पहली आवश्यकता अब यह पैदा हो गयी है कि वीर की क्रान्ति नही होगी, सत की क्राति नही होगी, अब जो क्राति होगी, वह नागरिक की क्रान्ति होगी। नागरिक की क्रान्ति के लिए नागरिक के पुरुषार्थ की प्रेरणा जागृत होनी चाहिए। नागरिक मे पुरुषार्थ की प्रेरणा जागृत करने के लिए मानवीय विभूति का आदर्श रखना होगा। हम मनुष्य को ही विभूति मानेंगे। अब जो क्रान्ति होगी, वह राज्यनिष्ठ नही, लोकनिष्ठ क्राति होगी। मार्क्स की वैज्ञानिक प्रक्रिया थी, सैनिकता को नागरिकता में परिणत करना। आज सैनिकता को नागरिकता में परिणत करने के लिए नि शस्त्रीकरण के सिवा दूसरा कोई चारा नही है। नि·शस्त्रीकरण केवल एक अभावात्मक कदम है। उस अभावात्मक कदम से काम नही चलनेवाला है। भावरूप योजना की आवश्यकता होगी। इस भावरूप योजना के लिए क्राति की प्रक्रिया नवीन होगी। मार्क्स के सामने मजदूरो की क्रान्ति का जो नक्शा था, वह पूरा-का-पूरा नक्शा अब बदल गया है। क्राति के जो केन्द्र-बिन्दु थे, वे केन्द्र-बिन्दु बदल गये हैं। इसलिए क्रान्ति की विभूति बदल गयी है। क्राति की विभूति वह होगा, जिसकी आँख मे क्राति का दर्शन कर सकने की शक्ति आयेगी। आज वह शक्ति किसान की आँख मे आयेगी। और किसान की आँख में जो शक्ति आयेगी, वह उन लोगो के दर्शन से आयेगी, जिनकी बुद्धि और जिनके हृदय किसान की आवश्यकताओ और उसके वास्तविक हित-सबंधो के साथ एकरूप हो गये हो।

क्रान्ति की प्रक्रिया

विज्ञान आज सास्कृतिक आधारो के बिना नि सत्त्व हो गया है। सत्ताधारियों के प्रभुत्व में वैज्ञानिक आज परेशान हो रहे हैं। वैज्ञानिको को उबारने के लिए आज यदि सैनिक सामने आता है, तो उसमे ऐसी शक्ति नही। सैनिक वैज्ञानिको को उबार

नही सकता, राजनीतिज्ञ वैज्ञानिको को उवारना नही चाहता। दूकानदार और सौदागर वैज्ञानिक को 'मुनाफे का दलाल' बनाना चाहते है और सत्ताधारी लोग वैज्ञानिक को 'पोलिंग एजेंट' बनाना चाहते है। इसलिए ये दोनो वैज्ञानिको को नही उबारेंगे। सीधी-सी बात यह है कि वैज्ञानिक को साधारण नागरिक उवारेगा। साधारण नागरिक वैज्ञानिक को उवारे, तो उसके व्यक्तित्व में कुछ विशिष्ट गुणो का विकास करना होगा, विज्ञान की ओर से उसका रुख बदल देना होगा। सृष्टि को भोग्य वस्तुओ का भडार नही, भगवान् की विभूति मानना होगा। मै जब पशु-शक्ति का विचार करता हूँ, तो पशु के लिए भी मै वही कहता हूँ। उसे भी भगवान् की विभूति के रूप में ही देखना होगा। हमें जीवन की ही आवश्यकता के रूप मे श्रम का विचार करना होगा। इसके विकास की प्रक्रिया का क्रम ऐसा होगा कि मै पहले दूसरे के सुख में अपना हित देखूंगा, दूसरा मेरे सुख मे अपना हित देखेगा। लेकिन हम दोनो निरपेक्ष रहेंगे। हम एक-दूसरे के लिए रुकेंगे नही। जब सब एक-दूसरे के सुख का विचार करने लगेंगे, तो हमारा सुख, हमारा स्वार्थ और समाज का हित एकरूप हो जायगा।

इस दिशा में बढने के लिए हमने पहले विश्वात्मा को, लोकात्मा को लिया। और फिर सर्वहारा, दरिद्रनारायण को। पूँजीवाद के ही विकास मे से पूँजीवाद का ह्रास होने लगा और जैसे-जैसे वह क्षीण होने लगा, सम्पत्ति बिखरती चली गयी और सुख बिखरता चला गया। अब जो क्रान्ति होगी, उस क्रान्ति में सैनिक या वीर का नही, सारी जनता का पुरुषार्थ होगा। अब सारी जनता इतिहास का निर्माण करेगी। साधारण नागरिक की क्रान्ति की जो प्रक्रिया होगी, वह प्रक्रिया आज इस देश मे हमारे सामने एक व्यावहारिक प्रयोग के रूप मे विद्यमान है।

विनोबा की सफलता

लोगो ने मुझसे प्रश्न किया है कि "क्या '५७ मे विनोबा सफल हो जायेंगे?" मैंने कहा कि मै नही जानता कि विनोबा सफल होगे या नही होगे। मेरे सामने तो वह सवाल ही नही है। मेरे सामने तो यह सवाल है कि हम सफल होगे या नही होगे। विनोबा तो सफल होगे ही। उनकी सफलता में कोई शका नही रह गयी है। क्योकि उनकी सफलता इस वस्तु में है कि उन्होने हमारी बुद्धि में इस बात का एक प्रत्यय पैदा कर दिया कि सत्ता-निरपेक्ष और शस्त्र-निरपेक्ष आर्थिक क्रान्ति की प्रक्रिया हो सकती है। जो वस्तु दुनिया पहले मानने को ही तैयार नही थी, उसे उन्होने प्रस्थापित कर दिया। अब '५७ की सफलता या असफलता तो आप लोगो के प्रत्यय पर निर्भर है। आप लोगो में जो स्फूर्तिमान्, पुरुषार्थवान् होगे, वे सफल क्यो नही होगे?

पहले से ही हम यह क्यो कहे कि हम सफल नही होगे ? अंग्रेजो के जमाने में लोग पूछते थे कि "क्या अंग्रेज दरअसल चले जायेंगे ?" मैंने कहा, "यह मुझसे क्यो पूछ रहे हो ? ज्योतिषी से पूछो। तुम अपने से पूछो कि अंग्रेज न गये, तो हम क्या करेंगे। ये न गये, तो हम सिर्फ इतना ही कहेंगे कि गाधी के तरीके से अंग्रेज नही गये।" यह सारा विवेचन मैंने इसलिए किया कि हमारे सामने दूसरा कोई रास्ता ही नही है।*

---

* खादीग्राम में शिविरार्थियों के बीच २९-१२-'५६ का प्रात:-प्रवचन।

सर्वोदय के सांस्कृतिक आधार (२) : २० :

हमे सोचना है कि क्रान्ति का सास्कृतिक आधार क्या होगा। कारण, मैं बता चुका हूँ कि शस्त्र मे, यन्त्र में और प्रचलित लोकतन्त्र में सास्कृतिक क्रातिकारी तत्त्व नही रह गया है। दुनिया में किसी क्रान्ति का ध्येय कभी राजनैतिक और आर्थिक हो ही नही सकता। मूल्य और आदर्श न तो कभी राजनैतिक होते हैं, न कभी आर्थिक होते है। जितने भी आदर्श और मूल्य होते हैं, वे सब पारमार्थिक होते हैं। उन्हे चाहे आध्यात्मिक कह लीजिये, चाहे पारमार्थिक। उन्हें सास्कृतिक भी कह सकते है।

'संस्कृति' का अर्थ

यहाँ हम यह भी देख लें कि सस्कृति का अर्थ क्या है। मार्क्स के बाद बने समाज-शास्त्रो में सस्कृति की परिभाषा की गयी है, 'एक विशेष प्रकार का आचरण'। सस्कृति की एक पद्धति है कि अपने से बुजुर्ग आदमी मिलते ही हम उसके चरण छू लेते है। कुछ अन्य लोग उसके मिलने पर उसका हाथ चूम लेते हैं। ये दोनो सकेत अलग-अलग हैं, लेकिन उनका आशय एक है। ऐसे आचरण को कुछ लोग 'सस्कृति' कहते हैं। यान्त्रिक उपकरणो के साथ सस्कृति बदलती है, ऐसा लोग आजकल कहने लगे हैं। टेकनिक के साथ नक्शा बदलता है, सस्कृति नही बदलती। 'टेक्नालॉजी' में जो परिवर्तन होता है, उसके साथ नक्शा और व्यवहार बदलता है, सस्कृति नही बदलती। शिविर में आये विभिन्न प्रान्तो के लडको की पोशाकें एक तरह की हैं। लेकिन पूर्णिया और सिहभूम का झगडा होगा, तो बिहारी बुशकोट और बगाली बुशकोट एक-दूसरे से झगडने लगेंगे। मतलब, आशय नही बदला है, आकृति बदली है। यन्त्रीकरण से बाहरी एकरूपता आ जाती है। लेकिन बाहरी एकरूपता सास्कृतिक एकता नही है। वह बुद्धि की और हृदय की एकता नही है। यन्त्रीकरण के साथ समानरूपता आती है। बाहरी नक्शा एक प्रकार का हो सकता है, लेकिन उतने से 'मूल्य' एक नही हो सकते। आज सस्कृति का जो सकुचित अर्थ है, उसे भुला देना चाहिए। 'सस्कृति' का असली अर्थ है—'जीवन मे साझेदारी।' **दूसरे के जीवन में शामिल होना और दूसरे को अपने जीवन में शामिल करना 'संस्कृति' है।** यह जिन्दगी की साझेदारी, यह शराकत, तहजीब, 'कलचर' या 'सस्कृति' कहलाती है।

यूनानी दंतकथा

यूनानी पुराणो मे एक दतकथा आती है कि दो भाई है। इनसे कहा गया कि सृष्टि की रचना करो। पहले एक-एक प्राणी बनाया और उसमे अपनी सारी

करामात खर्च कर डाली। किसीको उसने पखो से विभूषित किया, किसीको रोएँ या ऊन से। किसीको पख दिये, किसीको सीग दिये, किसीको दाँत या नाखून। किसीको हिम्मत दी, किसीको चालाकी। किसीको ताकत दी, किसीको स्फूर्ति। पर जब वह मनुष्य बनाने बैठा, तो इसे देने के लिए उसके पास कुछ नही रहा। दूसरे प्राणियो और सृष्टि से मुकावला करने के लिए इसके शरीर में कोई योजना वह नही कर पाया। इसलिए मनुष्य जब बना, तो वह सबसे 'बेचारा' बन गया। उसके पास कुछ भी नही रहा। दाँत भी नही, नाखून भी नही, सीग भी नही, पख या रोएँ भी नही! दूसरा भाई हैरान रह गया! बडी मुश्किल से इधर-उधर से खोजकर आग लाया और मनुष्य से कहने लगा कि तू आग ले ले। तेरे पास कुछ तो हो, जिससे तू दूसरे जानवरो से अपना सरक्षण कर सके। लेकिन इतने से ही तो काम नही चल सकता था।

दूसरे दो भाई थे। एक को भगवान् ने वरदान दे दिया कि "तू अमर होगा!" दूसरा भी वडा गुणवान् था, उससे कहा कि "तुझमें पुरुषार्थ होगा, बुद्धिमत्ता होगी, तरह-तरह के गुण होगे। लेकिन तुझमें एक दोष यह होगा कि तू अल्पायु होगा।" अब ये दोनो बैठे। बडे भाई को बहुत शोक हुआ कि भगवान् ने दिया भी तो डेढ वरदान दिया। पूरे दो नही दिये। वह भगवान् के पास गया और बोला, "भगवन्, एक वर-दान और दे दीजिये, तो हमारा काम चल जायगा।" पूछा, "कौनसा वरदान चाहिए?" बोला, "मुझे यह वरदान दे दीजिये कि मैं अपनी अमरता को बाँट सकूँ और इसकी अल्पायु में शामिल हो सकूँ।"

सुख-दुःख बाँटने की कला

मृत्यु को और जिन्दगी को बाँट लेने की जो शक्ति है, वह मनुष्य की बुद्धि-शक्ति कहलाती है। यह पशु में नहीं है। मनुष्य की जीवन-शक्ति शस्त्र में नहीं है, यन्त्र में नहीं है, राज्य में नहीं है, मनुष्य की जीवन-शक्ति जिन्दगी को बाँटने की उसकी कला में है। उसकी जीवन-शक्ति इसीमें है कि वह जीवन को बाँट सके, मृत्यु को बाँट सके। मृत्यु को बाँटने से मृत्यु समाप्त हो जाती है, जीवन को बाँटने से जीवन अनन्त हो जाता है।

हमारे एक सम्बन्धी का पुत्र मर गया। हमें इस बात का पता बहुत देर मे चला। उसने हमें चिट्ठी लिखी कि "आखिर आपने हमें सहानुभूति के दो शब्द भी नही लिखे!" एक मित्र ने हमसे कहा कि "आप दो शब्द लिख देते, तो क्या होता? क्या उससे उसका मरा हुआ बेटा वापस आ जाता?" मैंने कहा, "मरा हुआ वापस तो नही आ जाता। पर इस बारे में आप उसीसे पूछिये।" उससे पूछा, तो उसने कहा कि "हमारा पुत्र तो

वापस नही आता, लेकिन दु ख हलका हो जाता !" आँसू बाँट लेने से पुछ जाते है। हँसी बाँट लेने से अनन्त हो जाती है। **दुःख बँटता है, तो हल्का हो जाता है और सुख बँटता है, तो दुगुना हो जाता है। यह दुःख और सुख का फर्क है।**

हमारे सामने प्रश्न यह है कि जो लोग पडोसी बन गये है, वे भाई कैसे बनें ? पडोसी यदि मित्र नही बनते, तो 'पडोसी' महाभयानक वस्तु है। एक अंग्रेज लेखक ने पडोसी का वर्णन किया है कि "वह प्रकृति की लापरवाही और भयकरता के साथ आता है।" भगवान् और नियति चाहे जिसको आपका पडोसी बना देती है। दोस्त आप बना सकते है, दुश्मन आप बना सकते है। दोस्त या दुश्मन बनाना आपके हाथ की बात है, पडोसी को बनाना आपके हाथ की बात नही है। आपको ही वहाँ से हट जाना पडेगा, तभी पडोसी जा सकता है। वह लिखता है कि पडोसी कोई गाय, भैस, बैल होता, तब भी चल जाता, पर वह मनुष्य है, इसलिए सारे प्राणियो मे भयकर है। वह कोई भी हो सकता है। पडोसी सयोग से होता है, वह हमारे लिए मानवता का नमूना है।

सांस्कृतिक समस्या

यह सास्कृतिक समस्या है। विज्ञान मनुष्यो को पडोसी बना सकता है, लेकिन पडोसियो को दोस्त बना देना विज्ञान की शक्ति के बाहर की वस्तु है। भैस का एक पाडा ठड मे पडा छटपटा रहा है। छोटा लडका उसे देखता है और रोने लगता है। उसके पास ओवरकोट है, शाल है। पर वह छटपटाता है और रोता है! विज्ञान के पास इसका क्या जवाब है ? विज्ञान केवल इतना बतला सकेगा कि यह काँप क्यो रहा है। कहेगा, इसकी फलाँ मासपेशी पर फलाँ परिणाम हुआ है। लेकिन 'यह क्यो रो रहा है ?' इसका जवाब विज्ञान नही दे सकता। सत्यनारायण की कथा में एक लडके को प्रसाद मे एक पेडा मिलता है। वह कहता है, "मै यहाँ नही खाऊँगा छात्रालय में जाकर खाऊँगा।" वह छात्रालय मे जाता है। वहाँ उसका दोस्त समझता है कि इसने तो एक पेडा खा ही लिया होगा। दूसरा पेडा मेरे लिए लेकर आया है। वह समूचा पेड़ा उठाकर खा लेता है। लेकिन खाता है वह, पर मजा आता है इसे! भला कौनसा विज्ञान इसका जवाब दे सकता है ?

आज की समस्या विज्ञान की शक्ति से बाहर की है। इसलिए जो लोग यह समझते है कि विज्ञान से क्रान्ति होगी, वे लोग क्रान्ति की समस्या को ही नही समझते। विज्ञान हमें जहाँ तक लाकर पहुँचा सकता था, वहाँ तक उसने पहुँचा दिया है। अब इससे आगे विज्ञान की गति नही है। लोग पूछते है कि क्या आप विज्ञान से इनकार करना चाहते है ? हम विज्ञान से बिलकुल नही इनकार करना चाहते। विज्ञान को

आज दो सवारियाँ मिली हैं—एक लाभ और दूसरी सत्ता। हम विज्ञान को उबारना चाहते है। इसके लिए उसका आशय ही बदलना होगा। विज्ञान अपने मे तटस्थ है, क्योकि वह जड है। मोटर हमारी गति को बदल सकती है, पर वह हमारे मुकाम को, उद्देश्य को नही बदल सकती। मुझे सोखोदेवरा जाना है या मुझे गया जाना है, यह मोटर नही कह सकती। इसलिए मनुष्य के जो ध्येय या आदर्श होते हैं, वे हमेशा वैज्ञानिक भी नही होते, आर्थिक भी नही होते और राजनीतिक भी नही होते, वे मानवीय होते हैं। यह समस्या है और इसे विज्ञान नही हल कर सकता।

क्रान्तियों के सुपरिणाम

आज तक जितनी क्रान्तियाँ हुई है, उनमें सबसे अधिक वैज्ञानिक विचार-पद्धति कम्युनिस्टो की रही। लेनिन की क्रान्ति दुनिया की सबसे पहली अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति थी। रूस और चीन की क्रान्तियाँ दुनिया की पहली वैज्ञानिक क्रान्तियाँ है। मानव-समाज के इतिहास में मनुष्य ने जो कुछ प्राप्त किया है, जहाँ तक हम आ पहुँचे हैं, उनमें इन दो क्रान्तियो का बहुत बडा हिस्सा रहा है। आज दुनिया में 'मार्क्सवादी' लोग तो हैं, लेकिन मार्क्स के सिद्धान्तो पर चलनेवाले बहुत कम है। वैज्ञानिक क्रान्ति का विज्ञान और क्रान्ति की कला का शास्त्र देनेवाला पहला व्यक्ति मार्क्स था। लेनिन और माओ की क्रान्तियाँ बडी वैज्ञानिक है। लेनिन की क्रान्ति ने ससार में कई महत्त्व-पूर्ण बातें की—

१ पहली बात तो यह की कि अपने-अपने देश में उन्होंने सामतशाही और पूंजी-वाद को समाप्त कर दिया। आमदनियो में अन्तर भले ही बना रहा हो, लेकिन सामत-शाही और पूंजीवाद को उन्होंने समाप्त कर दिया।

२ दूसरी बात यह की कि उत्पादन के साधनो का समाजीकरण कर दिया। उसे राज्यीकरण भी कहा जा सकता है। उन्होंने उत्पादन के साधनो पर राज्य का स्वामित्व स्थापित कर दिया।

३ तीसरी बात यह की कि जिस रूस को कोई पूछता नही था, उसे विश्व के राष्ट्रो की प्रथम पक्ति मे लाकर बैठा दिया।

४ चौथी बात यह की कि एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के जितने प्रयत्न हुए, उन्हें बहुत बडी गति दे दी।

५ पाँचवी बात यह की कि जार के जमाने में रूस के किसान और मजदूर जिस हालत में थे, उससे आज कही अच्छी हालत में उन्हें ला दिया है।

सवाल है कि फिर झगडा कहाँ है ? झगडा यह है कि क्रान्ति में इतना काफी नही है कि मनुष्य की भौतिक स्थिति सुधरे। क्रान्ति इसलिए है कि मनुष्य के जीवन

का आशय ही उन्नत हो। समस्या यह है कि आज तक मनुष्य जितना दूसरो के साथ मैत्री से रहा है, उससे अधिक मित्रता मे वह दूसरो के साथ रह सके। वैज्ञानिक दृष्टि से उन लोगो ने सोचा और इस बात की कोशिश की कि हम विज्ञान से एक-एक समस्या को हल करते चले जायँ।

वेश्या-व्यवसाय की समस्या

मै बहुत-सी समस्याओ को छोड देता हूँ, केवल एक ऐसी समस्या लेता हूँ, जिससे यह वस्तु पूर्णत. स्पष्ट हो जाय। वेश्या-व्यवसाय की समस्या विश्व की एक बहुत बडी सामाजिक समस्या है। स्त्रियो को वोट का अधिकार दे दिया गया। स्त्रियाँ यदि चाहें और अवसर हो, तो वे प्रधान-मत्री वन सकती है, राष्ट्रपति भी बन सकती है। इतना अधिकार स्त्रियो को मिला है। लेकिन आज भी समाज मे स्त्री के शरीर और रूप का विक्रय होता है। प्रश्न है कि इस समस्या को कैसे हल करें ? वेश्याओ की समस्या कम्युनिस्टो के लिए नैतिक समस्या नही है। उनके लिए यह भौतिक और आर्थिक समस्या है। उन्होंने भौतिक भूमिका से इसे हल करने की कोशिश की। इसके लिए उन्होंने ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी कि समाज में किसी भी स्त्री को अपना रूप और अपना शरीर वेचने की आवश्यकता ही न रहे। **दुनिया में रूस और चीन, दो ही देश ऐसे हं, जहाँ** वेश्या-व्यवसाय नहीं है। वाकी सारे देश नीतिमत्ता की डीग तो हाँकते है, पर वेश्या-व्यवसाय सर्वत्र है। हमारा देश नीतिमत्ता की सबसे ज्यादा डीग हाँकता है, पर यहाँ के तीर्थ-स्थानो में सबसे ज्यादा चकले है। यह देश और दूसरे कई देश वेश्या-व्यवसाय का निराकरण नही कर सके।

एक कम्युनिस्ट ने एक पुस्तक लिखी है—'पाप और विज्ञान', जिसमें बताया है कि पाप का प्रतिकार विज्ञान से किस प्रकार किया जाय। उसमें उन्होंने अपनी योजना लिखी है। उस योजना में यह आया है कि हम विज्ञान द्वारा वेश्या-व्यवसाय का प्रतिकार करेंगे। विज्ञान ने वेश्या-व्यवसाय तो समाप्त कर दिया, किन्तु समाज में हर स्त्री को हर पुरुष की बहन बना दे, कृष्ण और द्रौपदी जैसा सम्बन्ध पैदा कर दे, ऐसी क्षमता किसी विज्ञान मे नही है।

सामाजिक ब्रह्मचर्य

आपकी बहन दूसरे के लिए अनाक्रमण का विषय रहे, इतना विज्ञान कर सकता है। राज्य भी ऐसा कर सकता है। मेरी माँ सुरक्षित रहे, ऐसी व्यवस्था विज्ञान भी कर सकता है, राज्य भी कर सकता है। लेकिन मेरी माँ को आप अपनी माँ मानें यह कोई राज्य और कोई विज्ञान नही कर सकता। यही वह स्थान है, जहाँ पर पहुँच कर जयप्रकाश बाबू का हृदय-परिवर्तन हुआ। वे कहने लगे कि "भौतिक प्रेरणा पर्याप्त नही है।" राज्य अधिक-से-अधिक इतना कर सकता है, विज्ञान इतना

कर सकता है कि वह हर स्त्री को सुरक्षित कर दे। वेश्या-व्यवसाय को विज्ञान रोक सकता है, पर व्यभिचार को कौन-सा विज्ञान रोक सकता है? समाज में ब्रह्मचर्य के मूल्य की स्थापना कोई विज्ञान नहीं कर सकता। ब्रह्मचर्य के मूल्य का अर्थ यह है कि हर स्त्री मेरे लिए माँ हो और हर स्त्री के लिए मैं या तो पुत्र रहूँ, भाई रहूँ या पिता रहूँ। इसे 'सामाजिक ब्रह्मचर्य' कहते हैं। इसलिए अब इतना ही पर्याप्त नहीं है कि हर मनुष्य स्वतन्त्र हो जाय, आवश्यकता इस बात की है कि हर मनुष्य, हर व्यक्ति को हम भगवान् की विभूति मानें। हर स्त्री माँ होती है, तो भगवान की विभूति बन जाती है। हर पुरुष उसका पुत्र, भाई या पिता होता है, तो भगवान् की विभूति बन जाता है।

विज्ञान और लोकतन्त्र हमें यहाँ तक पहुँचा गया कि हर स्त्री-पुरुष का वोट एक समान है। स्त्री और पुरुष, दोनो बराबर हैं। हर पिता माँ की कोख से पैदा होता है और हर माँ के पिता होता है, इसलिए ये दोनो बराबर हैं। समाज-विज्ञान यहाँ तक लाकर हमे छोड गया। लेकिन समाज-विज्ञान या राज्य, दोनो हमें यहाँ तक नही ले जाते कि आप मेरे शरीर को पवित्र मानें और मैं आपके शरीर को पवित्र मानूँ। अगर व्यक्तियो के सम्बन्ध में पवित्रता की भावना नही आयेगी, तो लोकतन्त्र चरितार्थ नही हो सकता। इतना तो आवश्यक ही है कि जहाँ पर कोई पुलिसवाला या फौज-वाला नही है, वहाँ मेरे सामने बैठे लडको की बहुएँ मेरे पास सुरक्षित रहे और मेरी बेटी इन लडको मे सुरक्षित रहे। इसके लिए यदि पुलिस की, फौज की और राज्य की जरूरत होगी, तो फिर बर्बरता किसका नाम है? अब इसी बात को नागरिकत्व के लिए लागू कर लीजिये। गाधी को मारने के लिए जो सजा है, वही सजा भिखारी को मारने के लिए है। कानून यहाँ तक हमें पहुँचा देता है। लेकिन उस भिखारी के शरीर को मैं पवित्र मानूँ, यह कौन-सा कानून कर सकता है?

प्रेरणा का सांस्कृतिक मूल्य

आज क्रान्ति की आकाक्षा क्या है? बार-बार लोग पूछते हैं कि कानून से क्यो नही करा लेते, तलवार से क्यो नही करा लेते? सोचने की बात है कि क्या तल-वार कभी आदमी को मिलाने के लिए दुनिया में पैदा हुई थी? तलवार से हार-जीत होती है। तलवार से समस्या हल नही होती। आपसी झगडे मे हमने अपने भाई को मार डाला, तो भाई हल हो गया, पर समस्या हल नही हुई। समस्या हल करने का मतलब यह है कि भाई दोनो मौजूद हैं, लेकिन झगडा समाप्त हो गया। उत्पादन के उपकरण और उत्पादन के साधन अनुत्पादको के हाथ में नही जाने चाहिए, इतना ही पर्याप्त नही है। इतनी क्रान्ति तो हमें लेनिन सिखा गया, मार्क्स सिखा गया।

लेकिन इतने मे ही काम नही चलेगा। हमें इससे आगे बढना होगा। गाधी को मारो तो भी फाँसी, भिखारी को मारो तो भी फाँसी—इतना कानून कर सकता है। लेकिन भिखारी के शरीर को पवित्र मानूँ, मानव-शरीर मानूँ और जब तक भिखारी नही खा रहा है, तब तक मैं दूध, घी खाता भले ही रहूँ, लेकिन बेचैनी बनी रहे कि यह मैं ठीक नही कर रहा हूँ, यह करुणा और यह सहानुभूति कोई विज्ञान, कोई राजनीति, मेरे मन में पैदा नही कर सकती। यह है 'भलाई की विधायक प्रेरणा'। इसे '**सांस्कृतिक मूल्य**' कहते है। यह जो प्रेम की प्रेरणा है, सहानुभूति की प्रेरणा है, इस प्रेरणा को कौन जागृत कर सकता है? विज्ञान यह नही कर सकता है और न राजनीति ही।

आज की समस्या

आज की समस्या क्या है? रूस और अमेरिका, दोनो एक-दूसरे से डरते है और दोनो एक-दूसरे के प्रति संदेह रखते हैं। इस भय का निराकरण आप कैसे करेंगे? कायरता का निराकरण हथियार कर सकेगा? नहीं, हथियार कायरता का निवारण कर नही सकता। कायरता का निवारण कानून कर सकेगा? नही, कानून आपको रक्षण देता है, पर वह हिम्मत थोडे ही दे सकता है। समस्या ही यह है कि रूस के दिल का डर कैसे निकले, अमेरिका के दिल का डर कैसे निकले! **एक नागरिक और दूसरे नागरिक के बीच जो भय है, वह भय यदि समाप्त होता है, तो 'लोकशाही' आती है। राजनीति में प्रशासन होता है और लोकनीति में अनुशासन।**

अब क्रान्ति की प्रक्रिया हुई—शासन की ओर से अनुशासन की ओर चलना। राजनीति में सत्ता होती है, लोकनीति में स्वतन्त्रता होती है। सत्ता में नियन्त्रण होता है, स्वतन्त्रता में संयम होता है। राजनीति में अधिकार की स्पर्धा होती है, लोकनीति में कर्तव्य का आचरण होता है। इसका क्रम यही है कि शासन की ओर से अनुशासन की ओर चलो, सत्ता की ओर से स्वतन्त्रता की ओर चलो, नियन्त्रण की ओर से संयम की ओर चलो और अधिकारो की स्पर्धा की ओर से कर्तव्य के आचरण की ओर चलो।

पूँजीवाद के दोष

पूँजीवाद में बदला जितना अधिक होगा, सम्पत्ति उतनी बड़ी होगी। पूँजीवाद मानता है कि मेहनत सम्पत्ति है। लेकिन पूँजीवाद का दोष यह है कि जिसकी मेहनत है, उसकी दौलत नही है। सूत्ररूप में कहें, तो पूँजीवाद में मेहनत मजदूर की रहती है, दौलत मालिक की। पूँजीवाद शुरू होता है सौदे से, बढ़ता है सट्टे से और चरम सीमा पर पहुँचता है जुए से। सौदा, सट्टा और जुआ 'पूँजीवाद' कहलाता है। इसमें से तीन खराबियाँ पैदा होती हैं—संग्रह, भीख और चोरी।

समाजवाद का जन्म

संग्रह, भीख और चोरी, पूँजीवाद के इन तीन दोषो को मिटाने के लिए समाजवाद आया। समाजवाद का पहला कदम था—**जिसकी मेहनत, उसकी दौलत**। मार्क्स ने लिखा कि 'श्रमिक का जीवन समृद्ध करने का साधन परिश्रम होगा'। मार्क्स का एक सूत्र था कि जो मेहनत करता है, उसकी दौलत हो। उसका दूसरा सूत्र था—**मेहनत हरएक की, दौलत सबकी। इसे 'सामुदायिक सम्पत्ति'** कहते है। इसमें से दो चीजें पैदा हुई। एक का नाम है, 'कल्याणकारी राज्य' और दूसरे का नाम है, 'राज्य-स्वामित्व'। व्यक्ति की साहूकारी बन्द हो गयी, समाज की साहूकारी, समाज की दूकानदारी शुरू हो गयी। इसलिए इससे आगे चलना होगा। आगे चलने का मतलब यह होगा कि सामुदायिक संग्रह का भी लोभ छोड देना होगा। तो अब हमारा अगला कदम यह होगा कि **मेहनत इन्सान की, दौलत भगवान् की**। उस हालत में श्रम हमारा व्रत हो गया। श्रम में भी पवित्रता आ गयी। सोवियट-संविधान में लिखा है कि काम प्रतिष्ठित भी हो और सुखकर भी। यन्त्र ने काम को सुकर तो बना दिया, लेकिन काम की प्रतिष्ठा बढा देना, उसे पवित्र बना देना और सुकर ही नही, सुखकर बना देना, उसके हाथ की बात नही है।

मानवीय विभूति का विज्ञान

किताब पढनेवाला और झाड़ू हाथ में रखनेवाला, दोनो बराबर हैं, ऐसा राज्य कर सकता है। वह दोनो को एक वेतन दे सकता है, लेकिन प्रो० राममूर्तिजी अपने हाथ में झाड़ू लेकर पाखाना साफ करें, ऐसा कराना राज्य के हाथ में नही है। झाड़ू लेनेवाला और वे समान रूप से प्रतिष्ठित हैं, यह जो वर्ग-भेद है, इसका निराकरण कोई राज्य नही कर सकता। काम को प्रतिष्ठा तभी मिलेगी, जब श्रम हमारा व्रत हो जायगा और हम समझेंगे कि मेहनत इन्सान की होगी, दौलत भगवान् की। '**सबै भूमि गोपाल की, सम्पति सब रघुपति कै आही**।' सम्पत्ति केवल समाज की नही रहेगी, क्योकि समाज को हमने मनुष्यो का सगठित स्वार्थ समझ लिया है। स्वार्थ विशाल होने से, सगठित होने से, वह निःस्वार्थ नही बन जाता। इतना हम समझ लें, तो सृष्टि की ओर देखने की हमारी दृष्टि बदल जायगी। यह पृथ्वी केवल उत्पादन के साधनो का भडार, 'वसुधरा' नही रहेगी, यह धरती 'माता' बन जायगी। 'वसु' का मतलब है धन। वसुधरा वह है, जिसमें धन भरा हुआ हो। '**नानारत्ना वसुधरा**'। अनन्त रत्न उसमें भरे हुए हैं, सम्पत्ति का भडार है। यह पृथ्वी केवल सम्पत्ति का भडार नही है। कालिदास ने हिमालय को 'देवात्मा' कहा है। एक चतुर व्यापारी कहता है कि यहाँ तो इतनी बर्फ है, इसलिए आइसक्रीम की फैक्टरी खोलता हूँ। इसे कहते हैं प्राकृतिक साधनो का विदोहन। कठिनाई यही है कि हम सृष्टि को अपनी सहयोगिनी नही बनाते। सृष्टि

हमारी सहयोगिनी होनी चाहिए। सृष्टि में छिपे हुए भडारो का आविष्कार विज्ञान ने किया। पर, सृष्टि को अपनी सहयोगिनी बना लेना विज्ञान के बूते के बाहर है। इसलिए मैंने कहा कि सृष्टि को विभूति बनाना होगा। इसे मैंने **'मानवीय विभूति का विज्ञान'** कहा। जिस तरह सृष्टि विभूति है, उसी तरह देश विभूति है। मिस्र पर इग्लैंड और फ्रास आक्रमण न करे, इतनी बात आपने कही, यह प्रेरणा कहाँ से आयी? भूमिमात्र ही अनाक्रमणीय है, यह प्रेरणा आप कहाँ से लायेंगे? आक्रमण की धमकी से भावात्मक प्रेरणा नही मिलती। सह-अस्तित्व पर्याप्त नही है। हीग और कपूर एक ही डिबिया में रख दे, तो सह-अस्तित्व तो होगा, पर एक की गध दूसरे में नही जायगी। प्रश्न यही है कि इसमें भ्रातृत्व की, प्रेम की भावरूप प्रेरणा कहाँ से आयेगी? सर्वोदय कहता है कि मनुष्य को विभूति मानने से आयेगी। एक नागरिक दूसरे नागरिक के शरीर को पवित्र माने। इतना ही नही, मनुष्य के मकान को हम जिस तरह अनाक्रमणीय मानते हैं, उसी तरह से भूमि को भी पवित्र मानना होगा। मेरे मकान मे आप न घुसे, यह कानून है। लेकिन मेरे मकान मे आग लगे, तो आप बुझाने आयें, यह कहाँ का कानून है? यह तभी होगा, जब आप मेरे मकान को उतना ही पवित्र मानेंगे, जितना भगवान् के मन्दिर को मानते है। यह भूमि अनाक्रमणीय तब होगी, जब इस भूमि को हम भगवान् की विभूति मानेंगे।

जीवन का सर्वोदय-दर्शन

स्त्री अनाक्रमणीय कब होती है? जब वह माता बन जाती है। मनुष्य अनाक्रमणीय कब बनता है? जब वह विभूति बन जाता है। भूमि अनाक्रमणीय कब बनती है? जब वह विभूति बन जाती है। ऐसे मूल्यो की जब स्थापना होती है, तब विज्ञान का स्वरूप बदल जाता है। विज्ञान क्रान्तिकारी बन जाता है। लोकनीति क्रान्तिकारी बन जाती है।

उसी तरह से समय की भी बात है। प्रो० राममूर्तिजी यहाँ रोज गवाते हैं **'साँस-साँस में जीवन गुजरे!'** लाग फेलो ने लिखा है—"अपने हृदय की हर धडकन के साथ मैं मसान की तरफ जा रहा हूँ।" यह तो 'जीवन गुजरे' की बात है। दूकानदार कहता है, "समय ही धन है।" वकील साहब के पाँच मिनट के लिए एक हजार रुपये, डॉक्टर साहब के दस मिनट के लिए चौसठ रुपये। मास्टर साहब एक हफ्ते में ३० घण्टे पढाते है, उसके लिए ढाई सौ रुपये। इस तरह समय सुवर्ण-तुला पर तौला जाता है। समय हमारे जीवन का एक द्रव्य बन जाता है। वह जीवन का एक कच्चा माल, एक उपकरण बन जाता है। लेकिन समय ही जीवन है। **'साँस-साँस में जीवन गुजरे!'** यो हम देखते है कि जीवन समय का बना हुआ है। ऐसी हालत में समय एक विभूति का रूप ले लेता है। काल विभूति बन जाता है। तुलसीदासजी ने लिखा है कि **'काल काहि नहिं खाय!'**

काल किसे नही खाता ? भगवद्गीता मे कहा है—**कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो** ' 'लोक-क्षय करने के लिए में काल बनकर आता हूँ ।' और लोगो को जिलाने के लिए मैं जीवन का उपादान बनकर आता हूँ । घडा जिस तरह से मिट्टी का बना हुआ होता है, उसी तरह जीवन समय का बना हुआ होता है । समय जीवन का उपादान बनकर जब आता है, तब समय विभूति बन जाता है ।

इस प्रकार मनुष्य विभूति बन गया, धरती विभूति बन गयी, सृष्टि विभूति बन गयी और समय विभूति बन गया । यह जीवन का **'सर्वोदय-दर्शन'** कहलाता है । **सर्वोदय-दर्शन का अर्थ यह है कि जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब हमारे जीवन की विभूतियाँ बनेंगी ।** ऐसा नही होगा, तो सभी जगह सघर्ष होगा । विज्ञान की 'मनुष्य ने प्रकृति पर कैसे विजय पायी' नामक अंग्रेजी पुस्तक में पढा था कि सृष्टि से लड़ाई में जीतो । जमाने से लडाई है, उसे भी जीतो । मनुष्य से लडाई है उसे भी जीतो । अपने से लडाई है, तो उसे भी जीतो । जहाँ देखो, वहाँ लडाई ही लड़ाई दीखती है । जीवन की विभूति बनकर कोई नही आता । और यहाँ सर्वोदय में सर्वत्र सामजस्य ही सामजस्य है ।

क्रान्ति का 'विभूति-योग'

मान लीजिये कि शोभा बहन गाने बैठी है । हारमोनियम से उनके स्वर की लडाई होती है, हारमोनियम की तानपूरे से लडाई होती है, तानपूरे की तबले से लडाई होती है और इन सबकी मिलकर हमारे कान से लडाई होती है । भला यह सगीत कहलायेगा ? सगीत का मतलब ही यह है कि सहगीत और समगीत हो । उसका ताल तानपूरे से मिलता है । तानपूरे का स्वर हारमोनियम से मिलता है । तीनो का स्वर मिलकर शोभा बहन के गले से मिलता है । ये सब मिलकर हमारे कान में प्रतिध्वनित होते हैं, तो हृदय की तन्त्री बजने लगती है । इसलिए सगीत की गणना ललित कला में होनी है, नही तो उसे ललित कला कौन कहता ?

अब जो क्रान्ति होगी, वह ललित कलात्मक ही होगी । जीवन में सवादित्व आयेगा सगीत आयेगा । विज्ञान विभूति बनकर आयेगा, साहित्य विभूति बनकर आयेगा, समय विभूति बनकर आयेगा, धरती विभति बनकर आयेगी । यह है हमारा—'विभूति-योग' । भगवद्गीता की तरह क्रान्ति में भी एक 'विभूति-योग' होता है । जीवन के साधन और उपकरण भी उस विभूति के विकास के लिए होगे ।

मनुष्य के तीन लक्षण

उपकरणवाद अलग है, उपकरणशीलता अलग है । विज्ञान ने मनुष्य के तीन लक्षण बतलाये । एक लक्षण है—मनुष्य विवेकी प्राणी है अर्थात् विशेष बुद्धिमान् । विवेक

और बुद्धिमत्ता में अन्तर है। बुद्धिमत्ता पशु मे भी है, साँप में भी है और हाथी में भी है। परन्तु विवेक केवल मनुष्य मे ही है। यह मनुष्य की आध्यात्मिक व्याख्या है।

मनुष्य का दूसरा लक्षण यह है कि मनुष्य के पास भाषा है और दूसरे प्राणियो के पास भाषा नही है। दूसरे प्राणी मार-पीट कर सकते हैं, लेकिन भाषा उनके पास नही। वे गाली नही दे सकते। बहुत हुआ, तो थोडा गुर्रा लेंगे। जेल में कुछ लोग मौन-व्रत लेते थे। पर मौन मे वे लिखकर एक-दूसरे को गालियाँ देते थे। हम लोगो ने कहा कि मौन में लिखना भी बन्द होना चाहिए। तब वे एक-दूसरे को घूँसे दिखाते थे और कभी-कभी उनमें कुश्ती भी हो जाती थी। लेकिन उनका मौन नही टूटता था। पशु यहाँ तक पहुँच जाता है। मनुष्य के पास भाषा है, जिससे वह आशीर्वाद भी दे सकता है और शाप भी दे सकता है, शुभ कामना भी कर सकता है और कोस भी सकता है। मनुष्य और पशु मे यह दूसरा अन्तर है।

मनुष्य का तीसरा लक्षण यह है कि उसका अँगूठा सारी उँगलियो को छू सकता है। इसमें हुनर और कारीगरी है। यह हुनर और कारीगरी मनुष्य की उँगलियो में है। इससे मनुष्य 'उपकरणपटु' हुआ।

यन्त्र के पक्ष-विपक्ष का प्रश्न

कुछ लोग पूछते हैं कि आप यन्त्रो के पक्ष मे हैं या यन्त्रो के विरोध मे हैं? भला यह भी कोई सवाल है! जड वस्तु का क्या पक्ष और क्या विरोध? पहाड पहाड ही है। उसका क्या पक्ष और क्या विरोध? नदी नदी ही है। नदी का क्या पक्ष और क्या विरोध? ऐसे प्रश्न का क्या जवाब दिया जाय! यन्त्र से हमारा कोई वैर है क्या? यन्त्र के पक्ष और यत्र के विरोध का कोई प्रश्न ही नही उठता। हमने तो यह माना है कि मनुष्य उपकरणपटु है। अर्थात् अपनी इन्द्रियो और अपने अवयवो की शक्ति को बढाने की सिफत मनुष्य मे है। यह सिफत दूसरे किसी प्राणी में नही है। अपनी इन्द्रियो की और अपने अवयवो की शक्ति को बढाने की कला ही 'यत्रविज्ञान' कहलाती है।

बन्दर से हमारा पाला पड जाता है, वह हमे नोच लेता है। कुछ जानवर ऐसे हैं, जो सीग होने के कारण कुछ दूर से हमें मार देते हैं। इनका सामना करने का हमारे पास कुछ साधन नही है और वह हमारी पहुँच में भी नही है। हम नीचे बैठे है, कौआ आकर ऊपर से बीट कर देता है। हम उसका कुछ नही बिगाड़ सकते। यह देखकर मनुष्य ने क्या किया? उसने देखा कि पत्थर फेंकने से सौ गज जाता है, तो गुलेल ली। लाठी पास में ही मार सकती है, तो दूर के लिए तीर-कमान लिया। उँगली से जमीन नहीं खोद सकता, तो सब्बल और कुदाली ली। यह उपकरणशीलता मनुष्य की संस्कृति

है। इसलिए यह कहना गलत है कि सर्वोदय यन्त्रो के खिलाफ है। कोई भी सास्कृतिक प्रवृत्ति उपकरणो के खिलाफ नही हो सकती।

उत्पादन की प्रक्रिया कैसी हो ?

'यत्रविद्या' से हमारी माँग है कि वह अभाव की पूर्ति करे, लेकिन कला की अभिवृद्धि करे। कमी को पूरा करे और हुनर को वढाये। कोई कहे कि हम अभाव को तो पूरा कर देगे, पर कला छीन लेगे, तो ऐसा उपकरण हमारे काम का नही। वटन दवाने से भोजन वन जायगा। वटन दवाने से थाली आ जायगी। ठीक है। पर वटन दवाने से खाया तो नही जा सकता। उससे जीभ में कोई रुचि नही आयेगी। जीभ में स्वाद आना चाहिए। वटन दवाने से सत्तू वन सकता है। पर राममूर्तिजी कहते है कि "हमने खुद सत्तू पीसकर अपने हाथ से आपके लिए लड्डू वनाया है।" "आपका वनाया हुआ है, तव तो इसमें जो स्वाद है, वह और किसी लड्डू में हो ही नही सकता!" इसे 'उत्पादन मे मानवीय स्पर्श' कहते हैं। 'उत्पादन अगर गुमनाम हो जाता है, तो मनुष्य भी गुमनाम हो जायगा।' सोचने की वात है कि लोकतन्त्र में मनुष्य को गुमनाम वनाना है या नामवर वनाना है। **उत्पादन की प्रक्रिया से व्यक्तित्व के विकास का अर्थ यह है कि मनुष्य खो न जाय। उसकी विभति का विकास होना चाहिए। मनुष्य की विभूति के तीन अंग हैं : श्रम, कला और वन्धुत्व या सहानुभूति। इन तीनो का विकास उत्पादन से होना चाहिए।**

दयानन्द सरस्वती पजाव की वडी सख्त सर्दी में एक स्टेशन पर नगे वदन वैठे हुए थे। सिर से पैर तक ऊनी वस्त्रो में परिवेष्टित एक वावू साहव पहुँचे। इनको उन्होने देखा, तो हैरान हो गये। पूछने लगे कि "आपको ठड नही लगती ? आप नगे वदन वैठे हुए हैं!" दयानन्द ने कहा, "जी, नही लगती।" अव वे और हैरान हो गये और आँखे फाड-फाडकर देखने लगे। दयानन्द ने उनसे पूछा, "तुम्हारे गालो में ठड नही लगती ? तुम्हारी आँखो मे ठड नही लगती ?" कहने लगे, "नही।" पूछा, "क्यो ?" कहने लगे कि "आदत हो गयी है।" "हमारे सारे शरीर को ठड सहने की आदत हो गयी है।" श्रम से मनुष्य के शरीर में सहन-शक्ति वढनी चाहिए। उत्पादन में मनुष्य की सहनशीलता वढाने की शक्ति होनी चाहिए। शारीरिक शक्ति भी उसकी वढे। आज उत्पादन में तीन तरह के लोग है · मजदूर, वावू और विशेषज्ञ। तीनो का अन्तर कम करना होगा, तभी सुसम्वद्ध मानवीय विभूति आयेगी। कुशल और अकुशल के वीच के अन्तर तथा व्यवस्था और श्रम के वीच के अन्तर को कम करने पर समाजवादी जोर देते हैं। कम्युनिज्म भी कहता है कि शल श्रम और अकुशल श्रम के अन्तर को कम करो, व्यवस्था और श्रम के अन्तर को कम करो। तो इन तीनो के अन्तर को कम

करना है। तीनो की विभूति का सामजस्य करना है। इसको करने के लिए हम कहते हैं कि उत्पादन में ही ऐसी योजना हो कि उसमें श्रम भी करना पड़े और उसीमें से कला का भी विकास हो।

पूँजीवादी उत्पादन

तीसरी चीज, वह अनामिक न हो। राममूर्तिजी सत्तू का लड्डू बनाकर लाते है! कहते हैं, हमारे यहाँ की मकई है, हमने अपने हाथ से पीसी है। हमारे यहाँ की गाय का घी है। लड्डू हमने बनाया है। अब उस रुचि की कोई सीमा है? बाजार की पकौ-डियो में यह बात कहाँ? हम कहते हैं कि "ये हमसे खायी नही जाती।" दूकानदार कहता है, "खायी नही जाती, तो मत खाओ।" "तो तूने किसलिए बनायी थी ?" "खाने के लिए बनायी थी? आपके पैसे मिल गये, बस पकौडियाँ सफल हो गयी! हमारी पकौडी की सफलता यह है कि पकौडी के बदले में पैसे आ जायँ।" इसे 'पूंजीवादी उत्पादन' कहते है। यहाँ विनिमय के लिए, मुनाफे के लिए उत्पादन होता है।

उपयोग के लिए उत्पादन

यहाँ भोजन की घटी बजती है। हम लोग भोजनालय में पहुँचते हैं। सबको रोटियाँ परोसी जाती हैं। हमारी बगल में बिना दाँतवाले एक भाई बैठे हुए हैं। वे कहते हैं कि "यह रोटी तो खायी नही जाती।" "क्यो?" "मेरे दाँत ही नही हैं।" भोजन करनेवाले ५० आदमी थे, उन आदमियो के हिसाब से रोटियाँ बनी है। यहाँ लाभ के लिए उत्पादन नही है। उपयोग के लिए उत्पादन है। जितने आदमी थे, उतनो की रोटियाँ बनी हैं। अब सवाल है कि जिनसे रोटी नही खायी जाती, उनके लिए क्या करें। तो एक विकल्प दिया—"दलिया ले लें।" यह विकल्प ही मिला, रोटी नही मिली।

घर में माँ से कहते हैं कि यह रोटी हमसे खायी नही जाती, तो वह तीन तरह की रोटी बनाती है। बगैर दाँतवाले के लिए नरम रोटी, कच्चे दाँतवाले के लिए खस्ता और पक्के दाँतवाले के लिए करारी।

हमारे छात्रालय मे रविवार के दिन विशेष भोजन बनता था। उस दिन हमारा रसोइया पहले ही अपने लिए भोजन निकाल लेता था। मैं मेस-मैनेजर बना, तो उससे पूछा कि "तुमने अपने लिए अलग निकालकर क्यो रख लिया?" बोला, "तुम लोग शैतान होते हो, कही तुममे खाने की होड लग गयी, तो हमारे लिए कुछ नही बचेगा। इसीलिए हमने अपने लिए निकालकर रख लिया!"

विश्व-कुटुम्ब-योग

माँ घर में भोजन बनाती है। हम भोजन कर रहे है। कुछ मित्र भी आ जाते हैं। हम खूब तारीफ करते हुए खा रहे है कि आज तो ऐसी बढिया चीज बनी है कि खाते

ही बनती है। हम सब भोजन साफ कर देते हैं। माँ के लिए कुछ भी नही बचता। वह पडोसिन से जाकर कहती है, "सुनती हो, आज ऐसा बढिया भोजन बना था कि मेरे लिए कुछ नही बचा !"

यह मानव के लिए उत्पादन कहलाता है।

जहाँ भूख है, वहाँ उत्पादन चाहिए। जहाँ कमी है, वहाँ अवश्य अधिक उत्पादन किया जाय। लेकिन प्रश्न यह है कि उत्पादन किसलिए किया जाय ?

विक्री के लिए, विनिमय के लिए उत्पादन—'पूँजीवाद'।

उपयोग के लिए, उपभोग के लिए उत्पादन—'समाजवाद'।

पडोसी के लिए उत्पादन—सर्वोदय। गाधी ने इसे 'स्वदेशी धर्म' कहा।

"यह लड्डू किसके लिए है ?"

"दादा के लिए।"

"यह आटा क्यो पिस रहा है ?"

"दादा मेहमान आया हुआ है।"

इस पीसने में भी चाव है, बनाने मे भी चाव है। अब प्रेरणा खोजने का प्रश्न ही कहाँ है ? श्रम की प्रेरणा खोजने और कही नही जाना पडेगा। "क्यो भाई, कपडे लेकर क्यो दौड रहे हो ? हमारे पिता के कपडे है। धोवी कही कपडा फाड न डाले, इसलिए इसकी निगरानी रखनी पडेगी।" इसे 'विश्व-कुटुम्ब-योग' कहते है।

इसका आरम्भ ग्रामीकरण में है, ग्रामराज्य में है। ग्राम में हर मनुष्य एक-दूसरे से परिचित है। यहाँ अपने लिए उत्पादन कोई नही करता। सब एक-दूसरे के लिए उत्पादन करते हैं। इससे सारा ग्राम एक कुटुम्ब बन जाता है। ग्राम कुटुम्ब बनता है, तो 'विश्व-कुटुम्ब-योग' आ जाता है। 'टेक्नालॉजी' मे यह प्रेरणा नही रही।

यान्त्रिक उत्पादन की प्रेरणाएं

आज तक यान्त्रिक उत्पादन में तीन प्रेरणाएँ रही . व्यापारवाद, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद। अब बाजार मे व्यापार बहुत कम रह गया है। यन्त्रवादी लोग कहते हैं कि अब दुनिया में बाजारो की खोज कोई राष्ट्र नही करेगा। चीन उत्पादन में स्वयपूर्ण हो गया। कल अगर भारत उत्पादन में स्वयपूर्ण हो गया, अफ्रीका उत्पादन में स्वयपूर्ण हो गया, तो कौन कहाँ बाजार खोजेगा ? आज जो होड है, वह बाजारो की नहीं है। प्रतियोगिता इस बात की है कि यन्त्र, यन्त्र-विशारद और यन्त्र-विद्या, तीनो इन देशो को कौन ज्यादा देता है ? शिवि, दधीचि के वशज है ये रूस और अमेरिका, जो कपोत के रक्षण के लिए अपना समूचा शरीर दे देनेवाले है ! ये लोग आपको यन्त्र भी देंगे, यन्त्र-विशारद भी देंगे और यन्त्र-विद्या भी देंगे। इसलिए कि आप उनकी बराबरी

पर पहुँच सकें ! यह सोचने की चीज है और गहराई मे जाकर सोचने की चीज है। दुनिया में बाजारो का अर्थशास्त्र समाप्त हो रहा है। अमेरिका जितना उत्पादन करता है, उसमें से कुछ उत्पादन आपको मुफ्त में दे सकता है, इसलिए अमेरिका का अर्थशास्त्र चल रहा है, नही तो चल नही सकता। जैसे, उसके पास इतना गेहूँ हो गया कि अमेरिका-वाले उतना खा नही सकते। और अगर खा सकते है, तो गेहूँ के दाम सस्ते हो जाते हैं। गेहूँ के दाम सस्ते हो जाते हैं, तो किसान मरता है। गेहूँ के दाम सस्ते न हो, अमेरिकावाले गेहूँ भी खायँ, तो फिर बचे हुए गेहूँ का क्या करे? हिन्दुस्तान के लोगो की जठराग्नि पर्याप्त प्रदीप्त है, उसमे आहुति दे दें। यह अन्न-यज्ञ हो रहा है। आप जिसे विनिमय और विक्रय का अर्थशास्त्र कहते हैं, वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे ज्यादा दिन चलनेवाला नही है। आज उसका स्वरूप, एक तरह से विनिमय का ही है। यानी जो अप्रगतिशील राष्ट्र है, उनसे कच्चा माल और ईंधन ले लो और उन्हे यन्त्र दो, यान्त्रिक उत्पादन के साधन दे दो। कल जैसे मिस्र खडा हो गया, ऐसे एशिया के दूसरे देश यदि खडे हो जाते है, तो कच्चा माल मिलना बन्द हो जाता है। ईंधन, पेट्रोल, लोहा, कोयला मिलना बन्द हो जाता है। यह अगर बन्द हो जाता है, तो अर्थशास्त्र समाप्त हो जाता है। तो बाजार से साम्राज्यवाद का और उपनिवेशवाद का 'गति-तत्त्व' गया।

विचार के क्षेत्र में संघर्ष

गति का तत्त्व अब एक ही रह गया है—'कम्युनिज्म-विरोध' और 'कम्युनिज्म का प्रतिपादन'। हम अब बाजार से उठकर विचार के, दिमाग के क्षेत्र मे आ गये है। आज का जो सघर्ष है, वह 'वाद' का है, विचार का है। इसमे एक तरफ लोकतन्त्र खडा है, जिसे आप कम्युनिज्म-विरोध कहते हैं। लोकशाही खडी है कम्युनिस्ट-विरोधी छावनी मे। इसका परिणाम यह हुआ है कि कम्युनिज्म का विरोध करते-करते वह पूंजीवाद की छावनी मे पहुँच गयी। उस छावनी में पहुँचने से लोकशाही कल्याणकारी राज्य बनकर रुक गयी है। मजदूर को अच्छा खाना, अच्छा कपडा, अच्छा मकान मिल जाय, यही तक आकर वह रुक गयी है। इससे आगे कि मजदूर और मालिक ही न रहें, ऐसी प्रेरणा निकल गयी। क्यो? इसलिए कि कही ऐसा न हो कि कम्युनिज्म आ जाय। कही कम्युनिज्म न आ जाय, यह डर क्यो है? इस डर के लिए क्या कोई आधार है?

लोकशाही की दुर्दशा

आज ससार की एक-पचमाश धरती और ३५ फीसदी जनसख्या कम्युनिस्टो के हाथ मे है। इसलिए कम्युनिस्ट कहते हैं कि अब न तो लडाई की जरूरत है, न हिंसा की ही। **अब तो पार्लियामेण्टरी पद्धति से और अहिंसा से क्रान्ति हो सकती है।** यह बात गाधी नही, विनोबा नही, ख्रुश्चेव कहता है। इसलिए कम्युनिस्टो ने एशियाई देशो की राष्ट्रीयता के साथ अपने को जोड दिया। उधर अमेरिकन पूंजीवाद के साथ सोशलिज्म

का गठबन्धन हो गया । इसलिए लोकशाही का कदम आगे नही बढ रहा है। विनोबा कहते हैं कि लोकशाही को काचन की सहेली नही बनने देना चाहिए। वह सम्पत्ति की टहलनी न बने । आज आप और हम बुद्धिमान् हैं। लेकिन हमारी बुद्धि का क्या हाल है? हमारी बुद्धि सम्पत्ति की टहलनी है, तलवार की दासी है और वैभव की अभिसारिका है । हमारी बुद्धि की जो हालत है, वही लोकशाही की हालत है । क्योकि आखिर लोकशाही है किसकी?—आपकी और मेरी । आज की लोकशाही में एक दूसरा दोष यह है कि उसे बहुमत के आधार पर चलना पडता है और साधारण नागरिक मे लोकहित की प्रेरणा बहुत मन्द होती है और यदि वह थोडा-बहुत खुशहाल हो गया ो, तब तो बिलकुल ही नही होती। किसान और मजदूर को यदि थोडा-सा अच्छा भोजन मिल जाय, अच्छा मकान मिल जाय, पहनने के लिए जितना चाहिए उतना कपडा मिल जाय, तो फिर यदि आप उससे कहे कि समाजवाद की स्थापना करनी है, वर्गों का निराकरण करना है, तो वह कहने लगेगा कि खाक करना है! तुम्हारे दिमाग मे कीडा है! मौजूदा सरकार भौतिक सुख का आश्वासन दे सकती है, पर दूसरा तो ऐसा आश्वासन भी नही दे सकता । काग्रेस कुछ नही कर सकती, यह बात लोग जानते है, पर दूसरा कोई कुछ कर सकता है, इस बात का लोगो को भरोसा नही है । इग्लैंड में भी यही हालत है । मजदूर यह जानते है कि 'स्थितिवादी' कुछ नही करेंगे । जनता जानती है कि कही कम्युनिज्म न आ जाय, इस डर से मजदूर कुछ नही करेंगे । इसलिए दोनो के कार्यक्रम करीब-करीब समान है । हमारे यहाँ जितने दल हैं, सबके प्रोग्राम करीब-करीब समान है । यह बात दूसरी है कि उसी बात को कुछ जोर से कहेंगे, कुछ धीरे से कहेंगे, पर वे सब कहेंगे एक ही बात । लेकिन कार्यक्रम में कोई मूलभूत अन्तर नही है। इसका कारण समझ लेने की आवश्यकता है। पार्लियामेंटरी पद्धति की यह मर्यादा है कि वह बहुमत के आधार पर ही काम कर सकती है।

विनोबा का मार्ग

साधारण नागरिक मे जन-सेवा की या लोकहित की प्रेरणा हमेशा प्रधान नही होती । वह प्रेरणा जागृत कैसे हो, इसका रास्ता विनोबा दिखला रहे है । जीवन भी बाँटो, मृत्यु भी बाँटो, गरीबी भी बाँटो, अमीरी भी बाँटो, काम भी बाँटो, आराम भी बाँटो, मालकियत भी बाँटो और मेहनत भी बाँटो । लेकिन कैसे ?—स्वय-प्रेरणा से । स्वय-प्रेरणा का कारण मैं बता चुका हूँ । आज सत्ता की स्पर्धा है, इसलिए उसका 'गति-तत्त्व' समाप्त हो गया । यह स्पर्धा इसीलिए है कि आप अपनी मर्जी से जो नही कर रहे हैं, वह जबरदस्ती आपसे कराया जाय । सत्ता के प्रयोग का यही मतलब है कि जो चीज आप स्वय-प्रेरणा से नही करना चाहते, उसे मैं बलपूर्वक आपसे करा लूँ । सरकार वह औजार है, जिससे आप लोगो से उनकी इच्छा के विरुद्ध काम करा लेते है । इस बात

की स्पर्धा है कि वह औजार किसके हाथ मे हो। ताँगे के घोडे को कोई दस कोडे लगाये या कोई पाँच, पर बगैर कोडे के वह नही चलेगा, ऐसा हमने मान लिया है। इसे 'राज्य-निष्ठक्रान्ति' कहते है। यह 'लोकतान्त्रिक क्रान्ति' है, 'लोकसत्तात्मक' क्रान्ति नही। लोकसत्तात्मक क्रान्ति लोगो के पुरुषार्थ से होनी चाहिए। लोग क्रियाशील होने चाहिए। स्वय-प्रवृत्ति लोगो में जागृत होनी चाहिए। इसलिए लोकशाही की बुनियादों को मजबूत करने का एक रास्ता विनोवा हमारे सामने रख रहे हैं। वे कहते हैं कि नागरिक और नागरिक में विश्वास बढ़े, नागरिक का और नागरिक के प्रति जो संदेह है, वह समाप्त हो जाय। वे कहते हैं कि संपत्ति का यदि समाजीकरण नहीं होता है, सम्पत्ति स्वयं-प्रेरणा से भगवान् को समर्पित हो जाती है, तो नागरिक नागरिक के निकट भी आ जाता है और संपत्ति का निराकरण भी हो जाता है। साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और व्यापारवाद, ये तीनो जहाँ समाप्त हो गये, उसके वाद आया किसानो का कम्युनिज्म। तभी तो वह एक अगला कदम है। हम कहते है कि उसे हमें सर्वोदय की लोकशाही में परिणत कर देना है। पर जव हम कहते है कि पार्टी-पद्धति से यह नही होगा, तो लोग हमसे पूछते है कि तुम दूर रहकर क्या करोगे ? हम कहते है कि दूर रहकर सबकी सेवा होगी। हमे एक का नही, सवका सहयोग चाहिए। तव हम सत्ता की स्पर्धा मे कैसे जा सकते है ? हमें तो सवको मित्र और सहयोगी वनाना है, फिर हम किसीको अपना प्रतिपक्षी कैसे वना सकते है ? चुनाव मे, सत्ता की स्पर्धा मे, प्रतिपक्षी तो होता ही है। साथ ही एक महान् भयकर अनर्थ और होता है। वह यह कि एक नागरिक दूसरे नागरिक की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता को मिटा देने मे लग जाता है। सोचने की वात है कि ऐसी लोकशाही से मानवीय मूल्यो का विकास कैसे हो सकता है ? सत्ता की प्रतिस्पर्धा इस लोकशाही में इसलिए है कि आज की लोकशाही पूँजीवाद की वेटी है। सम्पत्ति के लिए स्पर्धा पूँजीवाद का लक्षण है। पूँजीवाद की वेटी ने, आज की लोकशाही ने, सत्ता की स्पर्धा को अपना परम कर्तव्य मान लिया है। हम इस चीज को समाप्त कर देना चाहते है। यह भावरूप विधायक क्रियात्मक कदम है। इसमें किसी तरह का निषेध नही है। सबका स्वागत है। हम सहायता सबकी लेगें, सहायक सबके बनेगे, पर आश्रित किसीके न रहेगें। न तो सम्पत्ति के और न सत्ता के।

तो लोकशाही का सास्कृतिक मूल्य यह माना जायगा कि कोई भी नागरिक एक-दूसरे से न डरे। सभी नागरिक एक-दूसरे का विश्वास करें। नागरिको के बीच का भय और अविश्वास, दोनो का निराकरण हो। इतना ही काफी नही है कि सबको समान वोट हो। नागरिक के 'वोट' मे और नागरिक के वास्तविक 'मत' मे अविरोध होना चाहिए। तभी लोकशाही में पवित्रता होगी।

लोकशाही का आध्यात्मिक मूल्य

मैं मानता हूँ कि पढे-लिखे आदमियो में से ही नेतृत्व आता है। उनकी बुद्धि यदि क्रान्ति की ओर काम कर जाती है, तो इससे देश में एक बहुत बडी शक्ति पैदा होती है। भगवान् की सत्ता और बुद्धि की सत्ता को मैं एक ही समान मानता हूँ। अब इतना काफी नही है कि मैं और आप व्यक्ति के नाते बराबरी पर हो। यह भी आवश्यकता है कि गुणो का भेद होते हुए भी मनुष्य के नाते मेरा और आपका मूल्य एक हो, यानी मानवीय विभूति के नाते हम दोनो समान माने जायँ। यह 'लोकशाही का आध्यात्मिक मूल्य' है। इसे लोकशाही की आध्यात्मिक नीव कहते है। मनुष्य की विभूति ही पर्याप्त नही है, उसके साथ-साथ सृष्टि भी विभूति बननी चाहिए। सृष्टि यदि विभूति बनेगी, तो उतना भी काफी नही है। उसके साथ-साथ समय भी विभूति बनना चाहिए और देश यानी भूमि भी विभूति बननी चाहिए। यह जो साम्ययोगी विभूति-योग है, इससे जीवन संगीत बन जाता है और क्रान्ति एक ललित-कला बन जाती है। इसे हम जीवन का संवादित्व कहते हैं। क्रान्ति को हम एक ललित-कला में परिणत कर देते हैं। अब शस्त्र-प्रयोग मे वीरवृत्ति भी नही रही और दुर्बलो का परित्राण भी नही रहा। इसलिए शस्त्र में सास्कृतिक प्रगति का तत्त्व नही रह गया है। यन्त्र मे भी सास्कृतिक प्रगति का तत्त्व नही रह गया है। मेहनतकशो को आराम और बेकारो को काम, यह तो यन्त्र का बिलकुल प्राथमिक उपयोग है। यन्त्र वस्तुत इसलिए है कि मनुष्य के शरीर और उसके अवयव की शक्ति तथा उसके गुणो का विकास करे। यदि ऐसा न हो, तो उपकरण मे 'गति का तत्त्व' नही रह जाता।

क्रान्ति का अन्तिम कदम

आज अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे से बाजारो का लोप हो रहा है। साम्राज्यवाद समाप्त हो रहा है, उपनिवेशवाद के दिन लद चुके हैं। सामूहिक तानाशाही आ गयी है, लेकिन उसके भी दिन अब ज्यादा नही रहेंगे। क्योकि क्रान्ति अब किसानो की क्रान्ति होगी। एशिया में एशियाई देशो के स्वातन्त्र्य के साथ एशिया और अफ्रीका में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का जो प्रतिरोध हो रहा है, वह क्रान्ति का अन्तिम कदम है। जनता की लोकशाही धीरे-धीरे सर्वोदय की लोकनीति में परिणत होनी चाहिए। नही तो उसमें 'गति का तत्त्व' नही रहेगा।

लोकनीति और राजनीति में मुख्य अन्तर ये है .

१. राजनीति में प्रशासन मुख्य है, लोकनीति में अनुशासन मुख्य है।

२ राजनीति मे सत्ता मुख्य है, लोकनीति मे स्वतन्त्रता मुख्य है।

३ राजनीति में नियन्त्रण मुख्य है, लोकनीति में सयम मुख्य है।

४ राजनीति में सत्ता की स्पर्धा यानी अधिकारो की स्पर्धा मुख्य है और लोक-नीति में कर्तव्यो का आचरण मुख्य है।

उम्मीदवारशाही आज की लोक-नीति है और हमारी लोक-नीति नागरिक की स्वतन्त्र सत्ता है—एक-दूसरे पर भी सत्ता नही।

प्रश्न है कि इसके अनुरूप अर्थनीति क्या होगी ? अर्थनीति मे इतना ही काफी नही है कि स्पर्धा न हो, अर्थनीति में इतना ही काफी नही है कि उत्पादन उपयोग के लिए हो। अर्थनीति में अब यह होगा कि परिश्रम हरएक का होगा, लेकिन श्रम का फल भगवान् का होगा। श्रम मेरा है और फल भगवान् का, यह निष्काम कर्मयोग, कृष्णार्पण योग, हमारी अर्थनीति का, सर्वोदय-अर्थनीति का प्रमुख तत्त्व है। केवल सम्पत्ति और स्वामित्व ही भगवान् का नही, श्रम का फल भी भगवान् का होगा। यह लोकनीति और इसके अनुरूप अर्थनीति ही सर्वोदय की अर्थनीति है। हमे स्मरण रखना चाहिए कि **विज्ञान तटस्थ होता है। मूल्यों की स्थापना करने की शक्ति विज्ञान में नहीं होती। विज्ञान जीवन का बाहरी नक्शा बदल सकता है, संस्कृति का आशय बदलने की शक्ति विज्ञान में नहीं है। शस्त्र और यन्त्र में तो यह शक्ति थी ही नहीं।** इसलिए इन तीनो मे 'गति का तत्त्व' अब नही रह गया है।

असफलता की चिन्ता अवांछनीय

इस प्रयोग की असफलता भी दूसरे प्रयोगो की सफलता से उज्ज्वल होगी। इसमे हम यदि असफल भी हुए, तो भी दुनिया को एक कदम आगे ही ले जायेंगे। हमारी असफलता मुकाम तक भले ही न पहुँचाये, लेकिन बहुत-सी मजिल काट देगी। इसलिए असफलता से डरने की बात नही। समाज के पवित्र मदिर के जो भवन बनेंगे, अटारियाँ बनेंगी, छतें बनेंगी, उनमें जो पच्चीकारी होगी, जो सगमूसा और सगमरमर के पत्थर लगेंगे, वे दूसरो के लिए छोड़ दीजिये। उसकी नीव में जो पत्थर भरने पडेंगे, उनकी आज जरूरत है। जो नीव के पत्थर बनेंगे, उन्हें कोई नही देखेगा। इनके ऊपर नाम भी नही लिखा जायगा। ऐसे पत्थरो की आवश्यकता है और भगवान् की कृपा से आपको वह सद्भाग्य प्राप्त है। सफलता और असफलता का जो विचार करता है, वह कभी सफल नही होता, क्योंकि उसका ध्यान असफलता की ओर रहता है, प्रयत्न की ओर नही रहता। करने की ओर जिसका ध्यान रहता है, उसे कभी-कभी सफलता अपने-आप मिल जाती है।

आँख पर जैसे पलक अपने-आप जुटती है, उस तरह से सफलता प्रयत्न पर अपने-आप जुटती है। हो सकता है कि हम सफल न हो। हो सकता है कि विनोबा भी सफल

न हो, पर असफलता में ही हमारा जीवन कंचन बन जायगा। उसकी कोई चिन्ता करने की जरूरत नहीं है। गांधी सफल नहीं होता, तो क्या हम कहते कि अहिंसा असफल हो गयी, गांधी असफल हो गया? लेकिन देश को तो वह स्वराज्य के दरवाजे तक पहुँचाकर जाता। इसकी आप चिन्ता न करें। आज पुराना वर्ष बीत रहा है। जो बीता, वह हमारे पितरों में शामिल हो गया। पितृलोक में चला गया। वह कोई मुफ्त नहीं गया। आनेवाला वर्ष कल से शुरू होता है।*

* खादीग्राम में शिविरार्थियों के बीच ३१-१२-'५६ का दीक्षान्त भाषण।

सर्वोदय की दृष्टि में जीवन एक विद्या भी है और एक कला भी है। भगवद्गीता के हर अध्याय की समाप्ति पर आता है—**'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म-विद्याया योगशास्त्रे · ।'** अर्थात् ब्रह्म-विद्या भी है और योग-शास्त्र भी है। जीवन यदि केवल शास्त्र है, तो हमारे लिए उसका कोई उपयोग नही।

कला का जन्म

मीमासको ने एकाघ बात का बडा सुन्दर विवेचन किया है। शास्त्र में वाक्य आया, **'अग्निर्हिमस्य भेषजम्।'**—ठड की दवा आग है। भला यह कहने की क्या जरूरत थी? सभी जानते हैं इस बात को। पर शास्त्रकार शराब तो पिये था नही। फिर उसने ऐसी बात क्यो कही? तब कल्पना की कि सामने कोई व्यक्ति खडा होगा, सर्दी में ठिठुर रहा होगा, उसके पास काफी कपडे नही होगे और उस समय घूप भी नही रही होगी। उससे यदि शास्त्र कहता है कि 'ठड की दवा आग है', तो इसका मतलब यह है कि "तू आग के पास चला जा, आग की खोज कर।" यहाँ से कला का आरम्भ होता है। एक विद्या तो हो गयी। आवश्यक ज्ञान हो गया कि आग ठड की दवा है। लेकिन आग कैसे प्राप्त करूँ? आग कैसे जलाऊँ? आग कहाँ मिलेगी? ऐसे विचार वह करने लगता है, उसके बाद वह कोशिश करने लगता है। यह आग का **'योग-शास्त्र'** कहलाता है।

जीवन-कला का उद्देश्य : सहानुभूति

जीवन की कला 'ब्रह्मविद्या' है। उसका मुख्य उद्देश्य है—जीवमात्र के लिए, सृष्टि में जितने प्राणी है, उन सबके लिए समादर। प्राणिमात्र के लिए आदर में सहानुभूति भी आती है। उसकी अनुभूति मेरी अनुभूति हो जाती है।

मान लीजिये, कोई आदमी बीमार है। गले मे गाँठें आ गयी है, बाहर से सूजन दिखाई देती है। वैद्य-डॉक्टर कहते है कि अब इसके हलक के नीचे पानी भी नही उतर सकता। वह बिस्तर पर पडा छटपटा रहा है। आप किसीसे कहते है कि "चलिये, जरा उन्हें देख लीजिये।" वे कहते हैं, "भाई, हमारे लिए कोई दूसरी सेवा बता दीजिये, हम मरीज की कोठरी में नही जायँगे। उसकी हालत हमसे देखी नही जाती है।" सोचने की बात है कि बीमार तो वह है और दु ख इन्हें होता है। इनकी अनुभूति और उसकी अनुभूति एक हो गयी है। उसके दु ख मे ये शामिल हो गये है। **दूसरे के दुःख में शामिल होने की यह जो प्रक्रिया है, उसका नाम है सहानुभूति, जीवमात्र के लिए सहानुभूति।** अंग्रेजी में इसे 'सहानुभूति का अमृत' कहते है। यह जीवन की 'ब्रह्म-विद्या' है।

भूतदया अलग चीज है, सहानुभूति अलग। जो दया का पात्र होता है, उसकी भूमिका कुछ दूसरी होती है। सहानुभूति 'सहजीवन की सद्भावना' है। समाजशास्त्र मे जिसे हम 'जीवन की विद्या' कहेंगे, वह दरअसल सहजीवन की विद्या है। वह विद्या मुझे आपके साथ और आपको मेरे साथ जीना सिखाती है, हमें एक-दूसरे की जिन्दगी में शामिल होना सिखाती है। इसके लिए जिस आचार की जरूरत होती है, उसे हम 'योगशास्त्र' कहते हैं।

पहला कदम कौन उठाये ?

सह-विचार की भूमिका से जब हम जीवन का विचार करते हैं, तब उसका मुख्य लक्षण होता है—सहानुभूति। सुख देने से सुख मिलता है, दु.ख देने से दु ख। जो बोओगे वह काटोगे, जो दिया होगा, सो पाओगे। इसे पारमार्थिक हिसाब कहते है। अंग्रेजी में इने 'सुवर्ण नियम' कहते हैं। इसे हम 'जीवन की कला' कहते है। जीवन का विज्ञान है—'सहजीवन'। जीवन की कला है—सुख देने से सुख होता है, दु:ख देने से दु:ख होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि सुख देने का आरम्भ कौन करे ? अभिक्रम कौन करे ? पहला कदम आप उठाये या मैं ?

मान लीजिये कि मेरा यह विश्वास हो गया है कि फलाँ आदमी बडा होशियार है। जब तक वह कुछ नही करता, तब तक मैं क्यो कदम उठाऊँ ? यह 'प्रतियोगी जीवन' कहलाता है। इस जीवन में अभिक्रम, पहला कदम उठाना, सामनेवाले पर छोड दिया है।

'ताहि बोउ तू फूल'

योग-शास्त्र क्या है ? वह कहता है कि पहला कदम तुम अपनी तरफ से उठाओ। जो व्यक्ति तुम्हारे लिए काँटे बोता है, उसके लिए तुम फूल बोओ। प्रश्न हो सकता है कि ऐसा क्यो करें ? वह काँटे बोता है, तो हम फूल क्यो बोये ?—इसीलिए कि जो बोओगे, वह काटोगे।

व्यवहार-चतुर मनुष्य कहता है, "आपको यदि पैसे लेने हैं, तो पहले रसीद दीजिये, बाद में पैसे लीजिये और यदि पैसे देने है, तो पहले पैसे दीजिये, बाद में रसीद लीजिये।" ऐसा व्यवहार आदमी करेगा, तो दोनो बैठे ही रह जायेंगे। यह अव्यवहार्य है। इसलिए अभिक्रम, पहला कदम हमें उठाना चाहिए। सदाचार का आरम्भ अपने से होता है। पहला कदम कौन उठायेगा ? पहला कदम मै उठाऊँगा। इस अभिक्रम का नाश कभी नही होता। जिसने पहला कदम उठा लिया, उसके लिए कोई खतरा नही है। सदाचार में पहला कदम हम उठायेंगे, जवाबी कदम नही।

सामाजिक जीवन में सदाचार

सन् १९१९ की अमृतसर-काग्रेस में एक ओर था गाधी और दूसरी ओर थे तिलक। तिलक स्वय बहुत कम बोले। समस्या यह थी कि जलियाँवाला बाग मे जो हत्याकाण्ड हुआ, उसमे सरकार की निन्दा की जाय। गाधी ने कहा कि "सरकार की निन्दा तो अवश्य कीजिये, लेकिन उसके साथ-साथ जनता की ओर से जो ज्यादती हुई, उसकी भी निन्दा कीजिये।" राजनेताओ ने कहा कि "यह शख्स भल-भटककर यहाँ आ गया है। यह कहाँ के मूल्य कहाँ ला रहा है? पारमार्थिक मूल्यो को राजनीति में दाखिल करना चाहता है और सरकार की शक्ति को मजबूत करना चाहता है!" बहुत लोगो ने गाधी का विरोध किया, लेकिन मौका कुछ ऐसा था कि प्रतिकार की शक्ति अकेला गाधी ही रखता था।

गांधी में प्रतिकार की शक्ति

एक काल्पनिक कहानी है कि एक बार गाधी, तिलक और गोखले ट्रेन के एक ही डिब्बे मे बैठे हुए थे। डिब्बे के बाहर तख्ती पर लिखा था 'गोरे और नीमगोरे लोगो के लिए सुरक्षित।' गोखले ने कहा कि "यह ठीक नही। मै गार्ड के पास जाता हूँ और और यह तख्ती निकालने के लिए कहता हूँ। यदि वह नही मानेगा, तो मै स्टेशन-मास्टर के पास जाऊँगा, वह भी नही मानेगा, तो मै वाइसराय के पास जाऊँगा।" तिलक ने कहा "ऐसा क्यो करते हो? उनके पास जाने की कोई जरूरत नही। वह तख्ती ही निकाल-कर फेंक दो।" गाधी ने कहा "तख्ती भी रहने दो, और बैठो भी यही! न तो किसीके पास जाने की जरूरत है, न तख्ती निकालने की जरूरत है। इस डिब्बे को इस तरह से सुरक्षित रखने की कोई जरूरत नही है। इसलिए हम यहाँ से नही हटेंगे।"

प्रतिकार करने की ऐसी शक्ति केवल गाधी मे ही थी, और किसीमें थी ही नही। इसलिए सब लोगो को गाधी की बात माननी पडी। ससार के राजनीतिज्ञो ने भिन्न-भिन्न प्रकार से उसकी आलोचना की। लेकिन सदाचार के वैज्ञानिको ने लिखा कि अमृतसर की काग्रेस में सार्वजनिक जीवन मे नैतिकता को दाखिल कराने का अपूर्व प्रयत्न हुआ। राजनीति के इतिहास मे यह अद्भुत अध्याय लिखा गया है।

पहले दो, फिर लो

तुम दूसरो से जो चाहते हो, वह दूसरो को पहले दे दो, बाद में तुम पाओगे। पहला कदम उठाने तक नीतिशास्त्र आ गया है। सुख चाहते हो, तो पहले तुम सुख दो, बाद मे लो। सवा सेर सुख चाहते हो, तो सवा सेर सुख दो। तराजू से तौलकर बिलकुल बराबर दो। **गांधी कहता है, तुम दूसरो से जितना चाहते हो, उससे अधिक दो।** दूसरो

से यदि सवा सेर चाहते हो, तो उन्हें डेढ सेर दो। यहाँ व्याज लेना नही है, व्याज देना है। यह है—सहजीवन का कर्मयोग-शास्त्र ! दूसरे के जीवन में तुम्हें शामिल होना है, अपने जीवन में दूसरे को शामिल करना है।

उपकार : एक सामाजिक मूल्य

मान लीजिये कि मैं रात मे जा रहा हूँ। रिक्शे का धक्का लगने से मै गिर पडता हूँ। मुझे चोट आ जाती है। रामकृष्ण शर्मा इक्के पर बैठकर जा रहे हैं। मुझे देखकर कहते हैं, "दादा, मेरे इक्के में आ जाइये। आपके घर तक पहुँचा दूं। आपको चोट भी आयी है।" अव प्रश्न है कि शर्माजी का मैं वहुत आभारी हूँ। इसका वदला कैसे चुकाऊँ ? क्या मैं ऐसी कामना करूँ कि ऐसा मौका एकाध दिन उन पर भी आये और उस वक्त मैं उनकी मदद करूँ ? क्या यह सदाचार होगा ? लोग तो इसे 'व्यवहार' कहते हैं। लेकिन मैं कहूँगा कि "शर्माजी, भगवान् न करे, और किसी पर यदि ऐसा मौका आये, तो मैं उन्हें ऐसी ही मदद करूँगा।" **यहाँ उपकार एक 'सामाजिक मूल्य' वन जाता है।** इस प्रकार हम सर्वोदय की ओर एक-एक कदम आगे वढ रहे हैं।

हमें दूसरो को अपनी जिन्दगी मे शामिल करना है। दूसरे को सुख देने में सुख होता है और दुःख देने मे दुःख होता है। लेकिन पहला कदम मैं उठाऊँगा। लोगो से तुम जितना चाहते हो, उससे अधिक तुम उन्हें दो। यह सुवर्ण नियम नही है। यह तो जीवन का नकद कलदार है। जीवन के कलदार के लिए सराफे के नियम लागू नही होते। तो पहला कदम तुम उठाओ और फिर जितना चाहते हो, उससे ज्यादा दो। यह लेन-देन नही है, यह परस्पर उपकार नही है। यह सामाजिक मूल्य है। उपकार सामाजिक मूल्य तभी वनता है, जव उसमें प्रत्युपकार नही होता है। उपकार निरपेक्ष होना चाहिए। सापेक्ष उपकार, उपकार नही है। **हम प्रतिदान भी नहीं चाहते और प्रत्युपकार की भी आशा नहीं करते, ऐसा जो उपकार होता है, उसे हम समाज-धर्म कहते हैं। वह सामाजिक मूल्य वन जाता है।**

इन सामाजिक मूल्यो के आधार पर हमें क्रान्ति करनी है। हमारी क्रान्ति का जो तन्त्र होगा, उसकी जो प्रक्रिया और पद्धति होगी, उसका आधार 'उपकार' होगा। उपकार का अर्थ है—अपने जैसा दूसरे को देखना। 'उप' का अर्थ है 'समीप'। अपने नजदीक दूसरे को करना 'उपकार' है।

आदमी नहीं, हैवान !

मैं जव छोटा था, तव एक दिन मेरी वूआ की वेटी छत से गिर पडी। मै डॉक्टर के पास दौडा। मैंने कहा, "मेरी वहन गिर गयी है, वह वेहोश है। आप जरा जल्दी चलिये।" डॉक्टर ने कहा, "मैं अभी-अभी देहात से थका-मांदा आ रहा हूँ।

सिर्फ एक घूंट चाय पीकर अभी तुम्हारे पीछे-पीछे आता हूँ। तुम चलो।" घर पहुँचते ही बूआ ने मुझसे पूछा, "डॉक्टर क्या कर रहा था ?" मैंने कहा, "वह थककर आया था, इसलिए उसने कहा कि एक घूंट चाय पीकर अभी मैं तुम्हारे पीछे-पीछे आता हूँ।" बूआ ने कहा, "हैवान है वह ! उसकी लडकी ऐसे गिर पडती, तो क्या वह ऐसे बैठकर चाय पीता ?" मतलब, **जो दूसरों को अपने जैसा देखता है, उसका नाम है इन्सान। जो दूसरो को अपने जैसा नहीं देखता है, उसका नाम है हैवान।** जो दूसरे को अपने जैसा देखता है, वह परोपकार करता है।

साबित इन्सान कौन ?

हमारी इस क्रान्ति का आदर्श है—साबित इन्सान। ऐसा मानव, जो निरपेक्ष उपकार करता है, जिसमें स्वाभाविक सहानुभूति है, दूसरे का दु:ख देखकर जिससे रहा नही जाता और वह जो कुछ करता है, वह इसीलिए करता है कि उसके बिना उससे रहा नही जाता। जो सदाचार के बदले में कुछ नही चाहता, ऐसे निरपेक्ष सदाचारी मानव की आज दुनिया को खोज है। इसे हम 'उत्तम पुरुष' कहते हैं। यह उत्तम पुरुष निरपेक्ष उपकार कर सकता है। तीन तरह के पैमाने हमारे पास हैं :

१ औसत,

२. शास्त्रशुद्ध सामान्य, और

३ आदर्श।

औसत वह है, जो है सब जगह, लेकिन पाया कही नही जाता। यह एक कल्पना है।

एक बार मैं 'रॉटरी क्लब' में भाषण करने गया। उन्होंने अपनी रिपोर्ट पढकर सुनायी। उसमें लिखा था कि हमारी औसत हाजिरी ८६॥ है। ८६ की हाजिरी तो समझ में आती है, लेकिन ८६॥ की हाजिरी कैसे होगी ? बोले, "औसत है। अर्थात् ज्यादा-से-ज्यादा लोगो की हाजिरी और कम-से-कम लोगो की हाजिरी को मिलाकर औसत निकाला जाता है।"

आज औसत आदमी कही है ही नही। यह कल्पना है। वह आदर्श और शास्त्र-शुद्ध सामान्य—इन दोनो पर निर्भर है। औसत बदलता है। आदर्श की ओर उसकी जितनी प्रगति होती है, उतना ही औसत में हेर-फेर होता जाता है। इसलिए मुख्य वस्तु है 'आदर्श'। आदर्श मानव (पुरुष और स्त्री, दोनो) हमारा मुख्य पैमाना होगा।

क्रान्ति के लिए तीन बातें आवश्यक

जीवन की परीक्षा के निकष या पैमाने बिलकुल सही होने चाहिए। सामाजिक प्रतिष्ठाओं को ही मूल्य कहते हैं। इन सामाजिक मूल्यो का परिवर्तन ही सामाजिक क्रान्ति है। सिर्फ बाहर से समाज को बदल देने का नाम क्रान्ति नही है। पहाड की

जगह तालाब तो भूकप से भी हो सकता है। लेकिन वह क्रान्ति नही है। क्रान्ति के लिए तीन बातो की आवश्यकता है :

१ उद्देश्य,

२. उस उद्देश्य के अनुरूप साधन, और

३. उस साधन पर मानव का पौरुष।

विशिष्ट उद्देश्य से, विशिष्ट साधनो द्वारा मानव के पुरुषार्थ से समाज-परिवर्तन ही क्रान्ति है। रास्ता साफ है, लेकिन कदमो में चलने की ताकत नही है, तो रास्ते से कोई फायदा नही। समाज के बाजार-भाव को बदल देना ही क्रान्ति है।

सामाजिक मूल्यों की कसौटी

सामाजिक जीवन की प्रतिष्ठा को हम 'मूल्य' कहते हैं। प्रामाणिकता उसका पहला लक्षण है और उसकी कसौटी है, अपने जैसा दूसरे को जानना।

हमारे बचपन में हमारे नगर में एक दफा एक नर्तकी आयी थी। वह परदेश से आयी थी। इसलिए स्कूल-मास्टरो ने और पालको ने उसकी कला देखने की इजाजत दी। नाच काफी अच्छा हुआ। पर मैं गभीर होकर सोचता बैठा रहा। मित्रो ने पूछा कि "तू मुँह लटकाकर क्यो बैठा है? क्या तुझे नाच अच्छा नही लगा?" मैंने कहा, "नाच तो अच्छा था, लेकिन मुझे एक विचार आया है।" उन्होने पूछा, "क्या विचार आया है?" मैंने कहा, "नाच तो अच्छा है। उसमें कला भी है। रुचि से उसे देखा भी, लेकिन मैं सोचता हूँ कि इस जगह यदि मेरी माँ होती, तो क्या मैं इतनी रुचि लेकर, टिकट लगवाकर उसका नाच देखता और लोगो को दिखाना पसद करता?" तब मित्रो ने कहा कि "तूने सोचा तो ठीक है। बात भी सही है। लेकिन इस तरह सोचना नही चाहिए!"

सर्वोदय के दर्शन मे हमारी कोई अपनी अर्थ-प्रणाली या राज्य-प्रणाली नही है। यह सामाजिक मूल्यो का और सामाजिक प्रतिष्ठाओ का ही विचार है।*

---

* वाराणसी के टाउनहाल में १९-१-'५७ का साय-प्रवचन।

सामाजिक मूल्यों के लक्षण : २२ :

मनुष्य को जिन वातो की वुनियाद पर समाज में इज्जत मिलती है, उन वुनियादो का नाम 'मूल्य' है। प्राचीन परिभाषा में उन्हे 'सामाजिक सत्ता' या 'सामाजिक प्रतिष्ठा' कहते थे। इस वुनियाद को एक सिरे से दूसरे सिरे तक पूरी तरह वदल देने का नाम 'क्रान्ति' है। **मूल्यो के प्रधान लक्षण हैं—प्रामाणिकता, सचाई, ईमानदारी।** ईमान, प्रामाणिकता और सचाई की परिभाषा है—अपने जैसा दूसरों को देखना। अर्थात् मैं अपने लिए जो कुछ करूँगा, वह दूसरो के लिए करूँगा और पहला कदम मैं उठाऊँगा। कोई दूसरा पहला कदम उठाये, इस वात का इन्तजार मैं नही करूँगा।

दूसरे के जवाव में जव हम कदम उठाते हैं, तो हमारा जीवन प्रतियोगी हो जाता है। यह स्वायत्त जीवन नही है। स्वायत्त जीवन वह जीवन है, जो मेरे हाथ में है, जिस पर मेरा कब्जा है। किसीकी चिट्ठी आये, तो हम जवाव देंगे। चिट्ठी नही आयेगी, तो हम भी जवाव नही देंगे। यह परायत जीवन है। इसलिए इस जीवन से मनुष्य को नित्य सुख या आनन्द प्राप्त नही हो सकता।

फल-निरपेक्ष कर्तव्य

स्वायत्त जीवन का ही नाम स्वतन्त्रता है। जो जीवन हमारे अपने हाथ में है और दूसरे की मर्जी पर निर्भर नही है, उस स्वायत्त जीवन को ही हम 'स्वतन्त्रता' कहते है। ऐसी हालत में सचाई का तकाजा यह है कि जो अपने लिए मैं ठीक समझता हूँ, वह दूसरे के लिए करूँगा और आरम्भ मैं करूँगा। स्वायत्त जीवन में हम जो-जो कदम उठाते है, वह कभी व्यर्थ नही जाता। भगवद्गीता के अनुसार उसमें किसी तरह के अभिक्रम का नाश नहीं होता। जो आरभ किया है, वह कभी व्यर्थ नही जाता। आज भले ही उसका फल दिखाई न दे, पर आगे चलकर उसका फल दिखाई देता है। इसे **'फल-निरपेक्ष कर्तव्य'** कहते हैं। इसमें प्रतिदान की अभिलाषा तो होती ही नही, यह भी इच्छा नही होती कि इसका कुछ फल हमे मिले। प्रश्न है कि तो क्या हमारा सारा प्रयास निष्फल प्रयास है? यदि हम कोई परिणाम नही चाहते, तो फिर प्रयास व्यर्थ है और व्यर्थ प्रयास करना मूर्खता है। जव हम कहते है कि हमारा कर्तव्य निरपेक्ष हो, तो इसका मतलव यही है कि फुटकर फलो की आशा छोडकर अन्तिम फल की ही आशा रखनी चाहिए। व्यापक अभिलाषा का नाम ही निरभिलाषा है। छोटा जव व्यापक हो जाता है, तव हम कहते है कि यह निरपेक्ष हो गया। जव मैं सवकी भलाई चाहने लगता हूँ, तव मेरा स्वार्थ परार्थ से आगे वढ जाता है और वह परमार्थ

होता है। जीवन के अन्तिम फल की अभिलाषा का नाम है—निरभिलाषा। जब हम कहते हैं कि 'फल की अभिलाषा मत करो' इसमें क्रान्ति का सूत्र आ जाता है।

फुटकर सुधार अवांछनीय

फुटकर सुधार क्रान्ति के शत्रु होते है, छोटे-छोटे सुख बडे सुख में बाधक होते हैं। जो व्यक्ति सिद्धि के चक्कर में फँस जाता है, वह मुक्ति से वचित हो जाता है। फुटकर सुधार अन्तिम सुधार के रास्ते के रोडे हैं। ये उसमें बाधक हो जाते हैं। मनुष्य को अगर बाँधता है तो सुख बाँधता है, दुःख नही बाँधता। हम और आप पूँजीवाद के साथ क्यो बँधे है? इसीलिए कि उसने हमे फुटकर मालिक बना दिया। पुराने जमाने में हमे पढाया जाता था कि अग्रेजी राज्य से फायदे है—तार, स्कूल, रेल, अदालते। गाधी ने कहा, "ये ही वे चीजे है, जिन्होने आपको अग्रेजो के कैदखाने में बन्द कर दिया है। इन्हें आप छोड दीजिये। अनात्मा से होनेवाले सुख का त्याग कीजिये।" क्रान्तिकारी की मनोवृत्ति मे और सुधारवादी की मनोवृत्ति मे यही अन्तर है। जो फुटकर सुधारो में उलझ जाता है, उसे 'फलासक्त' मनुष्य कहते हैं। फलासक्त मनुष्य तात्कालिक सुख के लिए अपनी स्वतन्त्रता खो देता है। निरपेक्ष आचरण का मतलब यह है कि हमारे आचरण का जो उद्देश्य होगा, वह अन्तिम होगा। दोनो पक्षो के उद्देश्य जब अन्तिम होते हैं, तो वहाँ चलकर दोनो मे कोई टक्कर नही होती। हमारे सामने मुख्य प्रश्न यह है कि क्या आर्थिक क्षेत्र में भी मनुष्यो के स्वार्थों मे हमेशा अविरोध कायम किया जा सकता है?

मार्क्स के सिद्धान्त

आधुनिक सिद्धान्त यदि लेते है, तो हमे सबसे पहले मार्क्स के सिद्धान्त लेने होगे। ससार मे क्रान्ति को विज्ञान का जामा पहनानेवाला सबसे पहला व्यक्ति मार्क्स था। मार्क्स के पहले और किसीने नही कहा कि क्रान्ति का कोई विज्ञान हो सकता है। मार्क्स के कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं, जो वैज्ञानिक कहे जा सकते हैं। उनका विकास कैसे हो सकता है और वे आज के समाज के अनुकूल, अद्यतन कैसे हो सकते है, इसका विचार हमें करना होगा।

उत्पादन-पद्धति, उत्पादन के साधन, उत्पादन के सम्बन्धो से मनुष्यो के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सम्बन्ध निर्धारित होते हैं।

जीविका और जीवन

मनुष्य की जैसी जीविका होती है, वैसा ही उसका जीवन बनता है। जैसी जीविका, वैसा जीवन—यह मार्क्स के सिद्धान्त का निचोड है। ऐसा नही है कि उसके

पहले इस बात को किसीने समझा नही था। लोगो ने उसे समझा तो था, लेकिन यह किसीने नही समझा था कि यह क्रान्ति का सिद्धान्त हो सकता है। समाज-रचना का यह सिद्धान्त हो सकता है, यह तथ्य तो लोगो की समझ में आ गया था; लेकिन यह सिद्धान्त गतिशील सिद्धान्त है, इस सिद्धान्त के आधार पर क्रान्ति हो सकती है, ऐसा किसीने नही समझा था। पर हमारे यहाँ यह तथ्य समझ लिया गया था। 'उप-जीवन' शब्द उसका द्योतक है। जीविका का जो साधन होता है, उसे **'उपजीवन'** कहते है। जीवन और जीविका का सम्बन्ध अभेद्य है।

जीवन में उपजीवन का इतना महत्त्व माना गया है। जीविका के जो साधन है, और उन साधनो के कारण जो सम्बन्ध प्रस्थापित होते है, उनमें परिवर्तन करना होगा, यही क्रान्ति है। **सबको खाना, कपड़ा, मकान मिल जाना क्रान्ति नहीं है। जितनी जरूरत हो उतना खाना मिले, कपड़े की जरूरतें पूरी हो जायें, हरएक को रहने के लिए अच्छा मकान मिल जाय—यह मनुष्य को सुखी जानवर बना सकता है, लेकिन स्वतन्त्र मानव नहीं बना सकता। इसलिए यह क्रान्ति नहीं है।** क्रान्ति में मनुष्य की जीविका, उपार्जन की पद्धति, उसके औजार और मनुष्य के एक–दूसरे के साथ सम्बन्ध बदल जाने चाहिए। ऐसा होने पर न तो पश्चिमवालो के वर्गभेद रहेंगे और न हमारे जातिभेद। जन्मनिष्ठ व्यवसाय का नाम जातिभेद है। मान ले कि ब्राह्मण भी पेटभर खा सकता है, भगी भी, ब्राह्मण भी शानदार कपडे पहन सकता है, भगी भी, ब्राह्मण भी अच्छे मकान में रहता है, भगी भी, दोनो अपनी-अपनी जगह सुखी है, फिर भी यह 'क्रान्ति' नही है। दोनो के व्यवसाय समाज में समान रूप से प्रतिष्ठित नही है। **जीविका की पद्धति में और प्रतिष्ठा में जब आमूलाग्र परिवर्तन होता है, तब वह 'क्रान्ति' कहलाती है।**

जीवन में परिवर्तन आवश्यक

क्रान्ति मे मूल्य का परिवर्तन होगा। **सबसे पहले हमें अपने जीवन में मूल्य-परिवर्तन करना होगा।** लोग कहते है कि हम ऐसी कोशिश करनेवाले है कि सबको पूरा खाना, कपडा और मकान मिले। परन्तु क्या आपकी पोथी आपके पास रहेगी और कुल्हाडी लकडहारे के पास? यदि आपकी पोथी आपके पास है, कुल्हाड़ी लकडहारे के पास है, तो वह क्रान्ति नही है। स्पष्ट है कि आपके जीवन मे क्रान्ति नहीं आयी। जब यह कोशिश होगी कि कुल्हाडीवाले के पास कुल्हाडी भी रहे और पोथी भी आये और पोथीवाले के पास पोथी भी रहे और कुल्हाडी भी आये, तभी क्रान्ति होगी। दोनो सव्यसाची होंगे, दोनो के दोनो हाथ चलेंगे। जो अपने जीवन में वर्ग-परिवर्तन कर लेता है, वह मनुष्य हमारी क्रान्ति का पहला 'साधन' भी है और पहला 'कर्ता' भी है।

हमारे आर्थिक संयोजन की विभूति ऐसा सवादी मानवीय व्यक्ति ही हो सकता है, जिसमें शास्त्रशुद्ध सामान्य और आदर्श मानव का सवाद हुआ है। वही मनुष्य हमारा 'साम्ययोगी मानव' या 'मानवता की विभति' माना जायगा। ऐसे मनुष्यो के स्वार्थों में विरोध नही होता, क्योकि वहाँ पर स्वार्थ 'हित' में परिणत हो जाता है। मनुष्यो के स्वार्थो में विरोध हो सकता है, लेकिन मनुष्यो के हित में, कल्याण मे, कभी विरोध नहीं हो सकता।

स्वार्थ में विरोध, हित में अविरोध

मान लीजिये कि मैंने चोरी करने का विचार किया। अव मै सवसे पहले प्रार्थना करता हूँ कि हे भगवन्, रात अँधेरी हो या आकाश में बादल घिर जाय, ताकि चन्द्रमा न दिखे। जब मैं साहूकार के घर पहुँचता हूँ, तो चाहता हूँ कि दीवाल की ईंटें इतनी कच्ची हो कि एक लात मारते ही दीवाल टूट पडे, भीतर रखी गोदरेज की तिजोरी का लोहा कच्चा हो और उसका ताला ऐसा हो कि मामूली कील से भी खुल जाय; घर के लोगो को नीद ऐसी लगे कि वे मुरदे जैसे पड़े रहें। चोरी का माल लेकर जब मैं अपने घर पहुँचता हूँ, तो यह चाहता हूँ कि अव चन्द्रमा निकल आये, मेरे मकान की दीवालें इतनी मजवूत हो कि ऐटम वम से भी न टूटें, गोदरेज की तिजोरी ऐसी हो जाय कि जिस पर किसी भी चोट का विलकुल असर न हो और मुझे ऐसी नीद लगे कि किसीके खर्राटे की आवाज आते ही वह खुल जाय। इस प्रकार मेरा सारा-का-सारा दृष्टिकोण वदल जाता है।

मूल्य के पाँच लक्षण

मनुष्यो का स्वार्थ परस्परविरोधी हो सकता है, पर उनके हित में कभी विरोध नही हो सकता। जिन लोगो ने आज तक यह सिखाया है कि एक का सकट दूसरे का सुयोग है और एक की मृत्यु दूसरे का जीवन है, उन्होंने जीवन को समझा ही नही है।

१. **प्रामाणिकता :** जो सवके लिए समान रूप से लागू होता है, उसे 'मूल्य' कहते हैं। उसका पहला लक्षण है—उसमे प्रामाणिकता, सचाई होनी चाहिए। जो अपने लिए चाहूँ, वही दूसरे के लिए चाहूँ।

२. **सार्वत्रिकता :** मूल्य का दूसरा लक्षण यह है कि वह सवके लिए समान रूप से लागू हो सकता है, व्यापक हो सकता है। जो व्यापक नही हो सकता, वह मूल्य ही नही है। यदि वाजार में सभी नकली सिक्के चलते है, तो अर्थशास्त्री कहता है कि वाजार में जो सिक्के चलते हैं, वे नकली नही, असली ही हैं। नकली सिक्के तो वे होते है, जो वाजार मे चलते ही नही। दुर्गुण में यह ताकत नहीं है कि वह सार्वत्रिक

या व्यापक हो सके । जिस दिन दुर्गुण समाज मे फैल जायगा, उस दिन वह नष्ट हो जायगा । 'मूल्य' का यह एक अबाधित लक्षण है ।

३. निरपेक्षता : मूल्य का तीसरा लक्षण है—निरपेक्षता । वह अपने ही नाम पर चलता है, दूसरे के नाम पर नही । नकली सिक्का अपने नाम पर कभी नही चलता । नकली सिक्का असली सिक्के के नाम पर चलता है । झूठ सत्य के नाम पर चलता है । इसलिए झूठ अपने पैरो पर खडा नही हो सकता । वह 'मूल्य' नही है । सत्य 'मूल्य' है ।

४. स्वतःप्रामाण्य : मूल्य का चौथा लक्षण है—स्वतःप्रामाण्य । वेदो का प्रामाण्य स्वय-सिद्ध है । प्रेम का बचाव कभी करना ही नही पडता । द्वेष का बचाव करना पडता है । लडाई के लिए कारण खोजना पडता है । प्रेम के लिए कोई कारण नही खोजना पडता । असभ्यता की, झूठ वोलने की, हिंसा की, कैफियत देनी पडती है । यह कोई नही पूछता कि आप सत्य क्यो वोले । 'मूल्य' स्वत प्रमाण होता है ।

५. स्वभाव की अनुरूपता : मनुष्य का स्वभाव यह है कि उसे प्रेम में आनन्द होता है, द्वेष में दु ख होता है । शान्ति में आनन्द होता है, क्रोध में वेचैनी होती है । जिसको आप रखना चाहते है, वह स्वभाव है, और जिसको छोडना चाहते ह, वह विकार है । झूठ वोलना हमारा स्वभाव नही है, क्योकि उसके लिए कारण की आवश्यकता होती है । सत्य हमारा स्वभाव है । प्रेम हमारा स्वभाव है । अहिंसा हमारा स्वभाव है । इसकी कसौटी यही है कि जिसका हम निराकरण करना चाहते है, वह हमारा स्वभाव नही है । जिसका हम निराकरण नही करना चाहते, वह स्वभाव है । जिसका हम सरक्षण करना चाहते है, विकास करना चाहते है, वह स्वभाव है । यह 'मूल्य' का पाँचवाँ लक्षण है—वह मनुष्य स्वभाव के अनुरूप हो । जिसे हम रखना चाहते है, वह हमारा स्वभाव है, जिसे छोडना चाहते है, वह हमारा स्वभाव नही है ।

वृत्ति में परिवर्तन आवश्यक

अव इन मूल्यो की स्थापना हमे अपने जीवन में करनी है । ये हमारे सयोजन के साधन होगे । इसके लिए आपकी और हमारी मनोवृत्ति में परिवर्तन की आवश्यकता होगी । वृत्ति में परिवर्तन होने पर ही मूल्यो की स्थापना हो सकेगी । जब तक यह परिवर्तन नही होगा, तब तक इन मूल्यो की स्थापना नही हो सकती ।*

---

* वाराणसी के टाउनहॉल में २०-१-'५७ का साय-प्रवचन ।

परिशिष्ट : १

अहिंसक आक्रमण और नैतिक दबाव

प्रबोधभाई ने प्रश्न किया था कि "क्या अहिंसा में आक्रमण भी हो सकता है ?"

बापू ने एक दफा लिखा कि हमारी यह साजिश भी है और वह प्रकट भी है। हम यह खुल्लमखुल्ला 'षडयन्त्र' कर रहे हैं। साजिश हमेशा गुप्त होती है, उसे उन्होंने खुली साजिश कहा। इसी तरह उन्होंने 'अहिंसक बगावत' कहा। प्रश्न है कि क्या आक्रमण भी अहिंसक हो सकता है ?

हो सकता है। मान लीजिये कि मेरे घर में आग लगती है। आप मुझसे बगैर पूछे आग बुझाने के लिए दौड रहे हैं। अब यह सेवा है और अनाहूत है। यानी आपको मैं बुला नही रहा हूँ। या फिर मैं सबको बुला रहा हूँ या मुझे होश ही नही है। मेरे घर मे आग लगी है और मैं चिल्ला भी नही रहा हूँ। तब भी आप दौडते हैं और दौडकर मेरे घर की आग बुझाते हैं। यह है तो एक तरह से आक्रमण कि बगैर बुलाये आप आते हैं, पर असल मे यह आक्रमण नही है। प्रेम मे जो आक्रमण होता है, उसका नाम आक्रमण है, पर दरअसल वह आक्रमण नही होता। सेवा और प्रेम में जो विधायक सेवा होती है, उस सेवा के लिए कभी किसीको निमन्त्रण नही देना पडता। सच्चा सेवक कही भी सेवा का अवसर दिखाई देते ही दौड जाता है। इतना ही इसमें आक्रमण होता है।

जहाँ-जहाँ हम आक्रमण का विचार करते हैं, वहाँ-वहाँ आक्रमण के पीछे वही कल्पना रहती है, जो हिंसक आक्रमण के पीछे थी। इसीलिए आक्रमण का सवाल हमारे मन में उठता है। वैसे अहिंसा के साथ आक्रमण आये, तो वह आक्रमण नही रह जाता।

लोगो ने एक शब्द गढ लिया है, 'नैतिक दबाव'। नैतिक भी हो और दबाव भी हो, यह कैसे ? 'नैतिक दबाव' से मतलब क्या है ? यही कि आपका मुझ पर असर होता है। इस तरह के असर को भी दबाव कहे, तो वह तो शब्दप्रयोग मात्र है। नैतिक दबाव का असल मतलब यह है कि वह दबाव ही नही है। जो कुछ असर वह डालता है, वह हमारे भीतर है। वह डराता नही है। उसके पास सत्ता नही है। उसके पास शस्त्र नही है। ऐसी हालत मे उसका वजन हम पर पडता है, तो वह दबाव क्या है ?

हम खाने बैठते हैं और भिखारी आ जाता है। वह दरवाजे पर आकर खडा होता है—"बस, क रोटी दे दो", इतनी ही माँग करता है। हम कहते हैं, "यह हम पर बडा जुल्म करता है।" अब बताइये, वह क्या जुल्म करता है ? वह तो सिर्फ

खडा है वहाँ और एक रोटी माँगता है। लेकिन हमसे नही खाया जाता। वह माँगता है और हमसे खाया नही जाता। तो असल में हमारी शिकायत यह है कि वह हमारे दिल में कही पर छिपी हुई मानवता का आवाहन क्यो करता है। इसी तरह 'नैतिक दबाव' और 'अहिंसक आक्रमण' जैसे शब्द बन गये है। इनकी जड मे यदि हम जायँ, तो इनमें कोई बुराई नही है—न तो 'अहिंसक आक्रमण' में कोई बुराई है और न "नैतिक दबाव' में ही।

परिशिष्ट : २

कानून-भंग की मर्यादाएँ

प्रश्न था कि हम कहाँ तक कानून-भ ग कर सकते है। बापू ने इसकी बडी चर्चा की है। एक शर्त उन्होने इसमें यह डाली थी कि जिसके मन में कानून के लिए आदर है, वही कानून-भग करने का अधिकारी है।

सुकरात के जीवन में एक प्रसग आता है। उसके साथी उससे यह कहने के लिए आये कि "तुम जेलखाने से भाग चलो।" उसने कहा, "मै जेलखाने से भागकर नही जाऊँगा।" तो लोगो ने कहा, "तुम्हें जेलखाने में डाल रखा है, यह इन लोगो का अन्याय है। इसलिए तुम यदि भाग जाते हो, तो उसमें कोई बुराई नही होगी, असत्याचरण नही होगा। सुकरात, तुम भाग चलो!"

उसने जवाब दिया, "मैंने तो इतना ही किया था कि उनका एक नियम तोडा। मै समझता था कि उनका जो नियम अच्छा नही है, उसी नियम को मैंने तोडा। बाकी के नियमो को तो मैंने नही तोडा है। इसलिए मान लो, आज यदि तुम्हारे साथ भाग जाऊँ, फिर भी बूढा होने के नाते दो-चार साल मे तो मर ही जाऊँगा, तब स्वर्ग मे पहुँचने पर स्वर्ग के सारे कानून मुझसे कहेंगे कि सुकरात, पृथ्वी के कानूनो को तुमने वहाँ तोडा था, तो तुम यहाँ भी स्वर्ग के कानूनो का पालन करनेवाले नही हो। इसलिए तुम्हारे लिए यहाँ स्थान नही है।"

इस प्रकार का एक चित्र उसने अपने ढँग से खीचा। बापू का कहना था कि नियम तोडनेवाला मनुष्य ऐसा होना चाहिए, जो अपने में नियमरूप बन गया है और सामाजिकता जिसका स्वभाव हो गया है। वह जब नियम तोडता है, कानून का भग करता है, तो वह 'सविनय कानून-भंग' होता है, 'अविनय कानून-भग' नही होता। वह व्यक्ति, जो कानून को मानता ही नही है और अराजकता पैदा करता है, उसके कानन-

भग से अराजकता पैदा हो सकती है। बापू के कानून-भग से अराजकता इसीलिए पैदा नही होती थी कि जिस कानून को वे चुन लेते थे, उसी कानून का भग करते थे, और कानून-भग करने के लिए सजा है, इस सामाजिक नियम का पालन करते थे। जो कानून-भग करेगा, उसे दड मिलेगा, यह जो समाज का नियम है, इसका वे पालन किया करते थे। इसलिए वे कहते थे कि "मुझे यदि पुलिस पकडने आ जायगी तो मैं जेल चला जाऊँगा।"

अब आजकल इसमें एक मर्यादा और आ गयी है। आज जो लोग कानून बनाते है, वे लोग लोक-निर्वाचित हमारे प्रतिनिधि है। परिस्थिति मे एक विशेषता आ गयी है, जो उस वक्त नही थी, जिस वक्त बापू ने यह विचार किया था। हटर-कमिटी के सामने बापू से पूछा गया, "तुम कानून-भग करोगे और सत्याग्रह करोगे? अंग्रेजो के खिलाफ करोगे? इस सरकार के खिलाफ करोगे?" तो उन्होने कहा, "हाँ, आज इस सरकार के सामने अवसर है, इसलिए मुझे सत्याग्रह करना पड रहा है और मैं करूँगा, लेकिन मैं कहना चाहता हूँ कि अवसर आने पर मैं इस अस्त्र का प्रयोग अपने बेटे के खिलाफ भी करूँगा, अपनी माँ के खिलाफ भी करूँगा, अपने भाई के खिलाफ भी करूँगा।"

सत्याग्रह प्रेममूलक होता है। इसलिए जहाँ-जहाँ प्रेम होता है, वहाँ-वहाँ सत्याग्रह अवश्य होगा। पर हमने यह मान लिया है कि जहाँ-जहाँ हमारा अप्रेम होगा, वहाँ-वहाँ हम सत्याग्रह करेंगे। यानी भूमिका में ही फर्क पड जाता है। होता यह है कि जहाँ हमें गुस्सा आ जाता है या जिसके प्रति हमारा विरोध होता है, हम उसीके खिलाफ सत्याग्रह करते हैं। बहिष्कार में और सत्याग्रह में, जिसे हम 'कानून-भग' कहते हैं उसमें और सविनय कानून-भग में एक बहुत बडा अन्तर है। प्रश्न था कि इन दोनो की कसौटी क्या है? तो गाधीजी ने कसौटी यही बतायी कि जो कानून हम तोडेंगे, वह ऐसा कानून नही होना चाहिए कि जिसके तोडने से नैतिकता का भग हो। जैसे शराब-बन्दी का कानून है या अस्पृश्यता-निवारण का कानून है, ऐसा कोई कानून नही तोडना चाहिए। इसके अलावा एक ही कानून तोडना चाहिए और जब हम उसे तोडते है, तो खुशी से हमें जेल चले जाना चाहिए। जिस सत्ता के खिलाफ हम कानून-भग करते है, उस सत्ता से हमारा विरोध भले ही हो, लेकिन हमारे मन में सत्ताधारियो के प्रति किसी प्रकार का विरोध नही होना चाहिए। उनके विषय में हमारे मन मे कटुता नही होनी चाहिए। ये तीन मर्यादाएँ उन्होने बतलायीं।

अहिंसा की यह मर्यादा है कि आपकी सचाई पर प्रतिपक्षी का विश्वास होना चाहिए। अहिंसक प्रतिकारी पर प्रतिपक्षी का विश्वास होता है। यानी जेल में भी यदि गाँजे की पुडिया निकली और बबलभाई के बिस्तर के नीचे से निकली, तो

जेलर यही कहेगा कि किसीने लाकर छिपा दी होगी, बबलभाई गाँजा थोडे ही पीते है। ऐसा विश्वास प्रतिपक्षी के मन में होना चाहिए। इसे ईमान कहते है। यही इसकी कसौटी है। यह जैसे असहयोग के लिए है, वैसे ही कानून-भग के लिए भी है।

प्रश्न था कि क्या हम कानून-भग कर सकते है ?

मै कहता हूँ कि हाँ, अवश्य कर सकते है।

क्या लोक-प्रतिनिधियो की सरकार के विरोध में भी कर सकते है ?

अवश्य कर सकते है, लेकिन उसकी जितनी मर्यादाएँ है, उन्हे ध्यान में रखना चाहिए।

परिशिष्ट : ३

अहिंसा की मर्यादा

अहिंसा की मर्यादा के बारे में पूछा गया है कि "ऊपर से यदि बम गिरते हों, तो नीचे से क्या करें ?"

ऊपर से जो बम गिरता है, उसमें आज के युद्ध-शास्त्र मे बचाव की कोई योजना नही है। विश्व का युद्धशास्त्री कुठित हो गया है। युद्धो का और शस्त्रकला का जमाना लद चुका है। अब वीरता आयेगी, तो अहिंसक वीरता ही आयेगी—वह प्रार्थना के रूप में प्रकट हो या मर जाने के रूप में प्रकट हो। जो हो, वह वीरता अहिंसक वीरता ही हो सकती है। विज्ञान ने युद्ध-शास्त्र में बचाव की कोई गुजाइश नही रखी। आज के युद्ध-शास्त्र मे तलवार का तत्त्व रह गया है, ढाल का तत्त्व निकल गया है। प्रतिकार भी करना हो तो तलवार से ही करो, बचाव भी करना हो तो तलवार से ही करो। राष्ट्रो में सेना का जो विभाग होता है, वह 'संरक्षण' का ही विभाग कहलाता है। उसे किसीने आक्रमण का विभाग नही कहा है। क्यो ? तलवार किसलिए है ?—बचाव के लिए। हमने यह सुना था कि ढाल बचाव के लिए होती है, तलवार मारने के लिए होती है। लेकिन धीरे-धीरे ढाल निकल गयी और युद्धनीति यहाँ तक आ गयी कि आक्रमण ही सबसे ज्यादा अच्छा और सुरक्षित सरक्षण है। विज्ञान ने युद्ध-शास्त्र को इतना भ्रष्ट कर दिया है कि मनुष्य की वीरता के लिए जो अवसर था, वह अब नही रह गया है। सरक्षण की योजना आज की युद्धनीति मे कही नही है। सरक्षण की जो योजनाएँ है, वे ढाल की योजनाएँ नही है। गुफा में चले जाने, तहखाने में छिप जाने आदि की जो योजनाएँ है, वे कोई युद्धनीति की योजनाएँ नहीं

हैं। आग से भी बचने के लिए यही करना पड़ेगा, तूफान आ जाय तो भी यही करना पड़ेगा। ज्वालामुखी फट पड़े तो भी यही करना पड़ेगा। विनोबा कहते हैं कि अब भौतिक युद्ध में और प्राकृतिक आपत्ति में कोई अन्तर नहीं रह गया है। युद्ध अब एक प्राकृतिक आपत्ति की भाँति हो गया है। इसमें अहिंसा क्या काम करेगी? आज तूफान आ जाय या बाढ़ आ जाय, तो बाढ़ के सामने क्या हो सकता है? यदि कोई आदमी डूबता है, तो क्या अहिंसक शौर्य हो सकता है? बाढ़ आ रही है, तो अहिंसा भी यही कहेगी कि तुम बच जाओ, वहाँ से अलग हट जाओ। विनोबा ने कहा था कि आग लगने पर घर छोड़कर भागता हूँ, तो लोग कहते हैं कि यह पलायनवाद है। यह 'पलायनवाद' नहीं है, इसे पलायनवाद नहीं कहते। ऐसे मौके पर साधारण नागरिक की अहिंसक शक्ति में और अहिंसा में विश्वास रखनेवाले दूसरे नागरिकों की बचाव की शक्ति में अर्थात् उन दोनों के बचाव में कोई अधिक अन्तर नहीं रहनेवाला है। आज के युद्ध-शास्त्र में न आक्रमण में वीरता है, न बचाव में वीरता के लिए कोई गुंजाइश रह गयी है! बम फेंकना केवल हिंसा है। उसे युद्ध की वीरता हम नहीं कह सकते और जहाँ केवल हिंसा है, उसे हम प्राथमिक भौतिक शक्ति मान सकते हैं, जिस प्रकार से दूसरी नैसर्गिक आपत्तियों को मानते हैं।

परिशिष्ट : ४

अहिंसा में परिस्थिति-परिवर्तन

गांधीजी ने लुई फिशर से कहा था कि "हम ऐसी परिस्थिति पैदा करेंगे कि सम्पत्तिमान् लोग अपनी सम्पत्ति रख नहीं सकेंगे।" फिशर ने उनसे पूछा था कि "फिर यह जमींदार आपसे सहयोग कैसे करेंगे?" गांधीजी ने उत्तर दिया : "वे वहाँ से भाग जायेंगे और इस तरह वे हमारे साथ सहयोग करेंगे।"

पिछली बार भावनगर में किसीने सवाल किया था कि खेती न करनेवाले जमींदार तो बैठे हुए हैं भावनगर में, और खेत हैं उनके देहातों में, तो मैंने कहा कि हमारा ५० प्रतिशत काम तो उन्होंने कर दिया। वे खेतों में नहीं रहते, शहर में जाकर बैठ गये हैं। अब ५० फीसदी काम आप कर लीजिये कि वे लौटने न पायें। इस परिस्थिति के निर्माण में मनुष्य की प्रेरणा क्या होगी, यह हमारा असली सवाल था। जो परिस्थिति पैदा करेंगे, उनकी अपनी प्रेरणा क्या होगी?

आप जानते हैं कि आज क्रान्ति की जितनी प्रेरणा है, वह प्रेरणा मत्सर और द्वेष से आती है। मुझे इस बात का दुःख नहीं है कि मैं मोटर में नहीं बैठ सकता। मुझे दुःख

इस बात का है कि नारायण बैठता है। भगवान् से मैं प्रार्थना करता हूँ कि हे भगवन्, तू चाहे मुझे मोटर न दे, पर पहले इसको निकाल ले ! क्या यह क्रान्ति की प्रेरणा है ?

मैं रिक्शे मे बैठा हूँ और पानी बरस रहा है। मै भीतर हूँ। ऊपर से टप लगा हुआ है, फिर भी पानी की कुछ बौछारें आती हैं, तो छाता लगा लेता हूँ। रिक्शेवाला सोचता है कि भगवान् वह दिन कब आयेगा, जब यह दादा रिक्शा चलायेगा और मैं भीतर बैठूंगा। क्रान्ति की यह प्रेरणा स्वाभाविक है, लेकिन यह प्रेरणा हमारे साध्य के अनुकूल नही है। यह बन्धुत्व-प्रवर्तक प्रेरणा नही है। इसलिए इस प्रेरणा में परिवर्तन करना है। मै यहाँ तक तो उन लोगो के साथ हूँ कि गरीब गरीबी का निराकरण करना चाहता है, इसलिए गरीब का सगठन हम करे। लेकिन गरीब का सगठन अमीर के खिलाफ होगा, तो गरीब-गरीब का भावरूप सगठन नही हो सकता। एक के पास दस एकड जमीन है, दूसरे के पास पाँच एकड जमीन है, तीसरे के पास तीन एकड जमीन है। पचास एकडवाले के खिलाफ सब एक है, लेकिन आपस में तो दस एकडवाला चाहता है कि मेरे पास बीस एकड हो, पाँच एकडवाला चाहता है कि मेरे पास दस एकड हो और तीन एकडवाला चाहता है कि मेरे पास छह एकड हो। पचास एकडवाले के दूर होते ही जब आपको वितरण करना पडेगा, तब इन तीनो में आपस मे बँटवारे की प्रेरणा होनी चाहिए। वह कहाँ से आयेगी ? सोचने की बात है कि क्या यह प्रेरणा आपके हटर से आयेगी ? हमारा निवेदन है कि ऐसी प्रेरणा हटर से नही आनी चाहिए। जनता के पुरुषार्थ से क्रान्ति का मतलब यही है कि तीन एकड वाले मे, ो एकडवाले मे, और एक एकडवाले मे, आपस मे बँटवारा करने की प्रेरणा भी स्वयस्फूर्त होनी चाहिए। इसलिए क्रान्ति की प्रक्रिया में से ही हम इस प्रेरणा का विकास करते चले जायँगे।

प्रश्न है कि क्या इस प्रकार का सगठन हो सकता है ? और यदि हो सकता है, तो उसका स्वरूप क्या होगा ? यह 'सगठन' भी एक ऐसा चचल शब्द है, जो जल्दी पकड में नही आता। किसानो का सगठन और मजदूरो का सगठन, ये पूर्णत. भिन्न-भिन्न भूमिकाओं के सगठन है। मार्क्सवादी क्रान्ति की जो मूल कल्पना थी, वह किसानो के सगठन की नही थी, मजदूरो के सगठन की थी। कम्युनिस्ट 'मेनिफेस्टो' (घोषणापत्र) मे लिखा है कि शहर जैसे-जैसे बढते चलेगे और गाँव जैसे-जैसे कम होते चलेगे, वैसे-वैसे हम क्रान्ति की ओर कदम बढाते चलेगे। इसका मतलब यह है कि किसान जितने कम होगे और मजदूर जितने बढते चले जायेगे, उतनी ही क्रान्ति की प्रक्रिया मे सहायता होगी। किसान भी क्रान्तिकारी हो सकता है, इसकी कोई कल्पना उन्होने उस वक्त नही की थी। उसका कारण यही था कि किसानो मे अपनी मालकियत की भावना होती है और वे छोटे-छोटे अलग-अलग होते हैं।

कारखाने का मजदूर 'प्रोलेतारियेत' है। 'प्रोलेतारियेत' कौन है ?—वही, जो अपना भी मालिक नही और वस्तु का भी मालिक नही, जो साधन का भी मालिक नही और अपनी मेहनत का भी मालिक नही—जिसे अपनी मेहनत बेचनी पडती है और इसके सिवा जिसके पास और कोई चारा नही रह गया है। किसान की ऐसी हालत कभी नही होती कि उसे अपनी मजदूरी इस तरह से बेचनी पडे। कारखाने मे उत्पादन मजदूर करता है, लेकिन सारा उत्पादन मालिक के लिए होता है। खेती मे उत्पादन किसान करता है, लेकिन उसका उत्पादन अपने लिए होता है। किसान की भूमिका मे और मजदूर की भूमिका में ही यह फर्क है। इसलिए यूरोप में जिन लोगो ने क्रान्ति की कल्पना की, उन लोगों की क्रान्ति मजदूरो की क्रान्ति हुई। मास्को मे जैसी क्रान्ति हुई, वैसी चीन में नही हुई। चीन की क्रान्ति मे और रूस की क्रान्ति मे मूलभूत अन्तर यह रहा कि रूस की क्रान्ति का आरम्भ मजदूरो से हुआ और चीन की क्रान्ति का आरम्भ किसानो से। इसलिए दोनो की प्रक्रियाओ में अन्तर पड गया। मजदूरो का सगठन, 'ट्रेड यूनियनिज्म' से शुरू हुआ। इसका एकमात्र उद्देश्य रहा है, मालिको से मजदूरो को ज्यादा-से-ज्यादा रिआयतें प्राप्त करा देना। इसका शस्त्र है 'हड़ताल'। हडताल करने को इसीलिए कहा जाता है कि 'भाई, उत्पादन तुम्हारे लिए तो है ही नही, तुम मेहनत करके दूसरो के लिए उत्पादन करते हो। तुम्हारे हाथ मे एक ही ऐसा हथियार है कि उत्पादन बन्द कर दो, तो मालिक की नाडियाँ ठडी हो जाती हैं।'

क्रान्ति हो जाने के बाद आज कोई रूस मे हडताल कर सकता है ? ऐसा करे, तो कहेंगे कि यह लोकद्रोह करता है। कारण, अब मालकियत बदल गयी है। उत्पादन समाज के लिए है और उसमें हडताल करना लोकद्रोह है। इसलिए हडताल का तत्त्व खेती मे कभी नही जा सका। क्रान्ति का पहला नारा था—'दुनियाभर के मजदूरो, एक हो।' 'किसानो' शब्द उसमे बाद में जोडा गया। सघर्ष की एकता के लिए ऐसा किया गया। मजदूरो मे एक हो जाने की बात इसलिए कही गयी कि मजदूर एक कारखाने में रहते हैं। अनायास मजदूर एक जगह आ जाते हैं। इसलिए उनका सगठन सुलभ हो जाता है। मजदूरो का सगठन जिस भूमिका से और जिस पद्धति से हो सकता है, उसी भूमिका मे और उसी पद्धति से किसानो का सगठन नही हो सकता, क्योंकि हडताल कभी किसान का अस्त्र ही नही रहा है।

प्रश्न है कि तब किसानो का सगठन कैसे हो ? किसान छोटा मालिक है। इस छोटे मालिक के सगठन का एक ही आधार हो सकता है कि सब छोटे-छोटे मालिक अपनी मालकियत को मिला लें, जिसकी परिणति आज विनोबा के ग्रामदान में हो

गयी। सौ में से नब्बे आदमी यदि अपनी मालकियत को मिला देते है, तो सौ में से दस आदमियो से हम क्या कहेंगे ? तब प्रतिकार की बात आती है। विनोबा कहता है कि मेरा सौम्यतम प्रतिकार होगा। यह सौम्यतम प्रतिकार महा भयकर वस्तु है। इन दस आदमियो से ये नब्बे आदमी कहेंगे कि उत्पादन तो गाँव के लिए होना ही चाहिए। तुम्हारे खेत हम जोतेंगे, हम तुमसे पैसा नही लेंगे, पर तुम्हे खिलाने का हम प्रबन्ध करेंगे। आज तक हम पैसा लेते थे और खेत जोतते थे। आज से हमने यह तय कर लिया है कि हमारे इस गाँव मे किसीकी भी मेहनत नही बिकेगी, पर गाँव की जमीन भी पडी नही रहेगी। यह किसी व्यक्ति-विशेष की जमीन है ही नही, यह तो सारे गाँव की जमीन है। इसे हम मुफ्त मे जोतेंगे।

आज तो हमे ऐसा मालूम होता है कि यदि ऐसा होने लगे, तब तो मालिक की मौज ही हो जायगी। मैं कहता हूँ कि ऐसा नही है।

एक दफा किराये की बस में बैठने के लिए मैं अड्डे पर गया। मोटरवाले ने कहा कि अभी दस मिनट में रवाना होंगे। दस मिनट की जगह एक घटा हो गया। उधर ट्रेन का वक्त भी बीतने लगा। तब मोटर में से उतरकर मैंने ड्राइवर से कहा कि "मै आपकी मोटर में नही जाऊँगा।" उसने कहा कि "मै मोटर के पैसे नही लौटाऊँगा।"

मैंने कहा, "आपसे पैसा थोडे ही माँग रहा हूँ। मै तो इतना ही कह रहा हूँ कि आपकी मोटर में मै नही जाऊँगा।"

"आप मोटर में नही जायेंगे, पर टिकट तो खरीदा है।"

"खरीदा है तो आप जाने और टिकट जाने। मै आपसे पैसे नही माँग रहा हूँ।"

अब वह मेरे पीछे दौड रहा है कि "हमको क्या खैरात दे रहे हो ? हम खैरात किसीकी नही लेते।"

मोटरवाले से यदि मै पैसे माँगता, तो वह मुझसे लडाई करने लगता। पर मै तो कह रहा हूँ कि "पैसे से मुझे कोई मतलब ही नही है। तुम्हारी मोटर मे मै नही जाना चाहता हूँ। इससे ज्यादा मै क्या कह रहा हूँ ?" तो वह कहता है, "फिर हम मुफ्त मे तुम्हारे पैसे क्यो लें ?"

ऐसी बात मनुष्य के स्वाभिमान को खटकती रहती है। हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया में आगे चलकर ऐसे बहुत-से कदम आ सकते हैं, जो एक ओर से बहुत सौम्य मालूम होते ह, लेकिन दूसरी ओर से बहुत तीव्र होते है।

हम हरएक आदमी के ईमान का सगठन करना चाहते है। इस तरह का सौम्य सत्याग्रह तभी हो सकेगा, जब कि बडे मालिको के लिए छोटे मालिक और गैर-मालिको के मन में ईर्ष्या और द्वेष नही होगा और उनकी अपनी मालकियत 'ब्रह्मार्पण' हो चुकी होगी।

●

लेखक की अन्य रचनाएँ

अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया

लेखक की यह कृति करुणामूलक साम्ययोग-प्रधान अहिंसक क्रान्ति के समझने के लिए अप्रतिम है। क्रान्ति और सो भी अहिंसक ! अहिंसा की जीवनव्यापी विराटता और उसके लिए शक्ति-स्रोतस्विनी, बलदायिनी, विधायक, लोकनिष्ठ, विभूतिमय क्रान्ति की प्रक्रिया को समझने के लिए हर व्यक्ति के काम की दिशाबोधक रचना। नवीन सशोधित सस्करण पृष्ठ ३८८ मूल्य ४.०० ।

लोकनीति-विचार

राजनीति और समाजनीति के क्षेत्र मे 'लोकनीति' अब अनबूझ पहेली नही रह गयी है। राजनीति के ऐतिहासिक विकासक्रम में 'लोकनीति' अद्यतन विचार-प्रक्रिया है, जो हमे साम्ययोग तक ले जाती है। लोकनीति क्या है, उसकी उपयोगिता क्या है, उसका ध्येय क्या है और वह समाज को किस मजिल तक ऊपर उठाती है, इन सब बातो का वैज्ञानिक विश्लेषण दादा ने अपनी मनोरम शैली में किया है। यह पुस्तक विचार-क्षेत्र में क्राति लानेवाली है। पृष्ठ १२८, मल्य २ ०० ।

स्त्री-पुरुष सहजीवन

स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध, व्यक्तित्व, उत्तर-दायित्व, धार्मिक विधि-विधानो की खीचतान, परि-भाषाओ की सूक्ष्म आलोचना, परस्पर विरोधिता आदि का शास्त्रीय, वैज्ञानिक, भावनागत और मानव-निष्ठ विवेचन। दृष्टान्तो के प्रकाश में जीवन का मूल्याकन। पृष्ठ १८०, मूल्य २ ५० ।

गांधी पुण्य-स्मरण

गांधी के जन्म और निर्वाण-दिवसो पर दादा के किये गये कतिपय प्रवचनो का सकलन। इसमे लेखक ने बापू के व्यक्तित्व की भूमिका से देश की वर्तमान आर्थिक, सामाजिक और नैतिक स्थिति का, विश्व-शान्ति का ज्वलन्त और मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। आत्म-निरीक्षण के लिए अनोखी पुस्तिका। पृष्ठ ४८, मूल्य ० ७५ ।